1012

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ८   अंक १

दिसम्बर, १९८६ / मार्गशीर्ष, २०४३

संपादक

र्लिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान के
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक प

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. शहा ※ नारायणशास्त्री द्रविड ※ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ※ जी. सी. ना ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन ※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क क
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्य
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भी
कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५–००
	एक प्रति	रु. ०६–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो पांच रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया
सकता है।

संपादकीय

परामर्श (हिन्दी) त्रैमासिक वैचारिक पत्रिका ने अपने अस्तित्व के सात वर्ष पूरे किये। अपने इस छोटे जीवन में पत्रिका समय पर प्रकाशित होती आ रही है तथा अपना स्तर बनाने और बनाये रखने का प्रयास भी उससे लगातार किया जाता आ रहा है। पत्रिका को लेखकों, व्यक्तियों तथा संस्थाओं से जो सहयोग मिलता आ रहा है उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। उन्हीं के सहयोग के वल पर पत्रिका चलाने के व्रत को निभाया जा सकता है। आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग से लाभान्वित होते रहेंगे।

अष्टम खण्ड का प्रथमांक सुविद्य पाठकों के हाथ में विनम्रता से रखते समय तीन-चार वातों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। एक, पत्रिका का स्तर बनाये रखने में तथा हो सके तो उसे और ऊँचा उठाने में मात्र परिचायक और वर्णनात्मक लेखों के स्थान पर मौलिक, चिन्तनशील लेखों का अपना अनन्यसाधारण महत्त्व होता है, और लेखों का स्तर लेखकों पर निर्भर करता है। इसलिए विद्वान् लेखकों से विनम्र अनुरोध है कि पत्रिका का स्तर बनाये रखने के हेतु वे अपने **चिन्तनशील** लेखों से पत्रिका को लाभान्वित करें। पत्रिका में प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रिया लिखते समय भी इस बात का उचित ध्यान रखा जाय कि प्रकाशित लेख में प्रस्तुत किये गये विचार प्रतिक्रिया का केन्द्रबिन्दु हों, लेख लिखनेवाला व्यक्ति नहीं।

दूसरे, नव्य-न्याय की हमारी देश में एक लम्बी विचार परम्परा रही है और उसका प्रभाव अन्यान्य दार्शनिक मतप्रणालियों पर भी पड़ा। तथापि नव्य-न्याय की पारिभाषिक शब्दावली से परिचित न होने के कारण नव्य-न्याय का तथा उससे प्रभावित अन्य दार्शनिक मतप्रणालियों का विचार समझने में कई अध्येताओं को वड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इच्छुक पाठकों को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना न करना पड़े इस उद्देश्य से इस अंक से

नव्यन्याय की पारिभाषिक शब्दावली तथा उसके द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक पदार्थ **जटिलता विरहित** और सुबोध रीति से प्रस्तुत करनेवाली एक लेख-माला आरम्भ की जा रही है। आशा है पाठक उसका स्वागत करेंगे।

तीसरे, जितने परिमाण में व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा पत्रिका का सदस्यत्व ग्रहण किया जाना चाहिये उतने परिमाण में दुर्भाग्यवशात् नहीं किया जा रहा है। **परामर्श (हिंदी)** जैसी दार्शनिक वैचारिक पत्रिका चलने में तथा चलती रहने में सुविद्य पाठकों, अध्यापकों, प्राचार्यों, निदेशकों तथा अनुसन्धानकर्ताओं से इस दृष्टि से भी सहयोग प्रार्थित है और उनसे विनम्र अनुरोध है कि उक्त प्रकार का यथोचित सहयोग प्रदान कर पत्रिका को उपकृत करें।

अन्ततः, बड़ी विवशता तथा मजबूरी के साथ अष्टम खण्ड से छात्रों व्यक्तियों तथा संस्थाओं के लिए सदस्यता शुल्क के दरों में परिवर्तन किया जा रहा है। कागज़, छपाई आदि की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई दरों को ध्यान में लेते हुए ऐसा करने के सिवा कोई अन्य उपाय ही न रह जाने के कारण बड़े कष्ट के साथ यह कदम हमें उठाना पड़ा है। आशा है इसके बावजूद भी उसी प्रकार का सहयोग छात्रों, व्यक्तियों तथा संस्थाओं से मिलता रहेगा जिस प्रकार के सहयोग से पत्रिका आज तक लाभान्वित होती आ रही है। सदस्यता-शुल्क के परिवर्तित दर कवर-पृष्ठ दो पर छपे हुए हैं।

अन्त में पत्रिका चलाने के प्रयास में व्यक्ति तथा संस्थाओं से विभिन्न प्रकार के सहयोग का पुनश्च एक बार विनम्रता से अनुरोध करते हैं।

कार्यकारी सम्पादक

तर्कीय सत्तात्मकता

तर्क या तर्कशास्त्र का विषय मानसिक अवधारणा, प्रतीक या सत्ता इनमें से क्या है इस पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सारूपता, मध्यम-पद-परिहार और आत्यन्तिक अविरोध नियमों में सत्ता का स्पष्ट निदश था। लोत्से, सिग्वार्ट, ब्रॅडले, ऊण्ट, क्विंटन, मिल आदि के अनुसार "तर्कशास्त्र एक मनोवैज्ञानिक शास्त्र है जिसमें मानसिक तथ्यों, विचारों या घटनाओं का अध्ययन होता है"[१]। इन दोनों के विपरीत मूर, रसेल, जोसिया रॉइस, माइनांग, हुसर्ल आदि के अनुसार तर्कशास्त्र के विषय वर्ग, क्रम, व्यवस्था, शाब्दिक आपादन आदि वस्त्वात्मक कोटियाँ हैं। इन्होंने आत्मनिष्ठ अवधारणावाद और ह्यूम के नामवाद के विपरीत प्लेटो के सामान्य पर बल दिया। गणित-प्रेमी बूल, पियर्स, श्रोडर, फ्रेग, व्हाइटहेड और रसेल ने भी तर्कशास्त्र को प्रतीकों का शास्त्र माना। आधुनिक तर्कशास्त्र में नामवाद के हिमायती मैक, फ्रिट्ज्, माउथनेर, हिल्बर्ट आदि वाक्यार्थ को तर्क का विषय मानते हैं।

इन सभी को सामान्यतः दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे मत हैं जिनके अनुसार तर्कशास्त्र केवल विचारों/तर्कवाक्यों/कथनों/नामों या प्रतीकों के आकारिक आपादन का अध्ययन करता है। उसमें अस्तित्व या सत्ता का व्यवहित या अव्यहित निर्देश नहीं होता और यदि होता है तो वह केवल अनायास या आगन्तुक है। दूसरे वर्ग में वे मत हैं जिनके अनुसार तर्क-भाषा सत्ता-निरपेक्ष नहीं हो सकती। विवाद का प्रधान विषय है तर्क और सत्ता का सम्बन्ध।

तर्कवाक्य अनुमान के घटक होते हैं और उनमें आकार और विषय दोनों का समन्वय होता है। आनुमानिक वैधता के निर्धारण-हेतु आकार को विषय से अलग किया जाता है। और सन्दर्भ-निरपेक्ष वैधता को तर्कशास्त्र का विषय माना जाता है। तर्कशास्त्र और गणित को पूर्णतः सन्दर्भ-निरपेक्ष करने के लिए रसेल, व्हाइटहेड और हिल्बर्ट ने कुछ मौलिक अवधारणाओं और नियमों की संरचना

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसम्बर, १९८६

की और कहा कि 'तर्कशास्त्र और गणित में केवल प्रतीकों के सम्बन्धों का विवेचन किया जाता है'[२]। इनका समर्थन करते हुए जी. एच् हार्डी ने कहा कि 'गणित में हम यह नहीं देखते कि इसके नियम सत्य हैं या असत्य। हम केवल उनका पालन करते हैं'।[३] इसके विरोध में ब्रॉवर और वायल ने कहा कि गणितीय नियमों की परिकल्पना और संरचना सत्तात्मक सन्दर्भ में होती है। इसी बात का संकेत काण्ट ने यह कह कर किया था कि गणितीय कथन संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक होते हैं।

पूर्ण आकारिक तर्कशास्त्र और गणित की प्रच्छन्न मान्यता है कि उनके नियम सम्पूर्ण भाषा पर लागू होते हैं और भाषा का पूर्णतः आकारीकरण हो सकता है, तथा भाषा का जो अंश सत्यता-फलन और परिमाणक की आकारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता वह अनावश्यक एवं सदोष होता है। किन्तु यह मान्यता गलत है। भाषा का पूर्ण आकारीकरण उसी तरह नहीं हो सकता जिस तरह ज्यामिति के नियमों के अनुसार बनाये गये मानचित्र में पृथ्वी के सभी पक्षों का यथार्थ चित्रण नहीं हो पाता। विट्गेन्स्टाइन, ऑस्टिन, राइल, स्ट्रॉसन और कार्नाप का मत भी यही है कि तर्कशास्त्र के नियम न तो संपूर्ण भाषा पर लागू होते हैं, और न ही तर्क-भाषा सम्पूर्णतः सन्दर्भ-निरपेक्ष होती है।

तार्किक आकार का विषय अस्तित्वात्मक भले ही न हो, उसमें सत्ता के सम्भाव्य पक्ष का निर्देश अवश्य होता है। तार्किक आकार और स्वैच्छिक प्रतीक वही काम तर्कशास्त्र में करते हैं जो बैंक ड्राफ्ट या धनादेश हमारे दैनन्दिन जीवन में करते हैं। जिस तरह कोई वकील अपने मुवक्किल के केस को कानूनी ढाँचे में रख कर परखता है उसी तरह स्वैच्छिक प्रतीकों के प्रयोग से हम तर्क-विषय को आकारिक ढाँचा दे कर उनकी वैधता का परीक्षण करते हैं। अतः यह कहना गलत है कि तार्किक आकार का सत्तात्मक निर्देश नहीं होता।

तर्कशास्त्र सत्ताशास्त्र की प्रागपेक्षा करता है क्योंकि यह उसके वैचारिक या आकारिक पक्ष का अध्ययन करता है। सत्ता के सभी पक्षों का आकारीकरण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें तर्केतर या तर्कातीत पक्ष भी होते हैं। सत्ताशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है।

तार्किक नियम

काण्ट, तार्किक अनुभववादी और भाषा-दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक तार्किक नियम हेतु-हेतुमद् आकार में होता है और ऐसे आकार में अस्तित्व का निर्देश

नहीं होता ।[४, ८] ‘यदि कोई वस्तु अ है तो वह ब है’ में न तो ‘अ’ के और न ही ‘ब’ के अस्तित्व का कथन होता है । लेकिन यहाँ हेतु ‘अ’ और हेतुमद् ‘ब’ का कथन नहीं होता । अतः उनमें सत्ता-निर्देश का प्रश्न नहीं उठता । सत्ता-निर्देश कथन में होता है और हर हेतु-हेतुमद् कथन एक कथन होता है । अतः उसमें सत्ता का निर्देश होगा ही । अतः हेतु और हेतुमद् भी प्रतिपादक और प्रतिपाद्य में सत्ता का निर्देश नहीं होता इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि हेतु-हेतुमद् तर्कवाक्यों में किसी सत्ता का निर्देश नहीं होता ।

अतः तार्किक नियम कथन होने के कारण सत्ता का निर्देश करते हैं और यदि ऐसा नहीं है तो वे कथन नहीं हो सकते । एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि तार्किक नियम में प्रयुक्त पद उसकी सत्यता के लिए अनावश्यक हैं । जैसे ‘यदि सभी मनुष्य मर्त्य हैं और राम मनुष्य है तो राम मर्त्य है’ एक सर्वथा सत्य वाक्य है । प्रयुक्त पदों ‘मनुष्य’, ‘राम’, और ‘मर्त्य’ की जगह दूसरे शब्द रखें तो भी यह सत्य होगा ।[५] किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है । जब इन पदों की जगह अन्य पद रखे जाते हैं तो वाक्यार्थ बदल जाता है और तर्क-वाक्य की सत्यता पर भी प्रभाव पड़ता है । ‘मनुष्य’ और ‘मर्त्य’ में कुछ संबंध होता है और तर्क-वाक्य उसी का निर्देश करता है ।

यही बात तार्किक नियमों में प्रयुक्त अचरों जैसे ‘सभी’, ‘कुछ’, ‘या’, ‘और’ आदि के विश्लेषण से सिद्ध होती है । इन अचरों को बदल देने से वाक्य का अर्थ बदल जाता है और उससे उसकी सत्यता भी प्रभावित होती है । ‘प और क’ ‘प या क’ से भिन्न हैं । शायद इनके आकार ही नहीं, विषय-निर्देश भी भिन्न हैं ।

आकारिक तर्कशास्त्र के हिमायती यह नहीं मानते कि पदों या अचरों के विषयार्थ तार्किक नियमों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं । उनके अनुसार तार्किक नियम पदों और अचरों के प्रयोग का निर्धारण करते हैं । तथापि यह दलील तर्क सम्मत नहीं है । वस्तुतः ‘सभी’, या ‘कुछ’ आदि अचर नियमों के पूर्व आते हैं और नियमों की संरचना में आवश्यक होते हैं । इन अचरों का अर्थ सहजज्ञान से जाना जाता है, न कि नियमों के ज्ञान से । उदाहरणार्थ, **प्रिन्सिपिया मॅथेमॅटिका** का नियम सभी तर्कवाक्य, जो सत्य तर्कवाक्यों के द्वारा आपादित होते हैं, सत्य होते हैं हम तभी समझ सकते हैं जब सभी का अर्थ हमें ज्ञात हो ।

तार्किक अवधारणावादी, अनुभववादी और नामवादी तर्कशास्त्री तार्किक नियमों को परम्परा के द्वारा निर्धारित मानते हैं । काण्ट के समर्थक और व्यव-

हारवादी[६] कहते हैं कि तार्किक नियमों की संरचना मनोविज्ञान के क्षेत्र में होती है। कार्नाप के अनुसार[७] उनकी संरचना ऐसे विश्व में होती है जहाँ न तो वे सत्य होते हैं और न असत्य। किन्तु इन सभी अर्थों में तार्किक नियम अपनी नियामक और सत्तात्मक गरिमा से च्युत होकर अर्थ-हीन हो जाते हैं। कथन होने के नाते ये नियम सत्यासत्य की कोटि में होते हैं। और उनके निर्धारण के लिए विचारों, पदों, नामों आदि के बाहर वस्तु-जगत् में जाना पड़ता है। नियम या पदों के अर्थ परम्परा के द्वारा निर्धारित नहीं होते, क्योंकि परम्परा विचार-सम्प्रेषण की अपेक्षी करती है और विचार-सम्प्रेषण दो व्यक्तियों के बीच उभयनिष्ठ 'विश्व' की धरा पर खड़ा होता है।

जैसा कि एरिक टॉम्स ने कहा है, 'यदि तर्कवाक्य या नियम सत्ता का निर्देश नहीं करते तो वे आभास या प्रतीति मात्र हैं और यह कहना कि हर पदार्थ वैसा ही है जैसा उसका कथन होता है परस्पर विरोधी बाते हैं। अर्थ-हीन तर्कवाक्य या नियम बकवास है। गणित और विज्ञान की तरह तर्कशास्त्र के नियम विशेष व्यक्तियों, वस्तुओं या परिस्थितियों का निर्देश न करके उनके सामान्य रूप पर लागू होते हैं। प्रतीकों, विचारों, नामों या अवधारणाओं के नियमानुरूप आयोजन में हम यह अपेक्षा करते हैं कि उनके द्वारा निर्दिष्ट सत्तात्मक तथ्य भी उसी तरह आयोजित होते हैं। पदार्थों की जगह नम्मों, शब्दों या प्रतीकों का प्रयोग वैचारिक स्पष्टता और सुविधा के लिए किया जाता है। प्रतीक और नियम ऐसे ट्रॅवलर्स चेक हैं जिन्हें कभी न कभी भुनाना ही पड़ता है। अतः तार्किक आकार और नियम आदि कम-से-कम सत्ता के संभाव्य पक्ष का निर्देश तो करते ही हैं।

अनुमान, आपादन और तार्किक नियम

आकारिक तर्कशास्त्री वैध अनुमान के आधारवाक्य और निष्कर्ष के बीच जो सम्बन्ध होता है उसे आपादन कहते हैं, और यह आपादन सम्बन्ध भी पूर्णतः आकारिक अवधारणा नहीं हो सकती, क्योंकि संयोजन आदि की भाँति यह भी अपने घटक कथनों के संभाव्य सत्यासत्य पर आधृत होता है। साथ ही वैध अनुमान की संरचना के लिए आपादन के अतिरिक्त अन्य तर्कवाक्यों की आवश्यकता होती है जिनके सत्यासत्य का ज्ञान, अनुभव, अनुसंधान या सहजज्ञान से होता है।[९] आपादन को सत्तात्मकता से हटा देने पर विरोधाभास पैदा हो जाते हैं जिनके परिहार के लिए ल्युइस[१०] और मूर[११] ने दृढ़ापादन और एण्टेलिंग की अनुक्रमशः अवधारणाएं दीं और उन्हें सत्ता से सम्बद्ध करने का प्रयास किया।

परन्तु आकारीकरण का लोभ-संवरण वे न कर सके और विरोधाभासों में उलझ गये।[12] ये विरोधाभास शायद आपादन को सत्ता से हटा देने के कारण पैदा होते हैं।[13]

विरोधाभास का एक उदाहरण यह है कि 'किसी भी असंभव आ असंगत तर्कवाक्य से किसी भी अन्य तर्कवाक्य का निगमन किया जा सकता है।' 'प . —प' से सरलीकरण, योग और वैकल्पिक न्याय द्वारा 'क' का निगमन होता है। ल्युइस के इस प्रमाण का समर्थन जोनाथन ब्रेनेट[14] यह कह कर करते हैं कि ये विरोधाभास वैध अनुमान के अपरिहार्य परिणाम हैं। इन्हें अस्वीकृत करने के लिए हमें इनमें प्रयुक्त सहजज्ञान, सरलीकरण, योग, संचारिता, वैकल्पिक न्याय आदि को अस्वीकृत करना होगा। तथापि यह तर्क सही नहीं है। (१) 'प . —प' में 'प' और '—प' दोनों सत्य माने गये हैं, अतः इनका निषेध नहीं हो सकता, जिसके आधार पर 'क' का निगमन किया जा सके। (२) 'कोई पुरुष किसी का पुत्र नहीं है' जैसे हर असंभव तर्कवाक्य को 'प . —प' के आकार में नहीं रखा जा सकता। (३) फिर क्या हम उपरोक्त से यह निगमन कर सकते हैं कि राजीव गांधी भारत के पन्तप्रधान हैं?' (४) 'प . —प' से सरलीकरण द्वारा 'प' का निगमन चक्रक दोष से प्रभावित है। (५) जिस सहजज्ञान का सहारा प्रमाण के लिए लिया गया है वह गलत है। सहजज्ञान तो यह कहता है कि कोई भी तर्कवाक्य एक-साथ सत्य और असत्य दोनों नहीं हो सकता।[15]

सत्तात्मकता से अलग हो जाने पर तर्कवाक्य निरर्थक हो जाते हैं और वैध अनुमान के आधार नहीं बन सकते। 'किसी भी तर्कवाक्य के परिणाम केवल ध्वनि या प्रतीकों से निगमित नहीं होते। इनका निगमन वाक्यार्थों से होता है।[16] और जैसा कि नेल्सन,[17] बेल्नाप[18] और स्ट्रॉसन[19] ने कहा है, अनुमान की वैधता के आधारस्तम्भ आभिप्रायिक सम्बन्ध का पूर्णतः आकारीकरण नहीं हो सकता।

वैध अनुमान नियमों के यंत्रवत् प्रयोग पर आधृत नहीं होता। उसके लिये हमें नियमों के बाहर जाना पड़ता है। उदाहरणार्थ, 'क' से 'ख' के निगमन के लिये 'यदि क, तो ख, और 'क' को, सत्य होना आवश्यक है। फिर 'यदि क और (यदि क, तो ख) तो ख' का सत्य होना आवश्यक है। इस तरह हम 'ख' का निगमन कर ही नहीं सकते। इसीलिये रसेल ने 'अतः' का प्रयोग किया और कहा कि नियम हेतु-हेतुमद् आकार में नहीं होने चाहिये[21] राइल ने भी सुझाव दिया कि नियम को आधारवाक्य से अलग रखना चाहिये।

किन्तु ये दोनों प्रस्ताव विरोधाभास को हटाने में सक्षम नहीं हैं। क्योंकि इनमें सत्तात्मकता की उपेक्षा की जाती है। 'क' से 'ख' का निगमन तभी हो सकता है जब (१) 'क' का सत्य होना ज्ञात हो और (२) 'क' 'ख' को आपादित करता हो, और ये दो बातें परस्पर स्वतंत्र हैं क्योंकि एक का सत्यासत्य दूसरे के सत्यासत्य को प्रभावित नहीं करता। अत: हेतु-हेतुमद् आकार खतम नहीं होता। वस्तुत: निष्कर्ष इसलिए सत्य होता है कि उसका कथन किया जाता है और उसके लिये नियम और आधारवाक्य आवश्यक हैं। उसका ज्ञान सहजानुभूति से होता है।

आकारिक तकनीक

तर्कणा-प्रक्रिया को सन्दर्भ-निरपेक्ष करा के समकालीन तर्कशास्त्र में उसे केवल यन्त्रवत् माना जाने लगा है। नियम, स्वयंसिद्ध सिद्धान्त और प्रमेय सिर्फ प्रतीकों के आयोजन माने जाते हैं। वैधता-नियमों के प्रयोग की यन्त्रवत् अवधारणा हो गयी है। ऐसी अवधारणा प्रिन्सिपिया में देखी जा सकती है। किन्तु यह दावा कि यदि स्वयंसिद्धियाँ सत्य होंगी तो उनसे निगमित निष्कर्ष भी सत्य होंगे, हमें आकारिक तकनीक और यन्त्रवत् तर्कणा के बाहर ले जाता है। इसके अतिरिक्त तर्क में प्रयुक्त सारूप्यता, मध्यम परिहार, आत्यन्तिक विरोध का निषेध और आपादन जैसे अनुमान के आधारस्तंभ यन्त्रवत् आकारिक तकनीय की पकड के बाहर हैं। नियमों के यन्त्रवत् प्रयोग से हम यह नहीं जान सकते कि वे नियम किस तरह सार्थक हैं, उनके अपवाद क्या हैं और वे क्यों हैं? तर्कशास्त्र का प्रमुख विषय नियमों का यन्त्रवत् प्रयोग ही नहीं, बल्कि वैध प्रयोग है। तार्किक नियमों की सार्थकता, उपादेयता और सही संरचना एवं वैध प्रयोग का ज्ञान तकनीक से नहीं, सहजानुभूति से होता है।

तर्क की सत्तात्मक तटस्थता

नियमों के यन्त्रवत् प्रयोग से तर्क में निश्चितता प्राप्त होती है जो सत्ता-संलग्न भाषा में नष्ट हो जाती है। अत: तर्कशास्त्र में ऐसी तर्कभाषा की संरचना का प्रयास हुआ है जो सत्तात्मक दृष्टि से तटस्थ हो। ऐमी संरचना में सत्ता का का निर्देश करने वाली सभी अभिव्यक्तियों का निरास किया गया है। सार्थक अभिव्यक्तियों की जगह सुनियोजित सूत्रों (wff), सत्य मानी गयी स्वयंसिद्धों की जगह स्वैच्छिक प्रतीकों और आनुमानिक नियमों की जगह रूपान्तरण नियमों को प्रयुक्त किया जाता है। ऐसी संरचना में न सत्ता और न ही आकार पर ध्यान

दिया जाता है। इस तर्कभाषा की शब्दावली में 'परिणाम है' 'आपादित करता है', 'आवश्यक है' आदि का प्रयोग होता है।

किन्तु इस तर्कभाषा में भी 'यदि–तो', 'और', 'अथवा' की अपेक्षा होती है और ये सभी सत्ता का निर्देश करते हैं। लेकिन चूँकि इस तर्कभाषा में भाषाविषयक पदार्थों का निर्देश किया जाता है इसे परा-भाषा कहा जाता है। लेकिन इस परा-भाषिक तर्कशास्त्र में सत्ता के भाषा पक्ष का व्यवहित और अन्य पक्षों का अव्यहित निर्देश होता है। इसीलिये जॉर्ज कॅण्टर ने कहा है कि तर्कशास्त्र में संपूर्ण सत्ता के निर्देश का निरास असम्भव है। उनके सेटों में सत्ता का निर्देश था। किन्तु जब रसेल ने ऐसे सेटों की संरचना की जो स्वतः के प्रत्यंग न हों तो सेट के तर्कशास्त्र में विरोधाभास आ गया। इनके परिहार के लिये झर्मेलो आदि ने सेटों का आकारीकरण प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इसमें सेटों की मौलिक अवधारणा नष्ट हो गयी। अब सेट के तर्कशास्त्री यह नहीं जानते कि सेट क्या हैं, और ये हैं भी कि नहीं।[२२]

तटस्थ तर्कभाषा में भी एकवचनात्मक नामों का प्रयोग होता है और एकवचनात्मक नाम सत्ता का निर्देश करते हैं। फ्रेग और रसेल के तर्कशास्त्र में ऐसे नामों का प्रयोग होता है। साथ में उसमें ऐसे परिमाणकों का प्रयोग भी हुआ है जिनमें बद्धचरों की स्थानापत्ति निर्देशात्मक नामों से होती है। इनमें सत्ता का निर्देश पाया जाता है। इसे सारूप्यता के साथ परिमाणन सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

१. $(\text{अ})\,\text{फअ} \equiv \text{फअ}_{\text{१}} \,.\, \text{फअ}_{\text{२}} \ldots\ldots \text{फअ}_{\text{न}}$

२. $(\exists\text{अ}) \equiv \text{फअ}\ \text{फअ}_{\text{१}} \vee \text{फअ}_{\text{२}} \ldots\ldots \text{फअ}_{\text{न}}$

यहाँ फअ आदि निर्देशयुक्त एकवचनात्मक नाम हैं जो सीमित विश्व के अस्तित्ववान् पदार्थ का निर्देश करते हैं। (अ) फअ का अर्थ है, 'प्रत्येक पदार्थ फ है' और (∃अ)फअ का अर्थ है 'कम-से-कम एक पदार्थ फ है'। इसी तरह असीमित विश्व की कल्पना करके १ और २ को ३ और ४ की तरह दिखाया जा सकता है –

३. $(\text{अ})\,\text{फअ} \supset \text{फअन}$

४. $\text{फअ}_{\text{न}} \supset (\exists\text{अ})\,\text{फअ}$

अतः स्पष्ट है कि परिमाणकों का सत्तात्मक अर्थ होता है, क्योंकि उनमें प्रयुक्त संयोजन, वियोजन में एकवचनात्मक नाम आते हैं। इसी तरह 'सुकरात एक दार्शनिक हैं' में 'सुकरात' के अस्तित्व के साथ ही दार्शनिक के अस्तित्व का भी निर्देश है। इस तर्कवाक्य का आकार है– (∃फ) फसु। इसमें 'फ' एक गुण या वर्ग का निर्देश करता है। इसकी प्रच्छन्न मान्यता है कि दार्शनिकों के वर्ग का सुकरात सदस्य है।

चूँकि एकवचनात्मक नामों का प्रयोग आवश्यक है, तटस्थ तर्कभाषा के हिमायती उनका प्रयोग इस तरह करना चाहते हैं जिससे उनमें सत्ता का निर्देश न हो। वे ऐसे वर्ग व गुण के नामों का प्रयोग करना चाहते हैं जो किसी भी वर्ग या गुण के अस्तित्व का निर्देश न करें। लाजेवस्की, लेस्निवस्की आदि तर्कशास्त्री ऐसी तर्कभाषा की संरचना का दावा करते हैं। वे दो अवधारणाएँ देते हैं[२३] (१) पदार्थ जिसका अस्तित्व न हो, और (२) वर्ग या गुण जिसका अस्तित्व न हो।

किन्तु इन अवधारणाओं में स्पष्ट विसंगतियाँ हैं। ऐसे वर्ग या पदार्थ की कल्पना करना असंभव है कि जिसमें किसी अस्तित्व का निर्देश न हो। इसके अतिरिक्त, सत्ता केवल पदार्थ और वर्ग या गुण नहीं है। उसके अनेक पक्ष होते हैं, जैसे सम्बन्ध आदि। पुनश्च, यह दावा गलत है कि तटस्थ होते हुए भी तर्कभाषा संपूर्ण सत्ता को दर्शा सकती है। जिसका प्रयोग तटस्थ भाषा में होता है ऐसा वर्ग और सारूप्यता के साथ परिमाणन का सिद्धान्त सत्ताशास्त्र की शर्तों को पूरा नहीं करता। सत्ता का हर पक्ष, जैसे अंश-अंशी का सम्बन्ध. देश-काल की विशेषताएँ, तटस्थ तर्कभाषा में दर्शाया नहीं जा सकता।

तर्कशास्त्र का प्रत्येक तर्कवाक्य, चाहे वह सामान्य हो या विशेष, विध्यात्मक हो या निषेधात्मक, सत्ता का निर्देश करता है। असत्य तर्कवाक्य में भी सत्तात्मक निर्देश होता है। भारत की रानी खल्वाट है में 'भारत की रानी' का अस्तित्व भले ही न हो, भारत देश और खल्वाट का अस्तित्व तो है ही। प्रत्येक निषेधात्मक या अभावात्मक, असत्य तर्कवाक्य किसी विध्यात्मक, भावात्मक या सत्य तर्कवाक्य के समानान्तर या उस पर आधृत होता है। यह कहना कि निषेधात्मक तर्कवाक्य निश्चित नहीं होते, गलत है। 'सितम्बर में ३१ दिन नहीं होते' उतना ही निश्चित है जितना 'अगस्त में ३१ दिन होते हैं' है। असत्य तर्कवाक्य असत्य तभी होंगे जब वे बाह्य जगत् का निर्देश करें।

अभी तक ऐसी कोई तर्कभाषा विकसित नहीं हुई है जो पूर्णतः सत्ता-निरपेक्ष हो, और शायद ऐसा सम्भव भी नहीं है । तर्कशास्त्र सत्ताशास्त्र की पूर्वपेक्षा करता है । सत्ता के अस्तित्वात्मक पक्ष का अध्ययन व्यावहारिक तर्कशास्त्र में सत्ता के संभाव्य पक्ष का अध्ययन होता है । आकारिक तर्कशास्त्र वैधता का शास्त्र है और वैचारिक स्पष्टता एवं आनुमानिक निश्चितता के लिये इसमें अस्तित्व की अव्यवहित चर्चा नहीं होनी चाहिये । इस उद्देश्य से तटस्थ भाषा की संरचना का प्रयास श्लाघ्य है, किन्तु इसे सत्तात्मकता से पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त, कोई भी तर्कभाषा संपूर्ण सत्ता का विवेचन नहीं हो सकती । सत्ता के विभिन्न पक्षों की पकड़ के लिये द्विकोटिक, लुकासिविच् की त्रिकोटिक, पेरी की चतुर्कोटिक और अधुनातन बहुकोटिक तर्कप्रणालियों एवं व्यावहारिक तर्कभाषा का विकास किया गया । किन्तु सत्ता के अनेक पक्ष होते हैं और उसके तर्कातीत पक्ष की पकड़ न हुई है और न शायद कभी हो सकती है ।

— गोरखनाथ मिश्र

दर्शनशास्त्र विभाग,
धेम्पे महाविद्यालय,
पणजी, गोवा ४०३००२

टिप्पणियाँ

१. कोहेन, एम्. आर; ए प्रिफेस टु लॉजिक, आर् के. पी. लन्दन १९४६, पृ. ३६
२. रसेल, बर्ट्राण्ड; **प्रिन्सिपिया मॅथेमॅटिका**
३. स्टेबिंग, सुसान; **ए मॉडर्न इण्ट्रोडक्शन टु लॉजिक**, पृ. ५०८
४. राइल, गिल्बर्ट; **माइण्ड**, १९३५
५. क्वाइन, विलार्ड ओ फॉन्; **मॅथेमॅटिकल लॉजिक**, १९४०.
६. ल्युइस, सी. आई; **रीडिंग्स् इन् फिलॉसफिकल ॲनालिसिस** फाइगेल ॲण्ड सेलार्स, (संपा.) न्यूयार्क, १९४९.
७. कार्नाप, रूडॉल्फ; **लॉजिकल सिण्टॅक्स ऑफ लॅंग्वेज**, लन्दन, १९३७, विभाग १७.
८. एरिक, टॉम्स; **बीइंग, निगेशन ॲण्ड लॉजिक**, बेसिल ब्लॅकवेल, ऑक्सफर्ड १९६२; पृ. ४४

९. मिश्र, गोरखनाथ; **दार्शनिक त्रैमासिक**, अंक. १–२, १९८३ पृ. १०–२४

१०. ल्युइस, सी. आई; **ए सर्वे ऑफ सिम्बॉलिक लॉजिक**, बर्कले, १९के८, पृ. ३२४

११. मूर, जी. ई; **फिलॉसफिकल स्टडीज**, आर. के पी, पृ २९२

१२. स्ट्रॉसन, पी. एफ्.; **इण्ट्रोडक्शन टु लॉजिकल थियरी**, मेथुएन, १९५२; पृ १९–२२

१३. रिट, फोन; **लॉजिकल स्टडीज**, आर के. पी.; पृ. १७०.

१४. बेनेट; **द फिलॉसफिक रिव्यू**, अप्रैल, १९६९. पृ. १९७–२३६.

१५. एम्स, एफ्; **जर्नल ऑफ सिम्बॉलिक लॉजिक**, १९३६ पृ. २७.

१६. कोहेन, एम्. आर, **जर्नल ऑफ फिलॉसफी**,XV, १९१८, पृ. ६७५.

१७. नेल्सन, ई. जे.; **माइण्ड**, ३९, १९३०.

१८. अॅण्डर्सन व बेलनाप; **जर्नल ऑफ सिम्बॉलिक लॉजिक**, १९६२.

१९. स्टॉसन्, पी. एफ.; **वहीं**, पृ. १९-२५

२०. टॉम्स, एरिक, **वहीं**, पृ. ४४.

२१. रसेल, बर्ट्राण्ड.; **प्रिन्सिपिया मॅथेमॅटिका**. पृ. ९४ और **इण्ट्रोडक्शन टु मॅथेमॅटिकल फिलॉसफी**, ब्लॅकवेल, १९१९ पृ. १५३-७.

२२. स्टीफन कोर्नर; **फिलॉसफी ऑफ लॉजिक**, १९७५, पृ. १३.

२३. **वहीं**, पृ. २२.

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ

नव्यन्याय– एक परिचय

नव्यन्याय के व्यापक प्रभाव के कारण भारतीय विद्या तथा दार्शनिक मत-प्रणालियों के अध्येताओं के लिए नव्यन्याय का व्यापक परिचय नितान्त आवश्यक है। परन्तु जो लोग परंपरागत अध्ययन से वंचित रहे हैं उनके लिये नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थों का परिचय पाना अत्यन्त दुरूह है। उन परिभाषिक पदार्थों की सरल तथा सुबोध भाषा में व्याख्या आवश्यक है। इस दृष्टि से कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, भीमाचार्य झळकीकर का **न्यायकोश**, इंगल्स का *Materials for the Study of Navya-nyaya Logic*, डॉ. दिनेशचन्द्र गुहा का *Navya-nyaya System of Indian Logic* तथा डॉ. मतिलाल, डॉ. गोपिकामोहन भट्टाचार्य आदि की कृतियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। तथापि इन ग्रन्थों के बावजूद अपेक्षित प्रगति नहीं हो पायी है। इसमें और प्रगति की आवश्यकता को महसूस करते हुए हमने यह प्रयास आरम्भ किया है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्राचीनन्याय, बौद्धन्याय, जैनन्याय तथा नव्यन्याय के रूप में बहुधा होता है। 'न्याय' शब्द का अर्थ है युक्ति या तर्क। 'न्याय' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति है "नीयते अनेन इति न्यायः- नीयते, परिच्छिद्यते (पदार्थाः) अनेन इति।" न्याय शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक इण् (गतौ) धातु से निष्पन्न होता है। अर्थात्, जिसके आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचा जाय वह न्याय है। महर्षि वात्स्यायन[1] ने न्याय की परिभाषा करते हुए कहा है 'प्रमाणों के आधार पर अर्थ की परीक्षा का नाम न्याय है'। परन्तु न्याय शब्द मुख्यतः गौतम के दर्शन के लिये रूढ हो गया है। महर्षि गौतम द्वारा प्रतिपादित पञ्चावयवों के लिये न्याय शब्द का प्रयोग कर वात्स्यायन ने उसे 'परमोन्याय'[2] संज्ञा प्रदान की और पञ्चावयव तथा उस प्रणालि से दार्शनिक

परामर्श (हिंदी), वर्ष ८, अंक १, दिसंबर, १९८६

प्रमेयों की स्थापना करनेवाले गौतमीय दर्शन को न्याय दर्शन के रूप में स्थापित किया।

गौतम के कई शताब्दियों के पश्चात् न्यायदर्शन दो शाखाओं में विभक्त हो गया– नव्य तथा प्राचीन। बौद्धों तथा जैनों के साथ लगभग हजार वर्ष के वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप गौतमीय नैयायिकों ने अपने विवेचन को प्रमाणमीमांसा पर केन्द्रित कर दिया, जिसके फलस्वरूप नव्यन्याय का जन्म हुआ। प्राचीन न्याय में पञ्चावयवों के विवेचन के साथ 'वाद' के सभी अंगों के विवेचन के अतिरिक्त पदार्थमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, तथा ज्ञानमीमांसा भी प्रस्तुत की गयी है, जबकि नव्यन्याय प्राचीन नैयायिकों द्वारा विवेचित कथा (वाद, जल्प, वितण्डा) के सिद्धांतों की उपेक्षा न करते हुए प्रमाणमीमांसा पर मुख्यतः अपना अवधान केन्द्रित करता है। प्रमाणमीमांसा जिस प्रकार से पारिभाषिक शब्दावली में नव्यन्याय में विवेचित है वैसी किसी भी शायद अन्य न्याय में उपलब्ध नहीं होती।

नव्यन्याय ने पदार्थों के विशेष रूपों का अन्वेषण कर उनकी सर्वशुद्ध परिभाषा करने पर विशेष जोर दिया, ताकि उनके विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति या सन्दिग्धता का अवसर ही न रहे। नव्यनैयायिक मोक्ष या अन्य पुरुषार्थ के प्रति आग्रह को छोड़ कर 'वस्तु' के यथार्थ बोध के प्रति अधिक संवेदनशील हैं।

नव्यन्याय की प्रवृत्ति प्रत्येक पदार्थ को विशेष शब्दों में सन्दिग्धता को अवसर न देते हुए व्यक्त करने की रही है। नव्यन्याय प्रसंगवशात् वस्तु की लम्बी परिभाषा दे कर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निःसन्दिग्धता के साथ प्रस्तुत करने में प्राचीन न्याय की अपेक्षा अधिक सक्षम है।

उदाहरणार्थ, हम गौतम, गंगेश, रघुनाथ तथा गदाधर द्वारा दिये गये 'प्रतिज्ञा' के लक्षणों को ले सकते हैं। गौतमसूत्र है 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'[३] इस सूत्र में 'प्रतिज्ञा' की उपर्युक्त परिभाषा प्रतिज्ञा के उस स्वरूप को प्रस्तुत नहीं करती जो वाद-विवाद के अवसर पर वादी के तात्पर्य को सन्देह-रहितता के साथ अभिव्यक्ति देती है। गौतम के समान वात्स्यायन और उनके टीकाकारों ने भी इस दृष्टि से पर्याप्त प्रयास किया हुआ दिखायी नहीं देता।

नव्यन्याय के प्रतिष्ठापक गंगेश ने प्रतिज्ञा के स्वरूप के बारे में लम्बी चर्चा प्रस्तुत की है जिसका भाव है कि गौतम का उपर्युक्त प्रतिज्ञा का लक्षण अपूर्ण है, क्योंकि साध्यनिर्देश का अर्थ है 'साध्यकथनमात्र' जो अपने मौलिक स्वरूप में 'वाद' में किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं है।

गंगेश ने प्रतिज्ञा का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है– " उद्देश्यानुमितिहेतु लिङ्गपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सति उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयक शाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम् "४।

तथापि इसमें होनेवाली त्रुटियों का परिमार्जन करने के हेतु रघुनाथ शिरोमणि ने उसमें सुधार कर जो प्रतिज्ञा-लक्षण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है– " प्रकृतन्यायावयवत्वे सति प्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यक, प्रकृतानुमितिसाध्यप्रकारक, प्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यतानिरूपित, प्रकृतसाध्यप्रकारताविलक्षणविषयताशून्य शाब्दज्ञानजनकत्वम् "५।

इसके पश्चात् गदाधर ने इसमें भी त्रुटी पाने पर अत्यधिक गम्भीरता से विचार कर कई नये तथ्यों का समावेश करते हुए प्रतिज्ञा का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया – पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित, साध्यतावच्छेदकसंम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताकानुमितिप्रयोजक न्यायावयवत्वे सति, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताकानुमितिप्रयोजक न्यायावयवत्वे सति, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यतानिरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न, साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताक पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताक, पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यतानिरूपित, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यवावच्छेदकावच्छिन्न प्रकारताशालिनिश्चयत्वावच्छिन्ननिवर्त्य संशयनिवर्तकावच्छेदक विषयताशून्य शाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम् " । ६

यह उदाहरण पाठकों को घबड़ाने के लिए नहीं दिया है। उपर्युक्त रोमान्चित करनेवाली पारिभाषिक पदावली में शब्दार्थ-विवेचन की जो सूक्ष्मता है उसकी झलक दिखाने के लिए उसे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार की सूक्ष्मता नव्यन्याय की प्रमुख विशेषता है। विषय की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वही उसका वैलक्षण्य है। इसीलिये नव्यन्याय की भाषा को वादभाषा के रूप में समादर प्राप्त हुआ। यद्यपि अन्यान्य सभी शास्त्रों में पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता है तथापि नव्यन्याय की यह शब्दावली प्रचलित शब्दावली से पूर्णतया भिन्न है। इसमें मुख्यरूप से प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, विषयता, विषयिता, प्रकारता, प्रकारिता, विशेष्यता, विशेष्यिता, संसर्गता, संसर्गिता, कोटिता, निरूपकता, निरूप्यता आदि इस शास्त्र में वारंवार प्रयुक्त विलक्षण पारिभाषिक शब्द हैं और वे इस शास्त्र को अन्य सभी शास्त्रों से भिन्न शास्त्र के रूप में

स्थापित करते हैं। परन्तु केवल इन प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के द्वारा पदार्थ-कथन होने से यह विलक्षण शास्त्र नहीं है। क्योंकि पातञ्जलयोगदर्शन के समाधिपाद में ईश्वर का लक्षण करते हुए कहा गया है– "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छेदात्।"७ यहाँ तथा इसके भाष्य में भी 'अनवच्छेदक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। तथापि इसकी दृष्टि की सूक्ष्मता भी इसको अन्यों से भिन्न रूप में स्थापित करती है।

उदाहरण के लिए 'द्वि' और 'द्वित्व' शब्द को ही लें। 'द्वि' शब्द का प्रयोग कभी भी एक व्यक्ति के लिये नहीं होगा, परन्तु 'द्वित्ववान्' शब्द का इस प्रकार का प्रयोग होता है, जबकि द्वि और द्वित्ववान् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है। यह (एक वस्तु) दो हैं (अयं द्वौ) हम नहीं कह सकते, परन्तु यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है (अयं द्वित्ववान्) कह सकते हैं। इसका अर्थ है कि सामान्यरूप से द्वि और द्वित्ववान् एकार्थक प्रतीत होने पर भी एकार्थक नहीं हैं।

लेकिन ऐसा क्यों? इसका रहस्य नव्यन्याय के आधार पर ही समझा या समझाया जा सकता है। जब हम दो (द्वि) शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह जिस 'द्वित्ववान्' अर्थ को प्रदर्शित करता है वह द्वित्व पर्याप्ति रूप है। द्वित्व पर्याप्ति रूप सम्बन्ध से एक-साथ दो व्यक्तियों में ही रहता है, एक व्यक्ति में नहीं। यही कारण है कि यह (एक वस्तु) दो हैं या अयं द्वौ इस वाक्य का सार्थ प्रयोग नहीं होता है। परन्तु जब हम 'यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है' या 'अयं द्वित्ववान्' कहते हैं तो यहाँ द्वित्व गुण का आश्रय बोधित होता है, जिसका अर्थ है कि यह (एक वस्तु) दो वस्तुओं के समुदाय का अंग है और इसलिए उसे दो की पर्याप्ति की आवश्यकता नहीं। उन दो वस्तुओं में से एक वस्तु भी द्वित्व का आश्रय होने से 'यह (एक वस्तु) द्वित्ववान् है' या 'अयं द्वित्ववान्' इस प्रयोग में कोई बाधा नहीं है। जब हम कहते हैं 'यह (एक वस्तु) दो नहीं हैं' या 'अयं न द्वौ' तब उसका अर्थ होता है कि एक व्यक्ति में द्वित्व पर्याप्ति रूप से नहीं है, परन्तु 'अयं द्वित्ववान्' का अर्थ है कि एक व्यक्ति में भी द्वित्व संख्या समवाय सम्बन्ध से रहती है।

नव्यन्याय की इस पारिभाषिक तकनीकी ने उसके अध्येताओं के लिए अनुत्साह का सृजन किया है। नव्यन्याय के पारम्परिक अध्ययन में अध्यापक उन-उन ग्रन्थों के अध्ययन के काल में ही उन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करते हुए उनके अभ्यास द्वारा उनका यथावत् परिचय कराते हैं। परन्तु जो परम्परा से अध्ययन के बिना नव्यन्याय का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से करना चाहते हैं उनके लिये उनका

परिचय पाना अत्यन्त कष्टकर प्रतीत होता है। और जबतक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ ही समझ में नहीं आते तबतक उनके उपयोग से अर्थच्छटा की सूक्ष्मता भी कैसे उत्पन्न होती है इसका भी पता नहीं लगता। परिणामतः दूरी से ही लोग नव्यन्याय से घबड़ाते हैं।

गौतम के सूत्र, वात्स्यायन का **भाष्य**, उद्योतकर का **वार्तिक**, वाचस्पति की **तात्पर्यटीका** और उदयन की **परिशुद्धि** आदि ग्रन्थ प्राचीन न्याय के माने जाते हैं, और गंगेश की कृति **तत्त्वचिन्तामणि** से प्रारम्भ होनेवाला न्याय नव्यन्याय कहलाता है। प्राचीन तथा नव्यन्याय के भेद के विषय में कुछ विचारकों की मान्यता है कि आत्मादि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्रक्रिया के प्रतिपादक गौतम आदि ने निरात्मवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि को स्वीकार करने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि का खण्डन करने के लिए आत्मा की अनुमान के द्वारा सिद्धि प्रदर्शित की। तदर्थ परार्थानुमान-स्वरूप न्याय के पूर्वांगों तथा उत्तरांगों का वर्णन करने वाले **सूत्र**, **भाष्य**, **वार्तिक**, **तात्पर्यटीका** तथा **परिशुद्धि** आदि ग्रन्थ प्राचीन हैं तथा प्रमाणमात्र का प्रतिपादन करने वाले गंगेशादि के ग्रन्थ नव्य हैं। परन्तु प्रमाण मात्र के विवेचन से नव्यन्याय नव्यन्याय नहीं है। प्रमाणों का विवेचन प्रायः सभी दर्शन करते हैं। परन्तु इसकी पारिभाषिक तकनीकी ही इसको नव्यन्याय के रूप में प्रतिष्ठापित करती है।

वैसे देखा जाय तो 'नव्यन्याय' शब्द ही अपने आप में एक पारिभाषिक शब्द है। अलौकिक प्रतिभाशाली गंगेश ने **न्यायभाष्य** और उसकी व्याख्याओं तथा उपव्याख्याओं का मन्थन करके दिङ्नागादि के ग्रन्थों का आलोचन करके उनके सार के रूप में जिस **तत्त्वचिन्तामणि** नामक ग्रन्थ का सृजन किया उससे प्रारम्भ होनेवाला शास्त्र नव्यन्याय के रूप में विख्यात हुआ।

नव्यन्याय की भाषा ही भिन्न नहीं है। उसके सिद्धान्त भी कई स्थलों में प्राचीन न्याय के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। यद्यपि नव्यन्याय मूलरूप से प्राचीन न्याय पर आधारित है, तथापि दृष्टिकोण की भिन्नता से उन दोनों के सिद्धान्तों में जगह-जगह पर पार्थक्य आया है। जहाँतक पदार्थ-विवेचन का प्रश्न है वहाँ नव्यनैयायिकों ने प्राचीन न्याय को मान्य वैशेषिक पदार्थों को विशेष रूप से आत्मसात् कर अपने शास्त्र की नींव रखी है।

नव्यन्याय के सृजन के पश्चात् इसका प्रभाव विभिन्न शास्त्रों पर बड़े व्यापक रूप से पड़ा है। इस शास्त्र के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारतीय विद्या के लगभग हर क्षेत्र को इसने प्रभावित यिया है। नव्यन्याय की संकल्पनाओं और पारिभाषिक शब्दावली का ठीक परिचय होने के बिना धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र,

व्याकरण, आयुर्वेद, तन्त्रशास्त्र तथा अन्य दर्शनों के कई मान्य ग्रन्थों का अध्ययन सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए मधुसूदन सरस्वती की **अद्वैतसिद्धि**, गंगाभट्ट का **भाट्ट चिन्तामणि, चित्सुखी** (चित्सुखाचार्य कृत **न्यायमकरन्द** की व्याख्या), **दायभागप्रबोधिनी** (श्रीकृष्ण तर्कालंकार की **दायभाग** की व्याख्या), महेश्वर न्यायालंकार की **काव्यप्रकाशव्याख्या**, नागेश भट्ट कृत **परिभाषेन्दुशेखर** तथा **मञ्जूषा**, गंगाधर कविराज की चरकसंहिता की व्याख्या **जल्पकल्पतरु** आदि ग्रन्थों को ले सकते हैं। इन ग्रन्थों का तथा इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों के अध्ययन के लिये नव्यन्याय की पूर्वपीठिका, उसके द्वारा प्रसृत विभिन्न संकल्पनाएँ तथा पारिभाषिक शब्दावली की जानकारी नितान्त आवश्यक है।

नव्यन्याय में पद-पद पर आनेवाले तथा नव्यन्याय की विलक्षणता को परिपुष्ट करनेवाले उपर्युक्त उधृत और तत्सम पारिभाषिक शब्द ही केवल आचार्य गंगेश की न्याय को देन नहीं है। गंगेश पूर्व भी **कुसुमाञ्जलि** आदि कई ग्रन्थों के रचयिता उदयन ने भी इनका प्रयोग किया है। **न्यायकुसुमाञ्जलि** में उदयनाचार्य ने प्रतियोगिता के स्वरूप को भी परिभाषित किया है।[८] इसलिए गंगेश इन्हें सर्वप्रथम प्रस्तुत करनेवाले नहीं हैं। परन्तु गंगेश का **तत्त्वचिन्तामणि** तथा उसकी टीकाओं और उपटीकाओं में बहुतता से उनका प्रयोग और विवेचन होने से उन्हें नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्द माना जाता है। **तत्त्वचिन्तामणि** की रचना के बाद ही विभिन्न शास्त्रों ने भी इसका प्रयोग शुरू किया। गंगेश ने प्रथम इनको एक विलक्षणता के साथ अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत कर अपने शास्त्र की विलक्षण शास्त्र के रूप में स्थापना की। इसीलिए गंगेश को नव्यन्याय का संस्थापक माना जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस शास्त्र का बीजवपन उदयनाचार्य ने ही किया था। अतः उदयन ही इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। परन्तु इससे आचार्य गंगेश का महत्त्व कम नहीं होता, भले ही आचार्य उदयन नव्यन्याय के प्रवर्तक हों। कारण बीजवपन के पश्चात् उसे पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय आचार्य गंगेश को ही है।

वैशेषिकों के सप्तपदार्थों का प्रचलन भी न्याय के क्षेत्र में उदयन से ही प्रारम्भ हो गया था। आत्मतत्त्व के मनन को मोक्ष के कारण के रूप में स्वीकार किये जाने पर आत्मा के आत्मेतर पदार्थों के भेद के अनुमान के लिये आत्मेतर समस्त पदार्थों का ज्ञान आवश्यक होने से नव्यनैयायिकों ने समस्त विश्व को सात पदार्थों में समेटनेवाले वैशेषिकों के सप्तपदार्थों के आधार पर आत्मा को इतर-भिन्न सिद्ध करना सुकर समझा है। प्राचीन न्याय के सोलह पदार्थों में समस्त विश्व समाविष्ट नहीं है। यद्यपि उसके द्वारा स्वीकृत प्रमेय पदार्थ में विश्व का

समस्त प्रपञ्च समाविष्ट होता है तथापि सूत्रस्थ प्रमेय पद पारिभाषिक है और इसमें योगार्थ का ग्रहण नहीं होता है । सूत्रस्थ प्रमेय पद आत्मादि द्वादश पदार्थों का वाचक है आत्मा तथा आत्मेतर सकल पदार्थ वैशेषिकों के ही सात पदार्थों में समाविष्ट होते हैं, जैसी कि वैशेषिकों की प्रतिज्ञा है । जबकि न्यायसूत्रकार के पदार्थों में जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ समाविष्ट नहीं हैं । इसीलिये भाष्यकार वात्स्यायन ने स्वयं कहा है कि वैशेषिकों के सप्तपदार्थान्तर्गत असंख्य प्रमेय हैं ।[९] अतः आत्मा का इतर-भिन्न के रूप में आनुमानिक प्रत्यय इतर-भेद के प्रतियोगी इतर पदार्थ के ज्ञान के विना सम्भव न होने से नव्यनैयायिकों ने सम्पूर्ण विश्व को समाविष्ट कर लेनेवाली वैशेषिकों की पदार्थमीमांसा को प्राथमिकता प्रदान की ।

गंगेश से प्रारम्भ होनेवाला नव्यन्याय का सम्प्रदाय तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्याओं और उपव्याख्याओं के साथ आगे बढ़कर नदी प्रावृट्कालीन प्रवाह के समान वेगवान् होकर मध्यकालीन बौद्धादि विचारधाराओं को छिन्न-भिन्न कर के सम्पूर्ण भारतीय विद्या के क्षेत्र में प्रवाहशील बना ।

गंगेश के बाद नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, तार्किक शिरोमणि रघुनाथ, भवानन्द सिद्धान्तवागीश, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने न्यायगंगा को अपनी अपनी कृतियों से प्रवहणशीलता प्रदान की । इनके अतिरिक्त मिथिला के पक्षधर मिश्र, वर्धमान उपाध्याय, यज्ञपति उपाध्याय, रुचिदत्त, भगीरथ ठाकुर, महेश ठाकुर आदि ने नव्यन्याय के ग्रन्थों की रचना कर के इस सम्प्रदाय को गौरवान्वित किया ।

नव्यन्याय की मतप्रणाली तथा उसके द्वारा प्रणीत पारिभाषिक पदार्थों के सम्वन्ध में उपयुक्त पृष्ठभूमि के रूप में उपर्युक्त संक्षिप्त प्रास्ताविक के पश्चात् नव्यन्याय के द्वारा अपनायी गयी परिभाषा के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण किस तरह का रहा यह समझना लाभप्रद होगा । इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं और उनका विवेचन किये बिना नव्यन्याय-प्रणीत पारिभाषिक पदार्थों की चर्चा करना तथा उसका दार्शनिक और वैचारिक महत्त्व समझ लेना लाभप्रद नहीं हो सकता । इसलिये नव्यनैयायिकों के द्वारा अपनायी गयी परिभाषा के पीछे उनकी जो दृष्टि कार्यरत रही उसकी चर्चा से अगला लेख आरम्भ करेंगे ।

— बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे–४११००७

टिप्पणियाँ

१, प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । न्यायसूत्र, **वात्स्यायनभाष्य** १–१–१

२. तत्रैव

३. **न्यायसूत्र** १।१।३३

४. **तत्त्वचिन्तामणि**, अवयवप्रकरणे

५. **तत्त्वचिन्तामणि दीधिति**, प्रतिज्ञालक्षणे

६. **तत्त्वचिन्तामणिदीधितिगादाधरी**, प्रतिज्ञालक्षणे

७. **पातन्जलयोगसूत्र**, १–२६

८. अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता । **न्यायकुसुमांजलि**, ३–२

९. अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसङ्ख्येयम् । **न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्य**, १–१–१०

'मूकज्जी' का मूकज्जी-दर्शन

" मूकज्जी " डॉ. शिवराम कारंत (सुप्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार) का मूल उपन्यास " मूकज्जिय कनसुगलु " का हिन्दी रूपान्तर है। सन् १९७८ में प्रस्तुत उपन्यास पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया था। मूकज्जी (आजी माँ) इस उपन्यास का मुख्य चरित्र है। बाल-विधवा अस्सी वर्षीया वृद्धा मूकज्जी व्यक्ति नहीं, सर्वांग दर्शन/पूर्ण चिन्तन प्रणाली है। उसकी सोच, उसकी चिन्तनधारा 'चौंकानेवाली' है। पारंपरिक सोच के विरुद्ध जीवन के प्रति एक नयी दृष्टि पैदा करती है। धार्मिक अंधविश्वास और आध्यात्मिक रूढ़ियाँ 'मूकज्जी दर्शन' में कहीं स्थान नहीं पातीं। मूकज्जी-दर्शन पाखंड/त्रास/अन्याय/नारी-शोषण के विरुद्ध झंडा खड़ा करता है, 'सेक्स और कामभोग' को उचित स्थान दिलाता है। जीवन जीने के लिए है, और जिसने जीवन को जीना नहीं जाना, समग्रता से जीना नहीं जाना, उसका तत्त्वचिन्तन, उसकी तपस्या और उसका संन्यास स्वस्थ नहीं है। यही है मूकज्जी का दर्शन, और इसलिए उसका पोता सुब्बाराव की समझ में नहीं आता कि

" आजी माँ, चार्वाक-जैसी बातें क्यों करती हैं ?"

◦ ◦ ◦

चार्वाक ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, आत्मा, यज्ञादि कर्म आदि सत्ताओं का खंडन करता है। वह अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानता है, धर्म और मोक्ष को नहीं। मूकज्जी भी चार्वाक की भाँति सभी अलौकिक एवं आध्यात्मिक सत्ताओं का खंडन करती हैं, काम को ही एकमात्र जीवन-लक्ष्य मानती है। सृष्टि काम के बिना असंभव है। सृष्टि के अभाव में आध्यात्मिक चिन्तन भी संभव नहीं। इसलिए काम मूल है, श्रेष्ठ है। " स्त्री-पुरुष, काम, यह सब हेय हैं, तुच्छ हैं तो जिसने इनका सृजन किया वह तो जानता ही होगा कि इनका प्रयोजन क्या है, यह सब किसलिए हैं। यह यदि उतना तुच्छ होता तो उसने हममें ही क्या, फूलों में भी उस स्त्री और पुरुष अंश की सृष्टि न की होती। "(पृ. २२३)

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसंबर १९८६

अर्थात् काम सर्वत्र व्याप्त है, उससे भागना असंभव है। संन्यासी और संन्यासिनी हो जाने के बाद भी काम से वंचित रहना दुष्कर है। बौद्ध-विहारों का व्यभिचार इसका ज्वलंत उदाहरण है। शायद इसे ही इंगित कर आजीमाँ कहती हैं "स्त्री-पुरुष दोनों संन्यासी बन साथ-साथ जब एक ही स्थान पर रहे आये, तो इसका परिणाम क्या कुछ नहीं हुआ ?" (पृ. २१६).

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का दमन समाज में अनैतिकता को जन्म देता है। अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार का प्रसार होता है। अनन्तराव ब्याह नहीं करना चाहता, वह स्त्री को बंधन मानता है, असहनीय समझता है। किन्तु समलैंगिक यौनाचार यौनानाचार की आदि है। किसी भी समाज में 'समलैंगिक यौनाचार' मान्य नहीं हो सकता, वह एक अपराध है, कुत्सित कर्म है। अविवाहित रहना और पुरुष के प्रति काम-भाव रखना क्या चारित्रिक पतन नहीं ? आजीमाँ अनन्तराव को इस पतन से बचाना चाहती है, और उसे बार-बार ब्याह कर लेने की सलाह देती है। यदि वह ब्याह नहीं करता, तो न करे, पर समलैंगिक यौन-व्यापार से तो दूर रहे। "तुम्हारी दृष्टि में स्त्री एक असहनीय वस्तु है। तुम उसे नहीं चाहते तो ठीक है, उससे दूर रहो। लेकिन जिसका काम-भाव स्त्री के प्रति न होकर पुरुष के प्रति हो उसे ऐसी बातें करने की क्या जरूरत ?" (पृ. २२३)

मूकज्जी की अंतर्दृष्टि इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि अनन्नराव से कुछ समय बात करने के पश्चात् ही उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र का एक्स रे कर लेती है। आजीमाँ की उदार दृष्टि समाज को विघटित होने से बचाना चाहती है, तो दूसरी ओर किसी व्यक्ति पर अपना विचार नहीं थोंपती। व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता अनिवार्य है, पर वह निजी स्वतंत्रता का तात्पर्य उच्छृंखलता नहीं है। सामाजिक और प्राकृतिक नियमों के अधीन जिस स्वतंत्रता को अपनाया जाता है, वही वास्तविक स्वतंत्रता है। केवल जन्म लेना नहीं, जन्म देना भी सामाजिक प्राकृतिक दायित्व है। जन्म देना ही तो संसार रचना है। "संसार को चलाने, आगे बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने स्त्री-पुरुष की रचना की है।" (पृ. ११०) "जन्म लेना असहनीय नहीं लगता, जीवन जीना असहनीय नहीं होता और मरना भी दुःसह नहीं, तो जन्म देने की क्रिया को ही क्यों असहनीय समझा जाये ?" (पृ. ७९)

० ० ०

जन्म देने की क्रिया लिंग और योनि के पारस्परिक मिलन से संभव है।

इसलिए सृष्टि के मूल में लिंगयोनि है। लिंगयोनि ही भगवान् है। "मैं जब भी किसी शिवालय में जाती हूँ और वहाँ लिंग और पाणिपीठ (योनि) देखती हूँ तो मुझे सदा ऐसा ही लगता है कि लोग भगवान् के रूप में लिंगयोनि की पूजा करते हैं।" (पृ. ७८) लिंगयोनि एक, अखंडित पूर्ण, सर्वव्यापक और सृजनशक्ति है। भगवान् तो सम्पूर्ण है, अखंड है। .. (पृ. १६७) इस सृष्टि को देखकर यह भावना मन में जरूर आती है कि इस सब के पीछे कोई शक्ति है जरूर। (पृ. २२१)

भगवान् शक्ति है, और उस शक्ति को हम माँ कहकर पुकारते हैं। "बच्चों का माँ से बढ़कर और कोई नहीं होता। पिता न रहे तो चल जाये शायद, माँ के बिना नहीं चलता। बुढ़ापे में भी किसी को चोट-फेंट लगती है तो माँ की ही याद आती है। इसी तरह भगवान् को भी माँ समझ लें हम तो उसमें अचरज की कौन बात ?" (पृ. १०१) इसका तात्पर्य यह नहीं कि भगवान् स्त्री है। भगवान् न स्त्री है न पुरुष। वह न कुछ बने, न बनते हैं। ये सब हमारी कल्पनाएं हैं कि भगवान् को स्त्री बना दे या पुरुष। एक समय था जब भगवान् के मात्र चार रूप थे। इन्द्र, वरुण, अग्नि और मित्र। फिर उन रूपों में वृद्धि हुई और अनेक देवताओं तथा देवियों ने जन्म लिया। आज भी देवी-देवताओं के जन्म लेने की प्रक्रिया नहीं रुकी है। कभी सतोषी माँ जन्मती है, तो कभी वैष्णोदेवी। अनेक देवी-देवताओं के उत्पन्न होने पर ही समस्या पैदा हुई कि भगवान् स्त्री है या पुरुष, और इस समस्या का समाधान नहीं मिलने पर हमने स्वीकार कर लिया कि भगवान् एक है, मात्र एक– वह न स्त्री है न पुरुष। उस एक को भी किसी ने 'ब्रह्म' कहा, तो किसी ने 'ईश्वर'। परन्तु आजीमाँ की दृष्टि में वह एक मात्र 'लिंगयोनि' है, क्योंकि 'लिंग और योनि के मिलने से ही तो सृष्टि होती है।"

० ० ०

आजीमाँ अवतार को नहीं मानती। भगवान् है अवश्य, पर उसका अवतार नहीं है। अखंड भगवान् के एक अंश का जन्म लेना या अवतार धारण करना मात्र एक कहानी है, कल्पित कथा है। और यदि भगवानावतार है, तो राम, कृष्ण, विष्णु, बुद्ध आदि ही भगवान् के अवतार नहीं हैं, हम सब प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव-जन्तु, कीट-पतंग भगवान् के अवतार हैं। "मुझे तो इन अवतारों में विश्वास ही नहीं है। देखा जाये तो क्या हम अवतार नहीं हैं ? मैं अवतार नहीं या तुम नहीं ? नर, नारायण ही नहीं, तमाम कीड़े-मकोड़े तक सब उसीकी सृष्टि हैं। धरती पर कुछ नहीं है जिसमें उसका अंश न हो। (पृ. २२१)

लिंगयोनि (भगवान्) ही समस्त पदार्थ की उत्पत्ति का मूल है। इसलिए समस्त पदार्थ भगवान् के अवतार हैं, अर्थात् 'अवतार' नाम की कोई प्रक्रिया नहीं है। निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही हमने "एक भगवान् को अपने अनेक रूप देकर अनेक बना दिया है" (पृ. १००) और स्वार्थवश ही कृष्ण और राम जो 'कल-परसों के बच्चे' हैं के मुँह से अवतार की बात कहलवायी। कहानी गढ़ ली गयी कि इन्होंने राक्षसों का दमन किया, दैत्यों का विनाश किया। "दुष्टों का नाश और शिष्टों का परित्राण यही तो हम चाहते हैं। इसीलिए, हमारे इसी समाधान के लिए, हमने सैकड़ों देवी-देवताओं को जन्म दिलवाया। हजारों दुष्टों का संहरण करवाया।" (पृ. १६७).

० ० ०

भगवानावतार नहीं है, इसलिए तीर्थस्थलों का कोई महत्त्व नहीं है। संसार के हर कोने में 'कामभाव से युक्त भगवान्' ही विराजमान है। अतएव काशी-मथुरा-अयोध्या/रामेश्वरम्-तिरुपति की यात्रा व्यर्थ है, क्लेशपूर्ण है। "जो भगवान् वहाँ है, वही तो यहाँ भी है।" (पृ. १५) न केवल तीर्थयात्रा व्यर्थ है, वरन् भगवान् की प्रदक्षिणा भी असंभव है। यदि कोई दावा करता है कि वह भगवान् की प्रदक्षिणा करता है, तो यह उसका अहंकार है। व्यापक भगवान् इतना छोटा नहीं है कि उसके चारों ओर ससीम मानव परिक्रमा कर सके। समस्त ब्रह्माण्ड ही काम (भगवान्) व्याप्त है, उसकी परिक्रमा कैसी और कैसे? यदि आजीमाँ पीपल पेड़ की प्रदक्षिणा करती है, तो वह भगवान् की नहीं, पेड़ की परिक्रमा करती है। उस परिक्रमा से उनका व्याकुल मन शांत होता है। "मैं यदि परिक्रमा करती हूँ तो उसका अर्थ यह नहीं कि मेरा स्वभाव है वह, या मेरी मान्यता है उस प्रकार की। मैं परिक्रमा केवल इसलिए करती हूँ कि उससे मन को शांति मिलती है।" (पृ. २६).

० ० ०

जिस प्रकार भगवान् की चतुर्दिक् परिक्रमा करना असंभव है, उसी प्रकार यज्ञादि कर्म के नाम पर बलि देना व्यर्थ है। एक अपराध है, सामाजिक अपराध। यज्ञ के नाम पर मंदिरों में न केवल पशुबलि वरन् नरबलि दी जाती रही है। आज भी दुर्गापूजा के अवसर पर पशुबलि दी जाती है। बलि चाहे पशु की हो या नर की, वह जीवहिंसा है और जीवहिंसा अन्याय है, कुकर्म है। हमारी वैदिक परम्परा ने हमें हत्यारा बना दिया है। चार्वाक हमें हत्यारा बनने से रोकता है। वह वेदों के अस्तित्व को ही अस्वीकारता है, और यज्ञ के विरुद्ध, बलि प्रथा के

विरुद्ध आवाज उठाता है। मूकज्जी भी चार्वाक से कम नहीं। वह भी ' यज्ञ और बलि ' का विरोध करती है। " जिसने हमारे देह की नस-नस में रक्त को प्रवाहित किया, वही क्या स्वयं उसका पान करके तृप्तिलाभ करेगी ? " (पृ. १३५) यह हमारा अज्ञान है कि हम भगवान् को रक्त रक्तपिपासु समझने लगते हैं। मंदिरों में हमारा भगवन् हमसे ही भेंट माँगता है, रक्त की बलि माँगता है। भैंसे और बकरों को खा जाता है। यहाँ तक कि छोटे-छोटे अबोध शिशुओं को भी नहीं छोड़ता है। कैसी नृशंस हत्या ? क्रूर अन्याय ? मंदिरों में ? धर्म के नाम पर ? भगवान् को तृप्त करने के लिए ? भगवान् की तृप्ति के बहाने हम खुद स्वयं को तृप्त करते हैं। ' भगवान् की प्रसाद ' – इस नाम पर हम अपने ही भाईबन्धुओं का मांस खाते हैं, उनका खून पीते हैं। इसलिए आजीमाँ कहती हैं – " अज्ञान के साथ-साथ यह अन्याय भी चलता है। नहीं होना चाहिए यह सब। " (पृ. १३५)

अध्यात्मवादियों की दृष्टि में अज्ञान माया के कारण है। माया के कारण मनुष्य अपन वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप ' ब्रह्म ' है। ' तत्त्वमसि ' या ' अहम् ब्रह्मास्मि '। ब्रह्म और आत्मा (जीव) एक हैं। वे अद्वैत हैं। मूकज्जी भी अद्वैतवादी है। " यह सृष्टि और इसका स्रष्टा एक दूसरे से अलग नहीं। इस सत्य को हम समझ ले और मान लें तो मुझमे और तुममे अन्तर ही न रह जाये। " (पृ. ७८) मूकज्जी का अद्वैतवाद शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है। यह ठीक है कि मूकज्जी शंकर की भाँति सृष्टि और स्रष्टा को अभिन्न मानती हैं, किन्तु उसका स्रष्टा ब्रह्म नहीं, लिंगयोनि है। इस वास्तविकता (लिंगयोनि स्रष्टा है) को भूल जाने के कारण ही हम मायाभिभूत हैं, भ्रम में हैं। " सभी मनुष्य, स्त्री और पुरुष, एक व्यामोह में पैसे हैं। इस व्यामोह के कारण ही संसार में माया और माह व्याप्त हुए रहते हैं। " (पृ. ७८) आजीमाँ की दृष्टि में हमारा अज्ञान, मिथ्या प्रलोभन, ही माया को जन्म देता है। स्वर्ग–नरक, पुनर्जन्म और मोक्ष का मिथ्या प्रलोभन। शुभ कर्म करने से स्वर्ग और अशुभ कर्म करने स नरक मिलता है, और कर्मों का फलदाता भगवान् है। परन्तु भगवान् सर्वत्र व्याप्त है। सब कुछ भगवान् ही है, भगवान् के अंश हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि बुरा भी भगवान् और भला भी भगवान्। अर्थात् अच्छा कर्म करनेवाला और बुरा कर्म करनेवाला दोनों भगवान् हैं। इसलिए कर्म का फल (स्वर्ग-नरक) भगवान् को ही मिलेगा। कर्मफलदाता और कर्मफलभोक्ता दोनों भगवान् हैं – बिल्कुल आत्मव्याघाती बातें हैं। अतएव न स्वर्ग है और न नरक।

न ही है कर्मवाद। कर्म का फल भोगने के लिए ही पुनर्जन्म होता है, और आत्मा ही अन्य शरीर धारण करती है। आत्मा अनश्वर है। परन्तु संसार विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश होता है। इस सृष्टि (ससार) के परे न भगवान् है न आत्मा। अतएव पुनर्जन्म का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। "जीवात्मा के खेल के लिए ही तो यह सारी सृष्टि है। और जब यह खेल ही पूरा हो जाये तो फिर यह सृष्टि किसलिए ? " (पृ. १२९) अतः आजीमाँ कहती हैं कि अपनी सारी संतान (विश्व के सभी चर-अचर पदार्थ) को साथ ले एक दिन भगवान् स्वयं विलीन हो जायेगा।

स्पष्ट है, आत्मा नहीं रहेगी। आत्मा के न रहने पर अन्य शरीर धारण कर कर्मफल भोगनेवाला कोई नहीं रहेगा। "यदि जीव शाश्वत नहीं, मनुष्य शाश्वत नहीं, तो फिर मानव-कल्पित, मानव-निर्मित देवी-देवता कैसे शाश्वत हो सकते हैं ?....... न कोई मंदिर शाश्वत है न भगवान्।" (पृ. १७०) यदि भगवान् को शाश्वत माना जाय, तो वह हमारी पहुँच के बाहर है, अर्थात् हमारा भगवान् अशाश्वत ही हो सकता है। चार्वाक ने भी 'अशाश्वत ईश्वर' की सत्ता स्वीकार की है–लोकसिद्धोराजा परमेश्वरः। चार्वाक अनित्य आत्मा को भी स्वीकारता है – देह ही आत्मा है। शरीर और आत्मा की अभिन्नता को स्वीकार कर चार्वाक अद्वैतवादी हो जाता है। मूकज्जी जिस अद्वैतवाद को स्वीकारती है, वह चार्वाकीय अद्वैतवाद ही है। विनाशी भगवान् और विनाशी आत्मा शरीर के रूप में ही मौजूद है। इसलिए मोक्ष भी 'शरीर का अन्त' है, अर्थात् मृत्यु मोक्ष है। चार्वाक के शब्दों में– मरणमेव अपवर्गः। मूकज्जी मृत्यु को शाश्वत, सत्य मानती हैं। धरती पर अजर-अमर होकर कोई नहीं आता। "एक बात सबके लिए समान है। आस्तिक के लिए भी, नास्तिक के लिए भी। जन्म होने के बाद मरना ही पड़ता है।" (पृ, ३४) जो कहते हैं कि माया से मुक्त होने पर ही मुक्ति (मोक्ष) मिल सकती है, वे ठग हैं। प्रपंची हैं। आखिर किसको मुक्ति ? कैसी मुक्ति ? "वैष्णव दास-पंथियों ने घर-बार छोड़-छोड़कर दिनरात भक्ति के गीत गाये। कितने भ्रम में थे ये लोग ? मुक्ति के लिए बिनती भी उनसे की जो स्वयं वामपार्श्व में देवी से युक्त हुए वैकुण्ठ में या कैलाश पर विराजमान थे। वे देंगे मुक्ति जो स्वयं माया-मोह में लिप्त हैं ?" (पृ. ३४) भगवान् स्वयं काम युक्त हैं, आसक्तिमय हैं। फिर ऐसे भगवान् से अनासक्ति की कामना, मोक्ष की चाहना व्यर्थ है। मूकज्जी के लिए तो भगवान् स्वयं काम है। इसलिए उसकी मान्यता है कि संसार से भागना, अनासक्त होना निरी कल्पनामात्र है, फ़रेब है। "संसार से दूर भाग जाना ही जैसे उनके (ऋषी-मुनियों) लिए तपस्या है

लेकिन बैठा कहाँ नहीं है यह संसार ? . ... संसार से छुटकारा पाना या संसार को छोड़ना, देह-त्याग करने जैसा होता है । और जबतक यह देह है, इस संसार का त्यागना भला कैसा ?" (पृ. ५५) शरीर है तो आत्मा है । आत्मा को शरीर के द्‌वारा ही सुख-शांति मिलती है । शरीर द्‌वारा ही हम अपने अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं, जिसके लिए ' जंगल में पर्णकुटी छवाने की जरूरत नहीं । अपने अभीष्ट की प्राप्ति हम अपने घर में ही कर सकते हैं । अभीष्ट-प्राप्ति के लिए कष्ट/दुःख झेलना पड़ता है। जंगलों, गुफाओं में भी तो दुःख झेलना पड़ता है । फिर सांसारिक सुख-दुःख का त्याग करना क्या हर दर्जे की बेवकूफी नहीं ? इस बेवकूफी से चार्वाक हमें बचाता है । आजीमाँ भी हमें इस बेवकूफी से बचाना चाहती है । तभी तो वह कहती हैं कि "......जीवनसागर में रहते हुए ही इसे तैर कर पार करना है । इसलिए अनुभव होने लगा कि जीवन नाम का कोई पदार्थ सचमुच है ।" (पृ ३१)

और जीवन है, इसलिए कर्म की अपेक्षा है । कर्मरहित जीव जीव नहीं है । अतः " जबतक जीवित हैं, अपने हित के साथ सबके हित के लिए जियें । यानी मात्र मनुष्य के लिए नहीं, सभी जीवधारियों के हित के लिए भी ।" (पृ १७३.) आजीमां का विचार कितना उदार और व्यापक है यह इन शब्दों से स्पष्ट है । आजीमाँ हमें न केवल स्वार्थी वरन् परार्थी भी बनाना चाहती है। हम मूलतः स्वार्थी हैं । किन्तु केवल स्वार्थ को लेकर संसार नहीं चलता । अतः हमें परमार्थ की ओर भी मुड़ना चाहिए । हम एक ही भगवान् की संतान हैं । इसलिए हममें बंधुत्व और एकता को भावना होनी चाहिए । सौहार्द, मैत्री और करुणा यही तो आजीमाँ की शिख है । आजीमाँ हमें बताती है कि संसार की सबसे बड़ी शक्ति और मनुष्यता का सबसे बड़ा गुण है ' करुणा ' (प्रस्तुति : लक्ष्मीचन्द्र जैन)

° ° °

किन्तु आजीमाँ की सीख हमें किसी नैतिकता में नहीं बांधती, वरन् जीवन के यथार्थ का बोध कराती है । 'मूकज्जी सारी नैतिकताओं को चुनौती देती चलती है, और एक ऐसी वस्तुपरक यथार्थ दृष्टि प्रस्तुत करती है जो परम्परागत धारणाओं पर प्रबल प्रहार करती है ।" (प्रस्तुति : लक्ष्मीचंद्र जैन) वस्तुतः मूकज्जी का प्रहार परम्परागत धारणाओं पर वैसा ही कठोर है, जैसा चार्वाक का प्रहार वैदिक परम्पराओं पर । चार्वाक और मूकज्जी के विचार का साम्य उन्हें एक-दूसरे के करीब लाता है । चार्वाक का ईश्वर भौतिक सत्ता है । मूकज्जी का भगवान् भी भौतिक है । चार्वाक का दर्शन काम-केन्द्रित है । मूकज्जी भी काम

के सम्बन्ध में अति मुखर है। "मूकज्जी, जिसने स्वयं जीवन की वंचना भोगी है, सेक्स और कामभोग के सम्बन्ध में वाचाल हो गयी है, वैज्ञानिक हो गयी है।' (प्रस्तुत : लक्ष्मीचंद्र जैन)

चार्वाक की भाँति काम को ही मूकज्जी ने जीवन का चरमलक्ष्य माना है। यही है उसका यथार्थवाद। उपन्यासकार 'मूकज्जी' के चरित्र के बहाने 'यथार्थ भोगवाद' की स्थापना करता है। पर उपन्यास में मूकज्जी जिस कदर मुखर है, मूर्त है, वह डॉ. कारंत को छिपा लेती है।उपन्यास पढ़ने के समय पाठकों के मन पर मूकज्जी छा जाती है, और उपन्यास समाप्त करने के पश्चात् मूकज्जी छायी रहती है।

उपन्यासकार को हम भूल जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों मूकज्जी पुस्तक की पंक्तियों से निकलकर सजीव हो उठी हो और हमारे निकट बैठकर हमसे वाद-विवाद कर रही हो। इसलिए मैं प्रस्तुत उपन्यास को उपन्यास नहीं, 'मूकज्जी-दर्शन' की संज्ञा देना चाहता हूँ और मूकज्जी को बीसवीं सदी का चार्वाक कहना चाहता हूँ। (शायद उपन्यासकार मेरे विचार से सहमत न हों या अंशतः सहमत हों।) किन्तु मेरी दृष्टि में मूकज्जी एक सुसंस्कृत/परिष्कृत चार्वाक है, और इसलिए उसके विचार की सार्थकता आज के विघटित होते हुए समाज में कदापि विस्मृत नहीं की जा सकती। समाज को सुव्यवस्थित एवं शांतिमय बनाने का एकमात्र अस्त्र मूकज्जी-दर्शन ही है। क्योंकि वह है प्रगतिशील दर्शन।

(व्याख्याता, दर्शन विभाग, एस. यू. कॉलेज, हिलसा) — **नरेश प्रसाद तिवारी**
ए/७६ ऊपरी मंजिल, हाऊसिंग कंकड़बाग कॉलनी,
पटना–८०००२०.

देवात्मा दर्शन में आत्मा का स्वरूप

भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर के अध्ययन की अपेक्षा आत्मा के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर के बिना धर्म का अस्तित्व हो सकता है आत्मा के बिना नहीं। केवल बौद्धधर्म ही इसका अपवाद है। वस्तुस्थिति यह है कि बौद्धधर्म ने आत्मा के पारस्परिक स्वरूप का भले ही निषेध किया, किन्तु विज्ञान-सन्तान को आत्मा-तुल्य ही माना। बौद्धधर्म निरीश्वरवादी है। उसने ईश्वर अथवा ब्रह्मन् के खण्डन में तर्क प्रस्तुत किये। उनके निर्वाण-प्राप्ति के अष्टांगमार्ग में ईश्वर या ब्रह्म की उपासना अथवा समाधि का ग्रहण नहीं किया गया है। जैनधर्म भी ईश्वर के स्रष्टा और नियामक होने का निषेध करता है। जैन दार्शनिकों का मत है कि आत्मा जब कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है तब प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द से युक्त हो जाती है। इनकी धार्मिक साधना ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए है। अन्य छः आस्तिक दर्शन, जो वेदानुयायी हैं. में मोक्ष को जीवन का आदर्श माना गया है। केवल वेदान्त में ही मोक्ष को ईश्वर या ब्रह्म से संयोग या लय की अवस्था माना गया है।

अतः ईश्वर नहीं आत्मा ही मनुष्य के लिए पहेली है। ईश्वर तो आत्मा के रहस्य को सुलझाने के लिए एक उन्नत कल्पना है। धर्म के इतिहास से ज्ञात होता है कि यह ईश्वर विषयक कल्पना धर्म के लिए आवश्यक नहीं है। विश्व में ऐसे धर्म और दर्शन हैं जो ईश्वर का चिन्तन न करके केवल आत्मा का ही चिन्तन करते हैं। आधुनिक युग में भारत में भगवान् देवात्मा ने ईश्वर को अस्वीकार करके अपने धर्म में आत्मा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया और आध्यात्मिक जीवन को एक नयी दिशा प्रदान की।

वैज्ञानिक होने के कारण देवात्मा ने आत्मा की विज्ञान के संदर्भ में व्याख्या प्रस्तुत की। डार्विन ने विकासवाद के द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति की व्याख्या की।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसम्बर, १९८६

यह सिद्धान्त दार्शनिकों के लिए सर्वथा नवीन नहीं था। ग्रीक दार्शनिक एनैक्जेमैण्डर ने ६१० ई. पू. ने इस सिद्धान्त की कल्पना की और अरिस्टॉटल (३८४-३२२ ई. पू.) ने इस सिद्धान्त को दर्शन में प्रभावकारी बनाने का प्रयास किया। डार्विन के प्रपिता इरस्मस् डार्विन भी इस सिद्धान्त से परिचित थे, किन्तु चार्लस् डार्विन का श्रेय इसलिए है कि उन्होंने इस कल्पना को वैज्ञानिक सत्य का रूप प्रदान किया। उन्होंने बीस वर्ष तक अथक परिश्रम द्वारा तथ्यों संकलित करके यह सिद्ध किया कि मनुष्य का विकास पशुजगत् से हुआ है और उनके द्वारा स्थापित यह सत्य आज भी प्रश्न और सन्देह के परे बना हुआ है।

डार्विन के इस विकासवाद को देवात्मा ने स्वीकार किया। उनका मत है कि मनुष्य की उत्पत्ति- उसका शरीर और आत्मा सभी पशुजगत् से विकसित हुए हैं। मनुष्य की सृष्टि न तो ईश्वर ने की है और न ही उसकी उत्पत्ति अतिप्राकृतिक है। उसकी भी उत्पत्ति अन्य पशुओं या अन्य भौतिक घटनाओं-जैसे वर्षा, भूकम्प, आँधी की भाँति स्वाभाविक उत्पत्ति हुई हैं। मनुष्य असृष्ट भी नहीं है। एक ऐसा भी समय था जब मनुष्य पशुजगत् में देखा भी जा सकता था। यदि ऐतिहासिक तथ्थों को ध्यान में रखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य न तो सृष्ट है और न असृष्ट, अपितु विकास का परिणाम है। देवात्मा के अनुसार आत्मा और शरीर नामक दो विशेष प्रकार के गठन-प्राप्त जीवित अस्तित्वों से संयुक्त व्यक्ति को मनुष्य कहते हैं। ये मनुष्य के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनके मत में मानव शिशु प्राकृतिक जगत् का नवीन एवं विशिष्ट उत्पादन है।

प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व उसकी जिस गठन-प्राप्त जीवनी शक्ति और उसके जिस गठन-प्राप्त जीवित शरीर से संयुक्त होता है, उनमें उसकी गठन प्राप्त जीवनी शक्ति ही मुख्य या मूलवस्तु है। मनुष्य की इस गठन-प्राप्त जीवनी शक्ति की ही अपर संज्ञा आत्मा है। मनुष्य के अस्तित्व में उसकी यह विशेष शक्ति उसके शरीर का निर्माण करती है, उसे जीवित रखती है तथा उसकी रक्षा और उसका पालन करती है।

प्रकृति के अटल नियमानुसार पुरुष और स्त्री के विशेष सम्बन्ध से दोनों के दो प्रकार के विशेष जीवित सेल परस्पर के आकर्षण से आपस में मिलकर एक जीवित सेल बन जाता है। उन दोनों सेलों की दोनों जीवनी शक्तियों के आपस में मिल जाने से एक जीवनी शक्ति बन जाती है। यह नवीन जीवनी शक्ति अपने भीतर गठन-प्राप्त जीवित शरीर निर्माण करने की शक्ति लाभ

करती है। यही शरीर-निर्माणकारी जीवनी शक्ति स्त्री के गर्भ में पूर्णतः नवीन एवं नन्हे आत्मा के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार प्रकृति की इस विधि से पूर्णतः नवीन आत्मा का जन्म होता है। यही आत्मा स्त्री के गर्भ में मनुष्य शरीर के अनुरूप धीरे धीरे एक गठन-प्राप्त जीवित शरीर का निर्माण करती है।

पशुजगत् से ही मानव के विकास को स्वीकार करने के कारण देवात्मा जीवित पशुओं और पौधों के भी शरीर में गठन-प्राप्त जीवनी शक्ति को स्वीकार करते हैं। यह जीवनी शक्ति किसी ईश्वर या देवता की सृष्टि नहीं है। यह आत्मा ही मनुष्य, पशु एवं पौधों के शरीर का निर्माण करती है। देवात्मा ने अपने इस मत को अनुभव के द्वारा स्थापित किया। यदि किसी स्त्री का भ्रूणपात हो जाता है तो उसकी जीवनी शक्ति, जो उस स्त्री के रक्त से आवश्यक सामग्री लेकर निर्माण कार्य कर रही थी, पूर्णतः बन्द हो जाती है और फिर वह भ्रूण कभी किसी प्रकार से अपने पूर्ण गठन को प्राप्त नहीं कर पाता। कोई ईश्वर या देवता भी इस अधूरे शरीर को विकसित नहीं कर सकते। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि जीवनी शक्ति ही शरीर निर्माण में समर्थ है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य शरीर-निर्माण के कार्य को नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में पशुजगत् एवं वनस्पति जगत् के उदाहरण भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं।

ईश्वर को आत्मा का सृष्टिकर्ता न मानने पर भी देवात्मा का जड़वादियों के मत से साम्य नहीं है। जड़वादी आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। जड़वादियों का मत है कि आत्मा जड़ अंगों का ही प्रकाश है और आत्मा शरीर की मृत्यु के साथ ही मृत हो जाती है। देवात्मा जड़वादियों के इस मत को अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि आत्मा ही जीवित जड़ शरीर का निर्माण करती है अतः उसका प्रकाशक कैसे हो सकती है? आत्मा शरीर की रचना करती है और वही उसका प्रकाशक है।

आत्मा का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार आत्मा के पृथक् हो जाने पर शरीर की मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार आत्म भी अपने लिए जीवित शरीर का निर्माण न कर पाने पर मृत हो जाती है। आत्मा किसी शरीर से सम्बद्ध हुए बिना अपने अस्तित्व विषयक लक्षण का प्रकाश नहीं कर सकती। अर्थात्, वह शरीर के बिना न तो किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकती है और न ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकती है। अतः जिस प्रकार शरीर का आत्मा के बिना अस्तित्व नहीं रह सकता उसी प्रकार आत्मा भी शरीर का निर्माण किये बिना नहीं रह सकती'। इसलिए आत्मा एक स्थूल शरीर का त्याग करने पर दूसरे जीवित स्थूल शरीर का निर्माण कर लेती है।

देवात्मा के अनुसार भारतीय परम्परा में प्रतिपादित आत्मा अजन्मा और स्वयंभू नहीं है। उनके मतानुसार आत्मा का स्त्री पुरुष के विशेष सम्बन्ध से जन्म होता है इसलिए आत्मा अनादि और नित्य नहीं है। वे आत्मा को निर्लेप और निर्विकार भी नहीं मानते। आत्मा शक्तिमय है। वह अपने गठन के जिस जिस भाव विषयक शक्ति से परिचालित होकर जो कुछ भली या बुरी चिन्ताएँ अथवा भले या बुरे कर्म करती है वह अपनी उस भाव-शक्ति की गति से ही करती है और प्रकृति के अटल नियमानुसार अपनी ऐसी प्रत्येक गति के द्वारा अपने गठन में परिवर्तन उत्पन्न करती है तथा इस परिवर्तन के द्वारा स्वयं भी परिवर्तित होती है। यदि आत्मा की आन्तरिक चिन्ताएँ और वाह्य क्रियाएँ नीच गतिमूलक तथा पतनकारी हों तो आत्मा उन के द्वारा अवश्य पतित होती है। यदि आत्मा की ऐसी चिन्ताएँ और क्रियाएँ श्रेष्ठ एवं उच्चगतिमूलक हों तो वह उनके द्वारा अपने गठन में श्रेष्ठ व उच्च परिवर्तन का लाभ करके अवश्य श्रेष्ठ व उच्च वनता है। इसलिए देवात्मा के मतानुसार आत्मा को निर्लेप या निर्विकार, मानना पूर्णतः मिथ्वा है।

देवात्मा के अनुसार मनुष्य की आत्मा अमर नहीं है। केवल मनुष्य के शरीर में प्रत्युत पशु व पौधों के जीवित आकार में कोई जीवनी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी और किसी दशा में विनष्ट न हो सकती हो। जिस प्रकार प्रकृति के प्रकट या उत्पन्नकारी नियम से किसी शरीरधारी मनुष्य, पशु या पौधे की जीवनी शक्ति प्रकट या उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्रकृति के किसी ध्वंस या विनाशकारी नियम के अनुसार वह ध्वंस या विनष्ट भी हो जाती है या हो सकती है। मनुष्य की आत्मा उसी प्रकार प्रकृति के पतनकारी नियम के अनुसार पतित व बुरी बनती है, और पतित बनने पर हानियों से अपनी निर्माण शक्ति के बल को खो देती है। इसलिए जब वह इस निर्माणकारी बल को खो देती है तब वह किसी और जीवित शरीर के बनाने योग्य न रहकर और न किसी जीवित शरीर से संबंधित होने पर स्वयं मृत हो जाती है। यदि आत्मा प्रकृति के नियम का ज्ञान प्राप्त कर ले और उसी के नियमानुसार अपने गठन में किसी प्रकार के विकासकारी उच्च भाव या अनुराग का लाभ कर सके तो उनके द्वारा परिचालित होकर वह अपने जीवन-बल की धीरे-धीरे वृद्धि कर सकती है। जीवन-बल की वृद्धि से आत्मा न केवल स्वयं उच्च श्रेणी की बन सकती है, प्रत्युत अपने जीवन की आयु को भी उत्तरोत्तर उन्नत कर सकती है।

देवात्मा का मत है कि दुर्घटना इत्यादि में मनुष्य की अकाल मृत्यु होने से आत्मा की भी अकाल मृत्यु हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिती में आत्मा शरीर से सेलों को निकालकर अपने लिए नवीन शरीर का निर्माण नहीं कर पाती, इसलिए

शरीर के साथ आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है। जिस प्रकार ताप-शक्ति से गेहूँ के दाने की जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाती है, गर्भपात हो जाने से शिशुओं की जीवनी-शक्ति नष्ट ही जाति है, उसी प्रकार विभिन्न दुर्घटनाओं में मनुष्य की आत्मा नष्ट हो जाती है।

देवात्मा के मतानुसार आत्मा ब्रह्म का अंश नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने चेहरे में किसी अन्य मनुष्य के चेहरे से कई ऐसी विशेष विभिन्नताएँ रखता है जिनके द्वारा वह सबसे अलग पहचाना जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा अन्य मनुष्य की आत्मा से अपनी प्रकृति विषयक गुणों के विचार से भिन्नता रखती है जिनसे वह अलग पहचाना जाता है और इन विभिन्नताओं के कारण वह पूर्णतः पृथक् अस्तित्व रखती है। इनके अतिरिक्त वह अहं या मैं विषयक व्यक्तित्व के बोध के उत्पन्न हो जाने पर स्वयं ही यह अनुभव करती है कि वह औरों से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। मनुष्य जगत् की सभी आत्माएँ अपने-अपने भावों और अपनी-अपनी चिन्ताओं तथा अपने-अपने कर्मों में विभिन्नताओं के कारण जिस प्रकार वे एक व्यक्ति नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार इन विभिन्नताओं से युक्त ब्रह्म का अंश भी नहीं हो सकती।

जड़वादियों का मत है कि आत्मा का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। किसी मिथ्या, दुराचार, अत्याचार या पापाचार से न तो आत्मा की कोई हानि हो सकती है और न किसी परोपकार या पुण्य कर्म से उसे कोई लाभ हो सकता है। वस्तुतः आत्मा के सम्बन्ध में आत्मा को ब्रह्म का अंश मानने तथा जड़वादियों द्वारा प्रतिपादित दोनों सिद्धान्त मिथ्या हैं। जिस प्रकार वेदान्ती प्रकृति के जड़ पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार न करके समस्त प्रकृति को ब्रह्म नामक चेतन वस्तु बना देते हैं, उसी प्रकार जड़वादी प्रकृति को अजीवित शक्तियों के साथ जीवित शक्तियों और उनके शरीर-निर्माण कार्य को अस्वीकार करके समस्त प्रकृति को ही जड़ रूप में परिवर्तित कर देते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि प्रकृति में जड़ और शक्ति दोनों वस्तुएँ वर्तमान हैं और दोनों को लेकर ही प्रकृति का अपना सत्य और पूर्ण अस्तित्व है।

देवात्मा के अनुसार यदि मनुष्य के शरीर से आत्मा पूर्णतः निकल जाय तो प्रकृति के नियमानुसार वह शरीर जीवित नहीं रह सकता। आत्मा के शरीर से पृथक् होते ही शरीर मृत हो जाती है और पुनः कभी किसी उपाय से जीवित नहीं हो सकती। अर्थात्, सदा के लिए उसकी मृत्यु हो जाती है। मनुष्य की आत्मा भी बिना किसी सूक्ष्म एवं स्थूल जीवित भौतिक शरीर के बिना न देख

सकती है, न सुन सकती है, न बोल सकती है, न कुछ समझ या जान सकती है। न कोई चिन्ता कर सकती है, न किसी सुख-दुःख का बोध कर सकती है, न किसी भाव का प्रकाश कर सकती है, न कहीं आ जा सकती है और न कोई भी क्रिया कर सकती है। इसलिए आत्मा का निराकार रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना या आकाश में उड़ना प्रकृति के अटल नियम के अनुसार असम्भव है। एक बार आत्मा का शरीर से पूर्णतः पृथक् होने के पश्चात् पुनः शरीर में प्रवेश सम्भव नहीं है। आत्मा अपने भौतिक सूक्ष्म शरीर की रचना करके उससे सम्बद्ध होकर अन्य स्थान में जाने योग्य हो जाती है क्योंकि यह नियमानुसार है। देवात्मा का मत है कि मनुष्य योगाभ्यास द्वारा अथवा किसी वरदान द्वारा जब चाहे अपना स्वरूप परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि यह प्रकृति के अटल नियमों के अनुसार असम्भव है। न ही कोई सर्वशक्तिमान् या ईश्वर मृत को जीवित ही कर सकता है।

जिस प्रकार मनुष्य का शरीर विविध प्रकार के अंगों को प्राप्त होकर गठन-प्राप्त शरीर बन गया है, उसी प्रकार आत्मा भी विविध प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर एक विशेष सीमा तक गठन-प्राप्त अस्तित्व बन गया है। देवात्मा का मत है कि वह मनुष्यात्मा अपने विविध प्रकार के सुख अनुरागों का दास होकर उनकी तृप्ति के लिए जिस जिस प्रकार की आन्तरिक चिन्ताएँ और बाह्य क्रियाएँ करती है, उससे वह अपनी तथा शरीर दोनों की महा हानि करती है। लाखों मनुष्यों की आत्मा अपनी इस अपूर्ण गठन में विविध प्रकार के सुख-अनुरागों के कारण पतित होते होते पतन की जिस दशा में पहुँच गयी हैं उनमें जब किसी प्रकार मोक्षदायक भावों और श्रेष्ठ अंगों की उत्पत्ति की संभावना भी नहीं है। तथापि मनुष्य जगत् में ऐसे योग्य व अधिकारीजनों की एक संख्या अवश्य वर्तमान है कि जिनमें एक या दूसरी सीमा तक कई प्रकार की मोक्षदायक और जीवनवर्धक श्रेष्ठ भावों की उत्पत्ति और उन्नति हो सकती है।

देवात्मा के अनुसार मनुष्य की आत्माओं की अधूरी व अपूर्ण गठन में इन शक्तियों की उत्पत्ति होती है—

(१) शरीर निर्माण, पालन और उस पर शासन करने तथा उसे जीवित रखनेवाली चार प्रकार की शक्तियाँ।

(२) ज्ञान उत्पादक अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियाँ

(३) सुख-दुःख उत्पादक अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियाँ

(४) सुख के प्रति आकर्षण व अनुराग और दुःख के प्रति विकर्षण व घृणा विषयक अनेक प्रकार की भाव शक्तियाँ।

मनुष्यात्मा प्रकृति की विकासकारी गति के विरुद्ध अपनी गतियाँ ग्रहण करके रोगी अथवा पतित बनती है और पतित होकर भयानक फलों को भोगने से अपनी निर्माणकारी शक्ति का क्षय करती है। यदि आत्मा अपनी इन पतनकारी गतियाँ और उनके विकारों से मोक्ष लाभ करने योग्य न बन सके और उसका पतन निरन्तर होता रहे तो अपनी सारी निर्माणकारी शक्ति को खोकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है। मनुष्य की मानसिक चिन्ताएँ और शारीरिक क्रियाएँ, जो प्रकृति के निर्माण अथवा विकासकारी नियम के विरुद्ध हों, पतनकारी गतियाँ कहलाती हैं। ये पतनकारी गतियाँ दो कारणों से उत्पन्न होती हैं (१) मनुष्यात्मा के नीच अनुराग और (२) मनुष्यात्मा की नीच घृणाएँ।

देवात्मा का मत है कि मनुष्य में पहले कई प्रकार के शारीरिक सुखों और दुःखों की अनुभूति उत्पन्न होती है। इन बोधों के प्रकट हो जाने पर आत्मा में सुखों के लिए आकर्षण और दुःखों के लिए विकर्षण विषयक दो अलग-अलग भावों का प्रकाश होता है। जिस सुख का आकर्षण बढ़ता जाता है, उसका वह धीरे-धीरे अनुरागी बन जाता है तथा अपने प्रत्येक सुख के विपरीत प्रत्येक दुःख के लिए घृणाभाव का अनुभव करता है। मनुष्य बाल्यकाल से ही शारीरिक सुखों की लालसा और शारीरिक दुःखों के प्रति घृणा का भाव रखता है। वह सुख को चाहता है चाहे उसका परिणाम उसके लिए कितना हानिकारक और अशुभ उत्पादक क्यों न हो। मनुष्य दुःख को नहीं चाहता चाहे उसका परिणाम उसके लिए कितना भी लाभदायक, शुभ तथा हित का उत्पादक क्यों न हो। सुख की लालसा से मनुष्य उसका अनुरागी बनते-बनते उसका दास बन जाता है। उनका दास बन जाने पर मनुष्य अपने शरीर और आत्मा की विविध प्रकार से हानि करता है। मनुष्य के स्वाद, मैथुन धन-संपत्ति, सन्तान, प्रशंसा, मान, बड़ाई, आराम, आलस्य, नशा, हिंसा, कौतुक और कुतूहल आदि विषयक अनेक प्रकार के अनुराग नीच अनुराग हैं। इस प्रकार के नीच अनुरागों से परिचालित होकर मनुष्य असत्य और अहितमूलक अनेक प्रकार की पतनकारी गतियाँ ग्रहण करता है। अपने इस सुख विषयक विविध अनुरागों के वशीभूत होकर मनुष्यजगत्, पशुजगत् तथा प्राकृतिक जगत् के सम्बंध में अनेक प्रकार के अन्याय, अत्याचार पाप एवं अपराधमूलक कर्म करने के लिए बाध्य होकर मिथ्याचारी बनता है।

मनुष्यात्मा का दूसरा पतनकारी कारण नीच घृणाएँ हैं। जब कोई मनुष्य मनुष्य या अन्य जीवित और अजीवित अस्तित्व के प्रति भीतर कोई ऐसा घृणा

भाव अनुभव करता है जिससे परिचालित होकर वह उसके या उसके सम्बन्धों के प्रति किसी अन्यायमूलक कर्म का इच्छुक बन जाता है, और इस प्रकार की बुरी चिन्ता या ऐसे बुरे कर्म के करने अथवा कराने की तृप्ति ढूँढ़ता और पाता है, उसके इस प्रकार के घृणा-भाव नीच घृणाएँ कहलाती हैं। आत्मा के बीच घृणा भावों की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है।

(१) किसी से अपनी कामना की तृप्ति न पाने पर अर्थात् जब कोई मनुष्य अपनी सुखदायक कामना में किसी और को साथी बनाना चाहता है और वह उसका साथी नहीं बनना चाहता, तब वह अपने सुख विषयक नीच अनुराग के नशे से पागल और अपने हित के प्रति अज्ञानी होने के कारण दुखी होता है और उससे अपने दुःखदाता के प्रति अपने भीतर नीच घृणा का अनुभव करता हैं।

(२) अपने प्रति या किसी अन्य व्यक्ति या जनसमूह के साथ नीच अनुराग रखने पर अर्थात् जब कोई मनुष्य अपने अस्तित्व या अपने पारिवारिक सम्बन्धी या अपने सम्प्रदाय, जाति या देशवासियों के साथ नीच अनुराग से आबद्ध हो जाता है तब वह स्वभावतः अपना और उनका पक्षपाती बन जाता है, इसलिए उसके या उनके सम्बन्ध में यदि कोई व्यक्ति किसी सत्य दोष, अपराध, पाप, नीचता या हीनता को प्रकट करता है तो अपने या उनके बीच नीच अनुराग में ग्रस्त होने के कारण हृदय में आघात या कष्ट पाता है और ऐसे व्यक्ति के प्रति नीच घृणाका अनुभव करता है।

(३) अहं अनुराग के अधिक बढ़ जाने पर अर्थात् जब कोई मनुष्य इस दशा में पहुँच जाता है कि वह अपनी प्रशंसा की तुलना में किसी विषय में भी किसी व्यक्ति की प्रशंसा देखना और सुनना, पसन्द नहीं करता और उससे दुःखी होता है और उसके प्रति स्वभावतः नीच घृणा का अनुभव करता है।

(४) अपने एक अथवा दूसरे प्रकार के मिथ्या विश्वासों का अनुरक्त बन जाने पर अर्थात् जब कोई मनुष्य अपने मिथ्या संस्कारों या मिथ्या विश्वासों का अनुरागी होकर उनका पक्षपाती बन जाता है तब वह किसी मनुष्य या मनुष्य समूह को अपने किसी धर्म, मत या विश्वास के अनुसार न पाकर उससे घृणा करता है। किसी की वेषभूषा, रहन-सहन या भाषा को अपनी जैसी न देखकर घृणा करता है। किसी व्यक्ति को अपनी अपेक्षा किसी विषय में हीन देखकर घृणा करता है। किसी व्यक्ति से किसी व्यवसाय, रंग, जाति या सम्प्रदाय भेद के कारण घृणा करता है। इस प्रकार की सब घृणाएँ नीच घृणाएँ कहलाती हैं और वह मनुष्यात्मा के लिए नीच अनुरागों की भाँति ही पतनकारी सिद्ध होती हैं।

अनेक प्रकार के नीच अनुराग और अनेक प्रकार की नीच घृणाएं मनुष्यात्मा को असत्य और अहित की ओर ले जाकर उन्हें पतित बनाती हैं। इन्हीं पतनकारी कारणों ने मनुष्य जगत् में बहुत से अनुचित रोगों, कष्टों, दुःखों और त्रासों की उत्पत्ति की है। इन पतनकारी गतियों के कारण मनुष्य विविध शारीरिक रोगों से ग्रस्त होता है। यह रोग का विष कभी-कभी उसकी पत्नी और सन्तान को भी ग्रस लेता है। इन रोगों के कारण मनुष्य कभी-कभी अकाल मृत्यु और अपमृत्यु को भी प्राप्त करता है। ऐसे पतित लोग पारिवारिक सम्बन्धों के भी दास बन जाते हैं। वे किसी के वियोग से बहुत हार्दिक आघात पाते हैं और कभी पागल और कभी-कभी घुल-घुलकर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेते हैं अथवा इससे भी बढ़कर कभी-कभी न सह पाने की स्थिति में आत्महत्या करके अपमृत्यु या अकालमृत्यु को प्राप्त करते हैं। धन के दास बन जाने पर उसके नष्ट होने पर यन्त्रणा भोग करते हैं। और कभी-कभी आत्महत्या करके अपमृत्यु या अकालमृत्यु को प्राप्त होते हैं। वे अपनी किसी पतन-उत्पादक परन्तु सुखद या तृप्तिदायक क्रिया को कुत्सित या बुरे रूप में नहीं देखते, प्रत्युत उसे सुन्दर मानते हैं। ऐसे व्यक्ति सच्चे हितैषी से असन्तोषसूचक बात सुनकर उसे मित्र के स्थान पर शत्रु समझते हैं। ऐसे पतित लोग अपनी अनेक प्रकार की पतन-उत्पादक चिन्ताओं और क्रियाओं से अपनी आत्मा को दिनों दिन मैला, कठोर, कुत्सित और दुर्बल तथा विकृत बनाते हैं। वे अपने शरीर में उच्च कोटि के सूक्ष्म सेलों के बनाने की योग्यता को क्रमशः खोते रहते हैं और अपने स्थूल शरीर के त्याग करने पर अनुकूल दशा में बहुत निम्न स्तर के सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं। वे अपने जिस जिस अंग के द्वारा अपेक्षाकृत बहुत हानि या पाप करते हैं, उस अंग के सबंध मे सूक्ष्म सेलों के बनाने की योग्यता का पूर्णतः या बहुत कुछ खो देते हैं। इसलिए स्थूल शरीर के त्याग करने पर किसी एक या दूसरे अग के लिए सूक्ष्म सेल न मिलने पर आंख, कान, नाक, जीभ, हाथ-पैर या अन्य अगों को पूर्णतः नहीं बना सकते या अपूर्णरूप में निर्माण करते हैं और इस प्रकार अंगों की अपूर्णता या हीनता के कारण दुःख पाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी नीच गतियों के कारण मोक्ष पाने और आत्मा की निर्माणकारी शक्ति के विकसित करने की योग्यता को दिनानुदिन खोते रहते हैं। इस प्रकार आत्मा की शक्ति को क्षय करते करते पूर्णतः नष्ट कर देते हैं। मनुष्य को ये भयानक फल प्रकृति के अटल नियमानुसार मिलते हैं और इसमें कोई या किसी प्रकार की रियायत नहीं होती।

देवात्मा का मत है कि इन पतनकारी कारणों से उद्धार या मुक्ति पाने के लिए, महाहानिकारक फलों से बचने के योग्य होना मोक्ष है। आत्मा के सत्य मोक्ष के विषय में सत्य प्रकृति की ओर से सत्य विधि का प्रकाश देवात्मा ने किया

है। इस विधि का प्रकाश उनसे पूर्व किसी ने नहीं किया था। प्रकृति का अटल नियम है कि मनुष्य अपने शरीर में जो अंग नहीं रखता उस अंग का कार्य वह नहीं कर सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म आत्मा का सूक्ष्मरूप उसके पतनकारी कारण और उनसे मोक्ष के विकास विषयक जिन सूक्ष्म सत्यों के देखने के लिए जिस सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ सूक्ष्म ज्योति की आवश्यकता होती है उनसे शून्य होकर कोई भी आत्मा के विषय में सत्य ज्ञान का लाभ नहीं कर सकता। इस ज्ञान को केवल देवात्मा ने प्राप्त किया और उसका उपदेश दिया। प्रकृति का एक अन्य अटल नियम यह भी है कि जब कोई शक्ति गति अर्थात् क्रिया की स्थिति में हो तो वह तब तक नहीं रुकती जब तक कोई उसे रोक न दे। प्रकृति के इसी अटल नियम के अनुसार मनुष्य अपने जिस नीच अनुराग या नीच घृणा से परिचालित होकर कोई गती अर्थात् क्रिया करता है वह उसके करने से रुक नहीं सकता क्योंकि जब तक वह अपनी नीच या पतनकारी शक्ति के अधीन रहता है तब तक उसके द्वारा परिचालित होना, अशुभ तथा पतनकारी चिन्ताएं या अन्य क्रियाएं करना अनिवार्य है। जब तक उस पतनकारी शक्ति के प्रति कोई उच्च घृणा या उच्च दुःख उपन्न करने के लिए ऐसी तेज शक्ति नहीं पहुंचती, जिसके द्वारा उसकी वह पतनकारी शक्ति नष्ट हो जाये तब तक प्रकृति के अटल नियम के अनुसार वह अपनी काफी शक्ति नष्ट हो जाये, तब तक प्रकृति के अटल नियम के अनुसार वह अपने पतनकारी पथ से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और उसके बुरे फलों से सच्चा मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मा के मोक्ष के लिए उसमें देवज्योति प्रवेश की आवश्यकता है जो मिथ्या तथा अहितमूलक पतनकारी गति को, जो उसे सुखदायक, सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होती है उसको—उसके व्यक्तित्व रूप अर्थात् पतनकारी, कुत्सित एवं हानिकारक रूप में दिखा सके। अथवा आत्मा में कोई देवतेज प्रवेश कर जाए जो हानिकारक एवं पतनकारी गति के प्रति इतनी उच्च घृणा उत्पन्न कर दे जिससे उसके प्रति पहले से जो आकर्षण एवं अनुराग भाव वर्तमान हो वह नष्ट हो जाए तथा वह अपने अन्दर उनके प्रति विकर्षण का अनुभव करे। इन दोनों स्थितियों की प्राप्ति ऐसी आत्मा से हो सकती है जिसमें प्रकृति के ही विकास-कार्य के द्वारा विकास हुआ हो और ऐसी आत्मा देवात्मा ही है। देवात्मा की देवज्योति और उनके देवतेज को प्राप्त कर आत्मा अपने आध्यात्मिक अन्धकार, विविध प्रकार के मिथ्या विश्वास, अन्यों के संबंध में अपनी अहित उत्पादक विविध चिन्ताओं और क्रियाओं से सच्चा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। कोई भी अधिकारी मनुष्य देवात्मा के साथ सात्विक भावों के द्वारा अपनी आत्मा से संबंध स्थापित करने योग्य हो जाने पर जहां तक तथा जितना अपनी आत्मा में उच्च

शक्तियों और उच्च जीवन का विकास कर सकता है उतना अन्य किसी विधि से नहीं कर सकता। देवात्मा में प्रकृति की करोड़ों वर्षों की विकासकारी गति से सच्ची देवशक्तियों का विकास हुआ है, जिनके देवप्रभावों से प्रकृति के नियमानुसार अधिकारी आत्माओं में उनकी योग्यतानुसार इस प्रकार का उच्च परिवर्तन होता है।

हित और सत्य विषयक पूर्णांग देव अनुरागों और उसके विपरीत असत्य विषयक पूर्णांग देव घृणाओं से विशिष्ट एकमात्र देवात्मा ही सत्यदेव हैं। सत्यदेव होने के कारण एकमात्र देवात्मा ही सभी अधिकारी मनुष्यों के लिए सत्य उपास्य हैं, उनसे भिन्न अन्य कोई उपास्य नहीं है। मनुष्यात्मा में परोपकार विषयक और देवात्मा के साथ आध्यात्मिक संबंध उत्पादक उच्च सात्विक भावों की जागृति और उन्नति से ही उच्च एवं सच्चे धर्म का विकास होता है। इसी उच्च जीवन की प्राप्ति से उसके जीवन बल तथा उसकी निर्माणकारी शक्ति की उन्नति होती है। यह वह महासत्य है जिसे देवात्मा ने पृथ्वी पर अपनी अद्वितीय देवज्योति के द्वारा प्रकट किया है। प्रत्येक अधिकारी आत्मा इन महासत्यों को केवल देवात्मा की देवज्योति प्राप्त कर देख सकता है। मनुष्य जगत् में यह प्रथम प्रकार का उच्च परिवर्तन है जो देवात्मा के आविर्भाव द्वारा ही आ सकता था और आया है। इसी प्रकार प्रकृति के अटल नियम के अनुसार भविष्य में भी मनुष्य जगत् की अधिकारी आत्माओं में ऐसा परिवर्तन केवल उन्हीं की देवज्योति और उन्हीं के देवतेज द्वारा आएगा।

व्याख्याती, महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१००५.

– उर्मिला चतुर्वेदी

धर्म का सच्चा स्वरूप : सांप्रदायिक मनोवृत्ति का कोई स्थान नहीं

धर्म का स्वरूप

धर्म शब्द 'धृ'—'धारणपोषणयोः' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण और पोषण करना, अर्थात् पदार्थ के धारक और पोषक तत्त्व को धर्म कहते हैं, जिसका अभिप्राय है कि जिन तत्त्वों से पदार्थ का अस्तित्व हो वही तत्त्व उस पदार्थ का धर्म है। दूसरे शब्दों में, जिन तत्त्वों के नष्ट हो जाने पर पदार्थ भी नष्ट हो जाय वे तत्त्व उस पदार्थ के धर्म हुए, अर्थात् बिना अपने धर्म के पदार्थ का भी अस्तित्व नहीं है। अर्थ-विस्तार होने पर धर्म की परिभाषा 'वस्तुस्वभावो धर्मः' की गयी। वस्तु का जो स्वभाव (अपना भाव, अपना रूप) है, वही उसका धर्म है। जैसे– अग्नि का स्वभाव है 'उष्णता'। यदि अग्नि में से उष्णता को निकाल दिया जाय तो अग्नि 'अग्नि' न रहकर राख हो जायेगी। अतः उष्णता अग्नि का धर्म हुआ।

जिस प्रकार पदार्थ का अपना एक धर्म होता है, उसी प्रकार मनुष्य का भी एक धर्म है। **महाभारत** में व्यास मुनि ने 'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' अर्थात् धारण करने के कारण इसे धर्म कहते हैं, अतः धर्म ही प्रजा को धारण करता है— कह कर इस बात को स्पष्ट किया है कि प्रजा अर्थात् मनुष्य-समाज धर्म पर आधारित है। धर्म ही मनुष्य या मूलतत्त्व है। धर्म के नष्ट हो जाने पर मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता। इसी को आधुनिक शब्दावली में मनुष्यता कहते हैं। धर्म के स्वरूप-विवेचन में हमें वस्तुतः उन तत्त्वों का अनुसन्धान करना है जिनके नष्ट होने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रहता।

विभिन्न विचारकों द्वारा मनुष्य के जीवन के संबंध में दो अतिवादी दृष्टिकोण प्रकट किये गये हैं। एक विचार के अनुसार यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसंबर १९८६

जागतिक इच्छाएँ भ्रम हैं। मनुष्य का इस जगत् में रहना व्यर्थ है, एक ब्रह्म ही सत्य है। परलोक ही यथार्थ है। इस लोक को छोड़ के परलोक में जाकर ब्रह्म में लीन हो जाना और ब्रह्मानन्द का अनुभव करना हमारा लक्ष्य है। किन्तु, दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार यह दृश्यमान जगत् ही सत्य है। परमात्मा, पुनर्जन्म, परलोक, ब्रह्मानन्द, आत्मिक उन्नति, ये सब मात्र कल्पनाएँ हैं। इस जगत् में रहते हुए सब प्रकार की उन्नति कर के सांसारिक वस्तुओं के उपभोग द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। सामान्यतः प्रथम विचारधारा का संबध धर्म और वास्तविकता के साथ जोड़ा जाता है। और दूसरी विचारधारा को नास्तिकता से संबद्ध कर उसे धर्म से दूर मानते हैं। संसार को छोड़ कर परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न वह आध्यत्मिकता अर्थात् निवृत्तिमार्गी धर्म है और सांसारिक पदार्थों के उपभोग में ही लीन रहना, यह भौतिकवाद 'अधर्म' है।

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की जीवन-नदी आध्यात्मिकता और भौतिकता इन दो तटों के मध्य प्रवाहित हो रही है। यदि वह किसी एक तट को छोड़ कर दूसरे तट की ओर बहना आरम्भ कर दे तो उस नदी का जल इधर-उधर बिखर जायेगा और उसका नदी-रूप समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार हमारा यह जीवन भी आध्यात्मिकता या भौतिकता किसी एक दिशा में प्रवाहित हुआ तो जीवन नष्ट हो जाएगा। यदि वह मात्र आध्यात्मिकता की ओर मुड़ा तो इस ससार का न होकर किसी अन्य लोक का होगा, उसका इस संसार से कोई संबध नहीं होगा। वह तट पर घूमते हुए उस पशु के समान होगा जो फिसलकर पानी में जा गिरा है और अब उस पानी से बाहर निकलने के लिए छटपटा रहा है, बाहर निकलने के प्रयत्न में लगा है। पानी में रहना उसे अवांछनीय है। जगत् को मिथ्या मानने का अर्थ है— जगत् से पलायन। जगत् को मिथ्या मान लेने पर जगत् की उन्नति, मनुष्यों में परस्पर प्रीति, विद्या आदि गुणों को प्राप्त करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा, सब व्यर्थ हो जाते हैं। जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः केवल परमात्मा में विश्वास रखना और भक्ति के क्षेत्र में ही जीवन खपा देने को धर्म नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि वह कोरी भौतिकता की ओर चला, तो भी वह एक मनुष्य का जीवन न हो कर एक पशु का-सा जीवन होगा— वह पशु, जो हमेशा ही चरता है, फिर भी उसकी भूख शान्त नहीं होती। उसकी इन्द्रियों में इतनी आग है कि वह कभी बुझती नहीं है। परिणामतः वह हमेशा ही अतृप्ति का अनुभव करता है। वस्तुतः हमारा जीवन एक सिक्के के समान है। सिक्के के दो तरफ होते हैं। सिक्के की कल्पना किसी भी एक तरफ के बिना असम्भव है, उसी प्रकार हमारे जीवन के भी

आध्यात्मिकता और भौतिकता दो पक्ष हैं-- किसी भी एक के बिना मनुष्य का जीना जीवन नहीं है।

हमारी संस्कृति में मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थों को प्राप्त करने के लिए कहा गया है-- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यदि कोरा ईश्वर-विश्वास व मोक्ष प्राप्त करने की वृत्ति अथवा अर्थ और काम की प्राप्ति (भोग), इनमें से कोई भी एक जीवन की पूर्णता होती तो इनकी इस प्रकार से चार पुरुषार्थों के रूप में गणना न होती। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में धर्म का संबंध जितना मोक्ष के साथ है, उतना ही अर्थ और काम की प्राप्ति से भी है।

जो लोग मोक्ष को परमानन्द मानते हैं और मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें परलोक की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं है। जीवन्मुक्त होकर भी इस संसार में रहा ही जा सकता है।-- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः '--वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि ने धर्म की इस परिभाषा को प्रस्तुत किया है। अर्थात् जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।

इस परिभाषा के अनुसार धर्म का प्रयोजन जहाँ आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की उच्चतम स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करना है, वहाँ व्यक्ति के बौद्धिक' शारीरिक एवं अन्य भौतिक उन्नति प्राप्त करने का प्रयत्न करना भी है। इस प्रकार हमारे शास्त्रों ने कोरी ईश्वर-प्राप्ति व मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न को ही धर्म मानने की धारणा को मिथ्या सिद्ध किया है। ईश्वर की स्तुति,प्रार्थना, उपासना आदि धर्म का मात्र एक अंग है, पूरा धर्म नहीं।

यही दृष्टि सांसारिक धन-ऐश्वर्य के प्रति है। हमारे धर्म का भोग से कुछ भी विरोध नहीं है। विरोध है-- भोग की अधिकता से। उसे संयमित भोग स्वीकार है-- तेन त्यक्तेन भुंजीथाः (**यजुर्वेद ४०।१**) के अनुसार त्यागपूर्वक भोग को वह सच्चा धर्म मानता है।

इस प्रकार धर्म जीवन की समग्र दृष्टि है। धर्म जीवन पद्धति है, खाना-पीना' सोना, बैठना, बोलना भी धर्म के अंग है। माता-पिता, पुत्र-पत्नी, आदि पारिवारिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक, इत्यादि विविध प्रकार के समस्त कर्म व कर्तव्य धर्म हैं। धर्म इन कर्तव्यों की एक ही कसौटी निर्धारित करता है और वह है-- जीवन के आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्षों का सन्तुलन। मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति जीवन के विविध व्यवसायों व आनन्दों (काम) पर समुचित नियंत्रण करती है।

आध्यात्मिकता और भौतिकता, मुक्ति और भुक्ति (भक्ति) परस्पर विरोधी नहीं हैं। जीवन के दैनिक व्यक्तिगत काम भी यदि शरीर और आत्मा की उन्नति करने की दृष्टि से किये जायें तो साधना के समान पवित्र और प्रभावी हैं। धर्म न किसी तपस्या की प्रशंसा करता है, न सांसारिक सुखों का आवश्यक त्याग उपयोगी मानता है। व्यक्ति के शरीर और भौतिक संसार की उन्नति अन्ततः मनुष्य समाज की उन्नति करती है। और यह मानव उन्नति, अथवा मानव का कल्याण ही सच्ची आध्यात्मिकता है एवं यही धर्म है।

धर्म का आचरण

धर्म का एक लक्षण 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' किया गया है। धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है। धर्म की यह परिभाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ यह है कि धृति, क्षमा आदि धर्म के लक्षण अवश्य हैं, किन्तु उन लक्षणों को जानना ही धर्म नहीं है, वरन् उन लक्षणों को अपने जीवन का अंग बना लेना, अर्थात् उन लक्षणों के अनुरूप आचरण करना धर्म है। सच बात यह है कि धर्म के लक्षणों की जानकारी तो प्रत्येक मनुष्य को होती है, कठिनाई उन लक्षणों को जीवन में अपनाने की होती है। जानना और उन्हें अपनी क्रिया में लाना—ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। अनेक बार व्यक्ति जानता होता है, पर उसके संस्कार इतने दूषित होते हैं अथवा उसका मन इतना दुर्बल होता है कि वह व्यवहार में उन ज्ञात धर्म के लक्षणों का उपयोग नहीं कर पाता। दूसरी ओर, अनेक बार व्यक्ति को धर्म के लक्षणों की सैद्धान्तिक कोई जानकारी नहीं होती। फिर भी उसके संस्कार इतने दृढ़ होते हैं कि उसका जीवन साक्षात् धर्म होता है। ऐसे मनुष्य धन्य हैं जिन्हें धर्म के तत्त्वों की जानकारी भी है और जो उन ज्ञात तत्त्वों के आधार पर अपना जीवन भी व्यतीत कर लेते हैं। 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बुभूवुः (निरुक्त १।२०) का भी यही अभिप्राय है। कठिनाई यही है कि संसार में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक है जो जानते सब कुछ हैं, पर क्रिया में वे शून्य होते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना अनिवार्य है कि भले मनुष्य अनिवार्य रूप से ब्राह्मण वा तथाकथित उच्च जातियों के ही हों, यह आवश्यक नहीं। सच्चरित्र व धार्मिक मनुष्य शूद्र तथा नीची कही जाने वाली जातियों में भी हो सकते हैं। विश्वामित्र भले शूद्रों के व्यवहार को प्रमाणित मानता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि युक्तियुक्त बात बालक ने कही हो या तोते ने, मान्य है। अयुक्तियुक्त बात वृद्ध या स्वयं शुकदेव ने भी कही हो—अमान्य है।

इस प्रकार धर्म क्या है, यह जान लेने के उपरान्त व्यक्ति धार्मिक बन ही जाए, यह आवश्यक नहीं है। अतः शास्त्रकारों ने व्यक्ति को सदाचरण के लिए उत्तम उपाय का निर्देश किया है। यदि व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठानों की भी अपेक्षा अपना व्यवहार ऐसा रखे जिसमें बड़ों के प्रति सम्मान और छोटों के प्रति स्नेह हो तो वह धार्मिक कहला सकता है। यदि हम अपने व्यवहार से दूसरों के हृदय में आसीन न हो सकें तो समझिए हम धामिक हैं, हमारा जीवन धन्य है। हमें सबके प्रति सद्व्यवहार रखना चाहिए। इस उपदेश को जीवन में लाना कठिन नहीं है। हम केवल एक महत्त्वपूर्ण बात को ध्यान में रखें। वह यह कि दूसरों को हमें अपने जैसा समझें।। दूसरे के साथ हमारा व्यवहार ऐसा हो जैसा हम उनसे या किसी से भी अपने प्रति चाहते हैं—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' **(महाभारत)**। हम दूसरों को अपने जैसा समझें इसके लिए आवश्यक है कि हम मानें कि हम सभी एक ही परमात्मा के पुत्र हैं। कितनी विडम्बना है कि हम अपने प्रति तो अच्छा व्यवहार चाहते हैं, पर दूसरों के साथ वैसा अच्छा व्यवहार करने में हम कृपण हो जाते हैं। वस्तुतः प्राणिमात्र को अपने जैसा समझने के लिए अपने स्व का विस्तार करना होता है। 'जैसे को तैसा' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' (चाणक्य का सिद्धान्त भी तभी जन्म लेता है जब दूसरे के अच्छे व्यवहार का प्रत्युत्तर हम बूरे व्यवहार से देते हैं।) यदि हम इस सरल नियम को ध्यान में रखें कि यदि मुझे अच्छा व्यवहार चाहिये तो मैं भी अच्छा व्यवहार करूं तो पारस्परिक सद्व्यवहार एक सरल प्रक्रिया बन जाएगी।

अनेक बार स्वयं व्यक्ति धर्माचरण करते हैं, पर संसार में अधर्म के व्यवहार का विरोध नहीं कर पाते। अथवा उनका धर्माचरण में कोई रोड़ा अटकता है तो भी वे अवश होकर धम का आचरण छोड़ बैठते हैं। अतः धर्माचरण के प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यक्ति के लिए निड़रता और साहस भी लक्षण हैं। संसार के दुष्ट व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले उत्पातों व अत्याचारों के विरुद्ध यदि व्यक्ति के चित्त में तीव्र घृणा और उसके प्रतिकार के लिए साहस और वीरता का संचार नहीं होता तो वह व्यक्ति कायर है, और कायरता जीवन का एक महान् पाप है। निड़रता धार्मिक व्यक्ति का अनिवार्य गुण है। निड़र व्यक्ति ही अन्याय के विरुद्ध साहस और वीरता को प्रकट करता है।

जो लोग यह समझते हैं कि मैं सत्य बोलूंगा, ईमानदार रहूँगा, दूसरा यदि बेईमान है तो मुझे क्या वे वस्तुतः धर्म का पूर्ण पालन नहीं करते। गलत बात को देखना, सुनना और उसे सहना महान् अधर्म है। उसका विरोध करने का मनुष्य में साहस होना चाहिए।

धर्म की सार्वभौमिकता

मनुष्यमात्र के सर्वांगीण विकास करने वाले तत्त्वों का नाम धर्म है। ध्यान रखना चाहिए कि संसार भर के सभी मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही है दो नहीं। इस संबंध में महर्षि दयानन्द ने **सत्यार्थप्रकाश** में वास्तविक धर्म का पता करने के लिए एक जिज्ञासु को सब संप्रदायवालों के मध्य भेजा। जिज्ञासु सहस्त्रों की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि 'सुनो सब लोगो! सत्य भाषण में धर्म है या मिथ्या भाषण में? सब एकस्वर होकर बोले कि सत्यभाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि को सभी संप्रदाय के लोग धर्म ही मानते थे। धृति-क्षमा आदि धर्म के लक्षण विश्व के प्रत्येक मनुष्य के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। वह साधारण धर्म जिसमें कोई भी मतधारी किन्तु-परन्तु नहीं कर सकता, यह है– एक तो परमेश्वर का विश्वास और उसकी उपासना, दूसरे जैसा भाव और ज्ञान भीतर हों, उसी को वाणी द्वारा प्रकाशित करना और उसी के अनुसार आचरण करना, तीसरे, जितेन्द्रिय रहना, चौथे किसी के अधिकार और वस्तु को न छीनना, पांचवे, निर्बलों और दीनों पर दया करना आदि साधारण धर्म ऐसे हैं कि इसमें किसी भी मतावलंबी को नकार नहीं है।

परमात्मा के रचे हुए पदार्थ सबके लिए एक से हैं। सूर्य और चन्द्रमा सबको समान प्रकाश प्रदान करते हैं। वायु और जलादि वस्तुएँ सबको एक सी दी गई हैं। जैसे वे पदार्थ ईश्वर की देन हैं, सब प्राणियों के लिए एक-सी हैं, ऐसे ही धर्म भी मनुष्यों के लिए एक और एक सा होना चाहिए।

हमारे वेद और वेदान्त का यही संदेश है कि हम सब एक ही परमेश्वर के पुत्र हैं। हम सभी एक हैं। उपनिषद् में कहा है--'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'-- किसी से कैसा मोह और कैसा शोक? सब में एक ही दृष्टि रखो। पारस्परिक वैर भाव छोड़कर 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' -- हम सबको मित्रता की आँख से देखें।

साम्प्रदायिकता और धर्म

विचार मनुष्य का अनिवार्य लक्षण है। बुद्धि व संस्कार-भेद के कारण प्रत्येक व्यक्ति का एक ही विचार होना आवश्यक नहीं है। अतः अलग-अलग विचार के लोगों का अपना अलग-अलग वर्ग व सम्प्रदाय बन जाना स्वाभाविक है।

यदि सारे देश में केवल हिन्दू या मुसलमान या केवल ईसाई या किसी भी अन्य एक मत को मानने वाले लोग हों, तो भी उनमें परस्पर मतभेद होंगे। हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाईयों व अन्य मतावलम्बियों के विविध भेद इस बात के प्रमाण हैं। सत्य तो यह है कि मतभेद एक ही परिवार में दो भाइयों के यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी, होते हैं। अतः साम्प्रदायिकता पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम ऐसे किसी समय की कल्पना नहीं करते जब मतभेद नहीं होंगे।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी अनिवार्य है कि मतभेद और उनके आधार पर सम्प्रदाय केवल धार्मिक क्षेत्र में ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। साम्प्रदायिकता धर्म के अतिरिक्त भाषा, रंग, जन्म, देश, राजनीति आदि अनेक आधारों पर खड़ी होकर विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

सब सम्प्रदाय अपने अपने विचारों को व्यक्त करें और उसकी मनुष्य के लिए उपयोगिता प्रतिपादित करें, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। आपत्ति तब उत्पन्न होगी जब उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने विवेक का त्याग करके अपने पूर्वाग्रहों के प्रति हठवादी हो जाते हैं। सम्प्रदायों में परस्पर विरोध सदा उग्र महत्त्वाकांक्षा और आत्मविस्तार की दुधर्ष वासना से ग्रसित होने के कारण होता है। अमरीका व आफ्रीका में काले-गोरों का संघर्ष, भारत में भाषायी उन्माद, जन्म पर आधारित जाति-पाँति एवं छूतछात साम्प्रदायिक उन्माद के ही दुष्परिणाम हैं। जाति, भाषा अथवा क्षेत्र के आधार पर चुनावों का लड़ना या राजनीति को खड़ा करना भी साम्प्रदायिकता है। इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब हिन्दुओं के एक वर्ग ने हिन्दुओं के दूसरे वर्ग के विरुद्ध शस्त्र उठाकर देश भर को संकट में डाला। क्या हिन्दुओं, मुसलमानों व सिखों ने ही अंग्रेजों के हाथ अपना राज्य नहीं सौंपा था? क्या निजी स्वार्थी और पारस्परिक द्वेष के कारण भारतीयों के विरुद्ध ही अंग्रेजों, फ्रांसीसियों व पुर्तगालियों की सहायता न की थी? साम्प्रदायिकता के कारण उत्पन्न द्वेष की अग्नि को शान्त करने के लिए विदेशियों तक से घिनौनी सहायता लेने के उदाहरण भी विद्यमान हैं। इस आधार पर साम्प्रदायिकता की परिभाषा निम्नलिखित की गयी——

——साम्प्रदायिक वे जन हैं जो शेष समाज से अलग अपने पंथ, विरादरी, भाषा और तथाकथित जाति के आधार पर सोचते हों और अपने मर्यादित लाभ के लिए एवं राजनीतिक सत्ता में उपयोग के निमित्त ऐसे विशेष अधिकारों व सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हों जो कि सर्वसामान्य समाज को

उपलब्ध न हों और इस उद्देश्य से वे दूसरे के साथ घृणा व द्वेष भी करें, उनका विरोध करें तथा कभी-कभी हिंसात्मक उपायों का भी अवलम्ब कर लें।

स्पष्ट है कि संसार में साम्प्रदायिकताएँ अनेक प्रकार की हैं और ये सभी अत्यन्त घातक हैं। किन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य प्रत्येक प्रकार की साम्प्रदायिकता पर प्रकाश डालना नहीं है। हमारा विवेच्य विषय केवल धार्मिक साम्प्रदायिकता है।

धर्म के प्रसंग में साम्प्रदायिकता का प्रश्न और भी जटिल है। प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपनी प्रतिष्ठा की लालसा में अपनी अपनी खिचड़ी पृथक् ही पकाते हैं। जनता को एकमत होने नहीं देते। पक्षपात के कारण अपनी गलत बात को भी ठीक कहते हैं। हमारे मत में——जिसमें पक्षपात हो वही सम्प्रदाय है, साम्प्रदायिकता में रूढ़ियों से चिपके रहने को विशेष प्रवृत्ति होती है। रिलिजन, मजहब, मत, सम्प्रदाय ये सब समानार्थी शब्द हैं। कई लोग गलती से धर्म शब्द का भी इसके लिये प्रयोग करते हैं। पर धर्म के जिस स्वरूप व लक्षणों का हमने वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट है कि धर्म साम्प्रदायिकता अथवा साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को नष्ट करता है।

धर्म एक शाश्वत नियम है जो ईश्वर-विश्वास के द्वारा मनुष्य को सदाचारी और नैतिक बनाता है। उसमें क्षमा, दया और वीरता के भाव उत्पन्न करता है। यह विवेक को जागरित करता है। प्रत्येक मनुष्य को एक ही ईश्वर का पुत्र बताकर एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य के प्रति आस्था उत्पन्न करता है। धर्म की ही प्रेरणा से व्यक्ति में दुर्बल मनुष्य की सेवा करने की वृत्ति उन्नत होती है। इसके नियम सार्वभौम व सार्वकालिक होते हैं जोकि सभी कालों व सभी देशों पर समान रूप से लागू होते हैं। सच्च अर्थों में धार्मिक व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है, जिसमें धार्मिक विश्वासों, धार्मिक सिद्धान्तों या आधिदैविक तत्त्वों की बेड़ियाँ नहीं होती। यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है, जो काल और देश के ऊपर व्याप्त है। अतः इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म—— इस प्रकार का शब्द प्रयोग गलत है। धर्म का इस प्रकार का विभाग करना मूर्खता है। हाँ, धर्म के स्थान पर सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग अर्थात् इस्लाम सम्प्रदाय, ईसाई सम्प्रदाय, पारसी सम्प्रदाय, बौद्ध, जैन व सिख सम्प्रदाय—— ये प्रयोग ठीक हैं।

विचित्र विडम्बना यह है कि इन सम्प्रदायों अथवा मतों के प्रवर्तक सर्वथा निष्पाप व निश्छल हैं। उनका जीवन त्याग व तपस्या का जीवन है। उनके जीवन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें मानव-मात्र के लिए प्रेम और आदर

का भाव था। उस समय के समाज में उन्हें जो बुराइयाँ दिखाई दीं, उन्हें दूर करने का उन्होंने प्रयत्न किया। सैद्धान्तिक आधार पर उन के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तथ्यों में भले ही कुछ दोष प्रतिपादित किये जा सकें, पर उनके भाव व उनकी सदाशयता पर शंका प्रकट नहीं की जा सकती। सच्चा मत चाहे किसी हिन्दू महात्मा का हो, ज़रथुष्ट्र, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद या नानक का हो, हमसे यह मांग करता है कि हम घृणा और हिंसा का मुकाबला शान्ति और सम्मान के साथ करें। इस प्रकार विश्व के सभी मत अपनी उच्चावस्था में हमसे यह अपेक्षा करते हैं कि हम एक दूसरे को विनम्रता और मैत्री की भावना से समझें।

किन्तु उनके अनुयायी उनके दिखाए मार्ग को ही सर्वोत्कृष्ट मानकर अन्य सभी मतावलम्बियों के प्रति अपने मन में घृणा का भाव उत्पन्न कर लेते हैं। ऐसा करके वे वस्तुतः अपने गुरु अथवा मार्ग-दर्शक के प्रति अन्याय कर रहे होते हैं।

अपने ही संघ के गुण दिखाई देना तथा दूसरे संघ के दोष दिखाई देना -- यह मोहवश भी होता है। अपनी वस्तु के प्रति अनावश्यक ममत्व की भावना उसका कारण होता है। कहावत है कि अपनी दही को खट्टा कौन बताता है? अपने पुत्र को कोई कुपुत्र नहीं कहता। ये सब हृदय की अनुदार वृत्ति के कारण होता है। व्यक्ति अपने संघ के दोषों को भी गुण मानता है, जब कि उसे दूसरे संघ के गुणभी दोष दिखाई देते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय यह उपदेश देता दीख़ता है कि चोरी करना बुरा है, किन्तु विधर्मियों के घर में चोरी करनी अच्छी है। इसी प्रकार निन्दा बुरी बला है, पर अन्य मतावलम्बियों की कर सकते हो। इन साम्प्रदायिकों की की करतूतें देखकर राधाकृष्णन् का कथन अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है--- अच्छे आदमी अपने अन्दरुनी प्रकाश और 'हमीं' ठीक हैं, ही के नाम पर जो पाप करते हैं, वे पाप तथाकथित पापी मनुष्यों की तुलना में बहुत बड़े होते हैं। आस्था के कई रक्षक सत्य पर ही आक्रमण कर देते हैं। अपने धर्म के नाम पर हमने दूसरी आस्थाओं वाले लोगों के लिए भाईचारे को नकार दिया है, जबकि ये भी सत्य के भूखे और प्यासे हैं।

धर्मनिरपेक्षता – आधुनिक युग में साम्प्रदायिकता की समस्या पर विजय प्राप्त करने लिए धर्म-निरपेक्षता का सहारा लिया गया है। यहाँ एक बार फिर स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग गलत है। धर्म सांसारिक और आध्यात्मिक प्रत्येक प्रकार की उन्नति करने वाले तत्त्वों के लिए प्रयुक्त होता है। सत्य, ईमानदारी आदि सभी सद्‌गुणों का इसमें समावेश है। धर्म के सच्चे स्वरूप के प्रति सम्पूर्ण रूप से निरपेक्ष भाव रख़ने का साहस तो कट्टर से कट्टर

नास्तिक या कम्युनिस्ट व्यक्ति भी नहीं रख सकता। वस्तुतः धर्म शब्द यहाँ सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त हुआ है। धर्म-निरपेक्षता के निम्नलिखित अभिप्राय हो सकते हैं–

१. धर्म व सम्प्रदाय का सर्वथा निषेध करके उसे मिटा डालना – – धर्म निरपेक्षता के इस अर्थ के अनुसार सभी सम्प्रदायों को समाप्त कर देने की कल्पना है। कोई भी व्यक्ति किसी धार्मिक क्रिया-कलाप को करने का अधिकारी न हो। व्यक्तिगत रूप से भी वह किसी अलौकिक शक्ति के भी प्रति आस्था व्यक्त न कर सके। यह अतिवादी दृष्टिकोण कुछ बिगड़े कम्युनिस्टों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। पर यह मनुष्य की प्रकृति पर प्रतिबन्ध लगाना है, जो कि सर्वथा मूर्खतापूर्ण है। रूस जैसे कम्युनिस्ट देश भी अपने यहाँ आस्थाओं और सम्प्रदायों पर रोक नहीं लगा सके तो अन्यत्र वे ऐसा क्या कर सकेंगें। यह मात्र कल्पना है।

२. धर्मनिरपेक्षता से अभिप्राय लिया गया है कि धर्म की उपेक्षा करना अर्थात् उसकी ओर से राज्य का मुँह मोड़ लेना। वस्तुतः उसका अर्थ यह है कि व्यक्ति किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का सदस्य हो सकता है। सभी सम्प्रदाय अपने अपने महापुरुषों, पर्वों, धर्म-ग्रथों के प्रति आस्था रखने में पूर्णतः स्वतंत्र है। प्रत्येक अपने अपने ढंग से कर सकता है। यह उसकी अपनी व्यक्तिगत आस्था का प्रश्न है। सच तो यह है कि प्रत्येक आध्यात्मिक साधना व्यक्तिगत ही होती है। सम्प्रदाय उसको एक दिशा देता है। यदि कोई व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय किसी व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के धार्मिक कृत्य में बाधा उत्पन्न करे तो सरकार उसे दण्डित करे। राज्य को स्वयं भी इस बात से कोई मतलब नहीं है कि कोई व्यक्ति किस सम्प्रदाय से प्रेरणा ग्रहण कर रहा है। परिणामतः राज्य में अनेक सम्प्रदाय और उसके अनुयायी होते हैं। अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य-व्यवस्था से अभिप्राय है– – (क) धर्म (सम्प्रदाय) का राज्य-व्यवस्था, अर्थनीति व समाज नीति से कोई सम्बन्ध न रखा जाय (ख) राज्य द्वारा किसी भी धर्म (सम्प्रदाय) को उत्तेजित न किया जाए (ग) भी किसी को सम्प्रदाय से राज्य पक्षपात न करे। (घ) शासन के नियमों के समक्ष सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति समान माने जाएँ। (ङ) प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी उन्नति का पूण अवसर हो। च) प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करे। हमारे संविधान ने धर्म की स्वतंत्रता व उसकी उपासना-पद्धति को व्यक्ति का मूलभूत अधिकार माना है।

धर्म-निरपेक्षता की उपयुक्त प्रकार से व्याख्या करके यह माना जाता है कि यही एकमात्र ऐसा उपाय है जिसे सम्प्रदायों के परस्पर वैमनस्य से बचा जा सकता है। परंतु निरपेक्षता के इस स्वरूप से स्पष्ट है कि यह एक अभावात्मक (निगेटिव) उपाय है। या तो हम मानें कि सम्प्रदायों में परस्पर सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इन सम्प्रदायों में केवल एक ही परमात्मा को प्राप्त करने के पृथक्-पृथक् उपाय हैं। कोई किसी भी मार्ग से जाए, राज्य को कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु यदि सैद्धान्तिक आधार पर इनमें कुछ मतभेद हैं, तब इनके प्रति अपेक्षित दृष्टिकोण रखना समस्या से आंखें मूंद लेना है।

इसी सन्दर्भ में यह भी देखना चाहिए कि ये सम्प्रदाय केवल ईश्वर-प्राप्ति के ही उपाय वर्णित नहीं करते, प्रत्युत इनके अपने सामाजिक व राजनीतिक सिद्धान्त भी हैं और इन सिद्धातों की ये आवश्यक व्याख्या भी करते हैं। प्रश्न है कि क्या एक ही युग में एक ही देश (राज्य-व्यवस्था) में अलग-अलग सामाजिक मान्यताओं को स्थान दिया जा सकता है? इन्हीं सामाजिक मान्यताओं से वैषम्य के कारण भारत में 'हिन्दू कोड बिल' स्वीकार करना पड़ा, अतः राज्य प्रत्येक सम्प्रदाय को यदि सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा, तो भी यह सिद्धान्त बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकता है। आज सरकार परिवार नियोजन को कानून का रूप देकर दो बच्चों से अधिक संतानों को गैरकानूनी घोषित करने जा रही है। क्या चार पत्नी रखने के अधिकारी मुसलमान भाइयों पर भी यह कानून लागू होगा? यदि नहीं तो क्या यह समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होगा? यही प्रश्न मुसलमान महिलाओं के तलाक पर उनके भरण पोषण के लिए मिलनेवाली राशि से जुड़ा हुआ है।

यह दावा कोई नहीं कर सकता कि राज्य का स्वरूप-धर्म निरपेक्ष मान लेने से हम धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं और अपने जीवन, विशेषतः सार्वजनिक जीवन में, हमने धर्म-निरपेक्षता को धारण कर लिया है। आज भी भारतीय समाज रूढ़ियों में ग्रस्त है, जाति-व्यवस्था से वह जकड़ा हुआ है। हरिजनों के साथ संवैधानिक समानता का व्यवहार नहीं किया जाता।

सबसे बड़ी बात यह है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या आज भी उसी भयंकर रूप में मुंह बाएं खड़ी है। विदेश में चाहे हिन्दू पहुँचे या मुसलमान, वह हिन्दुस्थानी या भारतीय कहलाता है, पर भारत में वह हिन्दुस्थानी न रहकर हिन्दू या मुसलमान रह जाता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि ईरान और तुर्की के मुसलमान अपने को ईराणी और तुर्क कहते है, किंतु हिन्दुस्थान के मुसलमान अपने को हिन्दुस्थानी नहीं कहते, न अपने को वे गुजराती,

पंजाबी, या कन्नड़ कहते हैं । वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रश्न धर्म का न होकर राजनीति का है । सभी राजनीतिक दलों द्वारा इसकी निन्दा किये जाने पर भी यह दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है हिन्दू-मुस्लिम समस्या के बने रहने के निम्नलिखित कारण हैं ।–

(क) वोट राजनीति के कारण, अथवा भारतीय मुसलमानों के असन्तोष को अल्प संख्यकों का असंतोष समझकर न केवल उनके अपराधों को सहन किया गया, वरन् अनेक बार उन्हें प्रोत्साहित भी किया गया । तुष्टीकरण की नीति के द्वारा उन्हें प्रसन्न रखा जाता है ।

(ख) यद्यपि यह ठीक है कि मुस्लिम सम्प्रदायवाद का इलाज हिन्दू सम्प्रदायवाद नहीं है, क्योंकि वह स्वयं एक रोग है, किन्तु कोई अन्य उपाय न होने के कारण किसी स्तर पर यह भी पनपा है । जबतक सभी सम्प्रदायों के प्रति सच्चे अर्थ में समान व्यवहार नहीं होगा, तब तक हिन्दू सम्प्रदायवाद भी पनपेगा ।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दू जाति अपने बुद्धिवाद, विचारों की स्वतंत्रता तथा सहअस्तित्व के लिए प्रसिद्ध है । हिन्दू-समाज यहाँ जनसंघ, कांग्रेस, भाजप, लोकदल, जनता, आदि सभी दलों में समान रूप से है, वह हिन्दू के रूप में किसी एक दल के साथ संबद्ध नहीं है, वहाँ मुसलमान समाज सम्प्रदाय और राजनीति को एक मानकर चलने वाले नेताओं के नेतृत्व में चल रहा है । हिन्दू जहाँ सम्प्रदाय और राजनीति को अलग-अलग मानकर चलता है, वहाँ मुसलमान पूर्णतः ऐसा नहीं मानता । वह समग्र रूप से एक ही दल के साथ सम्बद्ध रहा है । परिणामतः वह भारत में अपनी पृथक् सत्ता बनाए हुए है । उसके केवल धार्मिक स्थल आदि ही अलग नहीं है वरन् मुहल्ले, कोलनियाँ और गाँव भी पृथक् हैं । क्या ऐसा संभव नहीं है कि हम मुसलमानों को प्रेरित कर सकें कि वे अपने मुहल्ले तोड़कर सबके साथ रहें ? वे भारतीय समाज में घुलमिल जाएं । भारत के सम्पूर्ण इतिहास को, पूर्वजों को, पर्वों को, भाषा और साहित्य को समान रूप से मान्यता दें ?

हिन्दू और मुसलमान धार्मिक सम्प्रदाय हैं, परन्तु हिन्दू-मुसलमानों की जिस समस्या की हमने चर्चा की है, वह निश्चय ही धार्मिक न होकर राजनीतिक है । बदनाम धर्म होता है, लाभ राजनीतिज्ञ उठाते हैं । सच्चे अर्थ में धार्मिक हिन्दू और धार्मिक मुसलमान अपने कर्मकाण्डों व अन्य कट्टरताओं से जुड़े रहने पर भी पारस्परिक वैमनस्य से दूर ही रहते हैं । वे राजनीतिज्ञ होते हैं, जो कि दोनों सम्प्रदायों को परस्पर भड़काकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं । यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि इन सम्प्रदायों के तथाकथित धार्मिक नेता भी

धार्मिकता का लबादा ओढ़े रहते हैं। असल में वे राजनीति के ही खिलाड़ी हैं। ये अपने को धार्मिक कहकर भी धर्म का राजनीतिक उपयोग करते हैं। जैसे घोर समाजवादी बढ़-चढ़कर समाजवाद का डोल ड़वड़वाते हैं, उस प्रकार अधार्मिक व्यक्ति धर्म का ढोल बजाता है। अतः दोष नेतृत्व में हैं। नेतृत्व की तीव्राकांक्षा ही उनसे अनेक प्रकार के छल कपट करवाती है।

सिद्धान्त-रूप से धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार करने के उपरान्त भी देश के राजनीतिक नेता प्रत्येक मत के उत्सव पर पहुँच रहे हैं। यदि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्मों (सम्प्रदायों) के प्रति उपेक्षा ही है तो किसी भी राजनीतिक व्यक्ति के धार्मिक मतों से प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होने का क्या अर्थ है? अतः धर्म-निरपेक्षता का अर्थ हम भले ही मतों के प्रति उपेक्षा करते हों, यह व्यवहार में ऐसा नहीं है।

राजनीति के ही कारण आज अकाली सिख अलग कौम की बात कर रहे हैं। पंजाब में अकाली साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उत्पन्न हो रही है।

वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिकता की समस्या का हल नहीं है। सब धर्मों के प्रति उपेक्षा नहीं, वरन् राज्य का सब सम्प्रदायों के प्रति समभाव, जिसे सर्वधर्म-समभाव कहा जाता है, साम्प्रदायिकता की समस्या का कुछ हल कर सकता है। सर्वधर्म-समभाव के सिद्धान्त के अनुसार **गीता, कुराण, बाइबिल** एक-साथ सार्वजनिक व राजनीतिक मंचों पर पढ़े जा सकते हैं। यद्यपि स्वार्थी नेताओं ने इस प्रक्रिया से भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि की, तो भी सामान्य जनता पर इसका अनुकूल ही प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः केवल नारों से भी समस्या का हल नहीं होता, वरन् सिद्धान्त के मर्म को समझकर उसको ईमानदारी से लागू करने से ही समस्या का समाधान होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बहुत बार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के बहुत नारे लगाना या हिन्दू-मुस्लिम 'भाई-भाई' की बहुत की बहुत बार दुहाई देना ही साम्प्रदायिकता को बढ़ा देता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि किसी चीज़ के लिए बहुत मना किया जाए तो उसकी प्रतिक्रिया होती है और वे व्यक्ति भी, जो उसके विषय में कभी सोचते भी नहीं, सोचने लगते हैं। अतः सर्वधर्म-समभाव का अर्थ यह नहीं है कि हम उसे एक नारा बनाएँ और उसे प्रचारित करें, वरन् यह है कि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर का भाव रखे।

यदि ठीक प्रकार से व्यक्ति को शिक्षित किया किया जाए तो उसकी साम्प्रदायिक संकीर्ण मनोवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है। हमें प्रत्येक मतावलम्बी

का आदर करना चाहिए। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत उन्नति करता हुआ भी दूसरे व्यक्ति से सदा ईर्ष्या का भाव नहीं रखता। एक परिवार अपना विकास करता हुआ, दूसरे परिवार की उन्नति में बाधक नहीं बनता। उसी प्रकार प्रत्येक मत भी अपना विकास करता रह सकता है और उसका दूसरे मत की उन्नति से कोई विरोध भी नहीं हो सकता।

वस्तुतः धर्म भी यही सिखाता है कि हमें प्रत्येक विचार व प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिए। यह धर्म का ही काम है कि वह दुनियाँ में रद्दोबदल कर दे और ऐसे क्रान्तिकारी कदम उठाए कि धार्मिक मनुष्य के राज्यव्यवस्था के अधिकारी दलगत (सम्प्रदायगत) समस्याओं में रुचि लेने का अपराध न कर सकें।

सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा गया है कि भक्ति और निष्ठा जहाँ अपने सिद्धान्त के प्रति हो वही मानवता के प्रति भी होनी चाहिए। कोई अपने सिद्धान्तों के प्रति व्यक्त निष्ठा अन्ततः दूसरे सम्प्रदाय के प्रति द्वेष-वृत्ति जागरित करती है और यह द्वेष-वृत्ति हृदय की संकुचित अवस्था का दुष्परिणाम है। हृदय की यह संकुचित अवस्था ही पाप है। 'स्व' का जितना अधिक विस्तार होता जाता है, व्यक्ति उतना ही उदार बनता है और वह उतना ही पुण्य का भागी बनता है। मनु और याज्ञवल्क्य भिन्न विश्वासियों की प्रथाओं का आदर करने का उपदेश देते हैं। महात्मा बुद्ध ने कहा था, ऐसा कभी मत सोचो या कहो कि तुम्हारा अपना धर्म ही श्रेष्ठ है। दूसरों के धर्म को कभी अस्वीकार मत करो बल्कि उनमें से जो आदर योग्य हैं, उसका आदर करो। जो लोग धर्म को दूसरे देशों में ले जाने वाले थे अशोक उन्हें अपने एक स्तम्भ में निर्देश देता है— याद रखो कि तुम प्रत्येक जगह आस्था की कुछ जड़ें और विचार-सत्य पाओगे, ध्यान रहें कि तुम उन्हें प्रोत्साहित करो, नष्ट नहीं।

इसी प्रकार का दृष्टिकोण सभी मतावलम्बियों को अपनाना चाहिए। हम किसी भी मत से संबद्ध हो सकते हैं, पर किसी दूसरे मतावलम्बी के पास भी हमें जाने में कोई सकोच न हो, न दूसरा मतावलम्बी हमें विधर्मी समझकर हमारा तिरस्कार करे।

धार्मिक शिक्षा – किन्तु सर्व-धर्म-समभाव व दूसरे मतावलम्बी का सम्मान करने मात्र से समस्या समाप्त नहीं हो जाती। आधुनिक युग में धर्म-निरपेक्षता का नारा लगाने वाले लोगों ने यह भी प्रचारित किया कि धर्म या धर्मों (मतों) की शिक्षा पर रोक लगा दी जाए। यहाँ तक तमाशा हुआ कि गंगा व गौ पर लिखे पाठों को भी पाठ्यक्रम में रखने से इन्कार किया गया क्योंकि इनका संबंध

किसी धर्म-विशेष से है । हमारा मत है कि धर्म अथवा धर्मों की शिक्षा राष्ट्र में अनिवार्य होनी चाहिए । विभिन्न मत पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व भले ही न करें, किन्तु वे सत्य के उन विभिन्न पक्षों और धारणाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं जिनमें कि लोग विश्वास करते रहे हैं। वस्तुतः वे एक ही सत्य की विविध ऐतिहासिक अभिव्यक्तियाँ हैं । उनका (उनमें से किसी एक का नहीं वरन् सबका) अध्ययन हमें एक सार्वभौम सत्य की ओर ही ले जाता है । अपने मत के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिए आवश्यक है कि हम जहाँ अपने मत का अध्ययन करें वहाँ विभिन्न मतों का भी गहन अध्ययन करें, क्योंकि वे सभी एक ही संस्कृति के मूल्यवान् अंग हैं । उन सबका अध्ययन करके ही व्यक्ति उन मतों में विद्यमान धर्म के समान तत्त्वों का अन्वेषण कर सकेगा । उनके गहन अध्ययन से ही व्यक्ति सत्य के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार कर सकेगा ।

(क) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा १९४८ में धार्मिक स्वतन्त्रता के संबंध में निम्नलिखित निर्देश हैं––

धारा १८–– प्रत्येक व्यक्ति को विचार, विवेक और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है । इस अधिकार में उसको अपना धर्म या आस्था बदलने का अधिकार शामिल है । उसे यह भी स्वतंत्रता है कि वह खुद या दूसरों के साथ मिलकर निजी तौर पर या सार्वजनिक रूप से अपने धर्म की शिक्षा व पालन की अभिव्यक्ति करे व उनका व्यवहार और पूजा करे ।

धारा १९–– प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति का अधिकार है । इस अधिकार में बिना किसी हस्तक्षेप के मत बनाने और किसी भी माध्यम से किसी भी जगह से जानकारी चाहने, पाने और देन का अधिकार शामिल है ।

(ख) भारतीय संविधान में प्रारम्भ में ही घोषणा की है कि भारत का संविधान भारत के प्रत्येक नागरिक को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतंत्रता प्रदान करता है ।

जब व्यक्ति को यह सुविधा प्राप्त है कि वह अपनी रुचि के अनुसार किसी भी मत के प्रति आस्था व्यक्त कर सकता है, तब यह और भी अधिक आवश्यक है कि उस देश के नागरिक को कम से कम उस राष्ट्र में प्रचलित धार्मिक मतों का दार्शनिक स्तर तक का अध्ययन करने की पूर्ण सुविधा प्रदान की जाए हमारी सम्मति में राष्ट्र की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में धर्म-शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें धर्म के सामान्य तत्त्वों के अध्ययन के साथ विभिन्न मतों की शिक्षा भी हो ।

ऐसे पाठ्यक्रम तैयार करवाए जाएँ जिसमें प्रत्येक मत से सम्बद्ध लेख हों। लेख मत की प्रतिनिधि-सभाओं के माध्यम् से ही लिखवाएं जाएँ, ताकि उन्हें यह शिकायत न रहे कि उनके मत को ठीक प्रकार से प्रस्तुत नहीं किया गया। प्राथमिक कक्षाओं को नैतिक एवं चारित्रिक गुणों के विकास की शिक्षा तथा माध्यमिक एवं उच्चतर कक्षाओं को विभिन्न मतों की अनिवार्य शिक्षा व्यक्ति को विवेकपूर्वक धर्म का प्रयोग करने में सहायक सिद्ध होगी।

वर्तमान व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति विभिन्न मतों का अध्ययन नहीं करता। परिणाम यह होता है कि वह अपने मत को भी ठीक प्रकार से नहीं जानता। वह उसके बाह्य कर्मकाण्डपरक रूप से ही परिचित होता है। उसकी उस कर्मकाण्ड के प्रति अन्ध-श्रद्धा तो होती है, पर उसका विवेकसम्मत अभिप्राय वह भी नहीं जानता। दूसरे मतों से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण सुनी सुनाई बातों के आधार पर उसका अनावश्यक रूप से बिना तर्क के खण्डन करता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के मत को मानने का अधिकार देने का आज यह अर्थ हो गया है कि वह अपने पिता के मत को ही माने। जन्म के आधार पर व्यक्ति पर मत थोपने की प्रणाली तर्कसंगत नहीं कही जा सकती। किसी मतविशेष में रुचि तभी जागरित हो सकती है अथवा अनेक मत में से अपने लिए किसी एक मत का चुनाव वह तभी कर सकता है जब प्रत्येक मत की उसने विस्तृत शिक्षा प्राप्त की हो। इस प्रकार धर्म व सम्प्रदायों की शिक्षा से जहाँ व्यक्ति धर्म के मूल तत्त्वों को जान लेता है, वह यह भी जान जाता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के संबंध में ठीक जानकारी प्राप्त कर साम्प्रदायिक लोगों द्वारा उत्पन्न उसकी विद्वेष की वृत्ति समाप्त हो जाती है।

—प्रशान्त वेदालंकार

७/२ रूपनगर
दिल्ली—११०००७

युद्ध, शांति और धर्म

प्रकृति के प्रांगण में सारे जीव उत्पन्न हुए। मनुष्य भी उन जीवों में से एक हुआ। प्रत्येक जीव ने पैदा होते ही अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए भोजन की आवश्यकता महसूस की और वह भोजनान्वेषण में लगा। भोजन प्राप्त होने में यदि कोई बाधा या रुकावट आई तो उसने उसके लिए संघर्ष किया। भोजन प्राप्त होते ही उसका संघर्ष समाप्त हुआ और वह चैन की नींद सो गया। फिर वह बड़ा हुआ और उसने यौवन-अवस्था प्राप्त की। नर-जीव के शरीर में शुक्राणु-कोश विकसा, और वह प्रतीक्षारत हुआ कि उसे परिपक्व यौनि मिले जिस से वह मैथुन करे। उसी प्रकार यौवनअवस्था पर नारी रजस्वला हुई। डिम्ब स्खलित हुआ और वह पुरुष की प्रतीक्षा करने लगा। पुरुष और नारी की इस युगल प्रतीक्षारत मीलन होने में गर्भ धारण हो जाने पर संघर्ष समाप्त हो गया और एक नैसर्गिक आनन्द की सृष्टि हो गई· जिस में जीव (नर और मादा दोनों) खो जाते रहे। प्रकृति की जीव-जगत् को चालित करने के लिए यह अत्यन्त सहज और सरल प्रणाली बनी रही। तात्पर्य यह, कि संघर्ष प्रकृति की दी हुई नियति है। जिसे प्रत्येक जीवधारी सहज रूप में लेता है। किन्तु मनुष्य जाति की नियति में संघर्ष के साथ युद्ध भी शामिल हो गया। हो सकता है, आप को संघर्ष और युद्ध पर्यायवादी शब्द लग रहे हों, लेकिन नहीं, वे दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। दोनों शब्दार्थों का अन्तर थोड़े में आप यूँ समझें : संघर्ष प्रकृति की सहज क्रिया है जो किसी तात्कालिक लक्ष्य के लिए होती है और लक्ष्य प्राप्त होते ही समाप्त हो जाती है। वह पूर्व-नियोजित नहीं होती, तात्कालिक होती है और उसके परिणाम दूरगामी नहीं होते। युद्ध प्रकृति की सहज क्रिया नहीं है वह पूर्व-नियोजित गहरे धरातल से उठती है और उस के परिणाम दूरगामी होते हैं। विशेष बात यह है, कि युद्ध का कोई बाह्य लक्ष्य नहीं होता जो प्रकृति से नियंत्रित हो। अत: युद्ध की शृंखला कभी समाप्त नहीं होती। साधन चुकने पर वह कुछ अंतराल के लिए रुक जाती है और साधन जुटते ही वह फिर चालू हो जाती है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसम्बर, १९८६

युद्ध लड़ने की प्रथा मनुष्यों में ही है, अन्य जीवों में नहीं । मानव-सभ्यता के विकास का श्रेय बहूत कुछ युद्ध-कला के विकास को जाता है । एक युद्ध समाप्त होता है, समाप्त होते ही विजेता और विजित दोनों ही पक्ष, यदि जीवित रहे तो गत युद्ध का सिंहावलोकन करने में जुट जाते हैं । उस की कमियों को दूर करते हुए नये-नये घातक और सुरक्षात्मक अस्त्रों के निर्माण और नई व्यूह-रचना के आविष्कार पर लग जाते हैं । अगले युद्ध की तैयारी चालू रहती है । जैसे ही तैयारी पूरी हुई कि फिर दूसरा युद्ध शुरू हो जाता है । हर बार युद्ध रोकने की आवाज उठती है, प्रयास होते हैं, दबाव पड़ते हैं, किन्तु युद्ध तभी रुकता है जब साधन अपर्याप्त दिखने लगते हैं । युद्ध रुकने के बाद आतंकित मनुष्य-जाति शांति-शांति का कीर्तन करती है, किन्तु उसी के मध्य अगले युद्ध की तैयारी चालू रहती है । और जैसे ही तैयारी पूरी हुई तो चाहे कितना ही शान्ति-कीर्तन होता रहे, युद्ध हो ही पड़ता है । हर युद्ध में बर्बादी होती है, ध्वंस होता है, मनुष्य तौबा करता है, और बड़ी तेजी से निर्माण-कार्य चने पड़ता है । निर्माण का नया तकनीक विकसता है जिस से ध्वंस जल्दी ही ठीक हो जाए । इस तकनीक के विकास में ही सभ्यता के विकास-कदम भी बढ़ जाते हैं । उसी सभ्यता के साथ और भीषण युद्ध लड़ने की तैयारी हो जाती है तथा उपलब्ध साधनों में से श्रेष्ठ को चुन कर युद्ध-मशीन मे लगा दिए जाते हैं । इस प्रकार युद्ध और सभ्यता, सभ्यता और युद्ध परस्पर सहकारी बने हुए चले जा रहे हैं आज तक, और चलते रहेंगे तब तक, जब तक दो मनुष्य धरती पर जीवित रहेंगे ।

आदमी युद्ध लड़ता है; फिर आदमी ही सोचता है कि वह क्यों लड़ता है? लेकिन सोचना अपनी जगह, युद्ध अपनी जगह । दोनों ही क्रियाएँ साथ साथ या आगे पीछे चलती रही हैं और ऐसे ही चलती रहेंगी । इधर काफी विचार हुआ युद्ध के कारणों पर का प्रसिद्ध जनसंख्याशास्त्री माल्थस ने विचार दिया, कि युद्ध इसलिए होते हैं, क्योंकि जनसंख्या उपलब्ध खाद्य सामग्री से अधिक हो जाती है । युद्ध के द्वारा जनसंख्या खाद्य-सामग्री के बराबर हो जाती है, तो युद्ध रुक जाते हैं । फिर जनसंख्या ज्यामितीय गती से बढ़ने लगती हैं और खाद्य-सामग्री गणितीय ढंग से, तो लगभग बीस वर्ष में स्थिति फिर ऐसी बनती है कि जनसंख्या और खाद्य-सामग्री में २:१ का अनुपात हो जाता है । फलतः युद्ध फिर भड़क जाते हैं और सारी मानवता उसकी चपेट में आ जाती है । माल्थस की बात सुन कर लोगों को ऐसा लगा जैसे उन्हें कोई आर्य सत्य हाथ लग गया हो और एक

भयंकर समस्या का कारण सूझ गया हो । इतिहास ने माल्थस को कंधों पर उठा लिया और उस की दृष्टि से सारे इतिहास की पुनर्व्याख्या शुरू हो गई । युद्धों के कारणों की पुरानी प्रस्थापना –ज़र–ज़ोरु ज़मीन– कुछ काल के लिए दब गई । और इसी शताब्दि की घटनाओं से सत्यापन किया जाने लगा, कि वर्ष १९२० में पहला विश्व युद्ध समाप्त हुआ तो ठीक २० वर्ष बाद १९४० में दूसरा महायुद्ध शुरु हो गया । फिर जब यह दूसरा महायुद्ध १९४४ में समाप्त हुआ, तो मनुष्यों को पूरा विश्वास हो गया कि माल्थस शत प्रति शत सही है । अतः अब १९६४ में युद्ध फिर भड़केगा । और सारे राष्ट्र आतंकित होकर तीसरे महायुद्ध से जूझने की तैयारी में जुट गए । बेचारी मानवता युद्ध-समाप्ति के बाद एक रात भी चैन की नींद न सो पाई । तीसरे महायुद्ध का शैतानी भूत उस के सिर पर सवार हो गया । एक तरफ प्रत्येक राष्ट्र विश्व-युद्ध की तैयारी में जुट गया, तो दूसरी तरफ पूरी मानवता यू. एन. ओ. के मंच से विश्व-शान्ति की गुहार लगाने लगी । एक तरफ होने लगे नाभिकीय विस्फोट, तो दूसरी तरफ नाभिकीय चीख पुकार, कि युद्ध नहीं, युद्ध नहीं । बीस वर्ष गुज़र गए, महायुद्ध नहीं हुआ । अब दूसरी बीसी भी गुजरने वाली है । मनुष्यता दम सुख साथ देख रही है, क्या अब युद्ध होगा ? यद्यपि माल्थस की भविष्यवाणी असत्य हो गई है, किन्तु लोगों का विश्वास माल्थसीय आप्त-वाक्यों पर से नहीं निगा है । मन ही मन सोच सब रहे हैं कि युद्ध अवश्यम्भावी है । लेकिन माल्थस द्वारा बताया युद्ध का कारण नदारद है । विश्व की जनसंख्या अलबत्ता दो गुनी क्या तीन गुनी होने जा रही है, किन्तु खाद्य-सामग्री कम नहीं हुई । और यदि उपलब्ध साधनों को युद्ध-मशीन से अलग कर खाद्योत्पादन में लगा दिए जाएं, तो अब भी इतनी ही और जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराया जा सकता है । किन्तु नहीं, जैसे की मनुष्य को भोजन की इतनी जरूरत नहीं है, जितनी युद्ध की । तो यह प्रस्थावना गलत है कि भोजन की कमी से युद्ध भड़का करते हैं । कहीं कहीं, कभी कभी स्थानीय रूप में भोजन की कमी बहाना बन जाती है, लेकिन वहाँ भी वास्तविक कारण भोजन की कमी शायद नहीं हुआ करता है । और इस समय तो खाद्य-सामग्री कम नहीं है, फिर भी युद्ध की परिस्थितियाँ तैयार हैं । क्यों ?

फिर एक दूसरा शास्ता पैदा हुआ – कार्लमार्क्स उस ने घोषणा की कि युद्ध वर्ग-संघर्ष की अंतिम परिणति है । और वर्ग-संघर्ष का मूल कारण है आर्थिक संसाधनों का असमान वितरण । संघर्ष के दो पक्ष उस ने उजागर किए मालिक –

सर्वहारा; शोषक-शोषित। एक अल्पसंख्यक वर्ग इतिहास में ऐतिहासिक कारणों से आर्थिक उत्पादन के सभी साधनों पर कब्जा जमा लेता है और बहुसंख्यक वर्ग सर्वहारा बना हुआ गुलाम और शोषित रहने को बाध्य हो जाता है। फिर सर्वहारा वर्ग सगठित हो कर मालिक अथवा पूंजी-पति के प्रति विद्रोह करता है, जो क्रान्ति का रूप धारण करता है और तभी युद्ध हो जाता है। मार्क्स ने अपनी इसी प्रस्थापना के आधार पर पूरे मानव इतिहास का सिंहावलोकन किया और भविष्यवाणी की, कि युद्ध चलते रहेंगे जब तक कि पूर्ण शासनविहीन समाज, जिस में प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से स्वाधीन होगा, स्थापित न हो जाए। मार्क्स की उद्घोषणा से फिर मनुष्य को आशा बँधी कि युद्ध का वास्तविक कारण पा लिया गया है। जिस दिन समाजवादी क्रान्तियों से सारा संसार साधनों का समान वितरण कर मार्क्सीय आदर्श समाज (यूटोपिया) को प्राप्त कर लेगा, युद्ध समाप्त हो जाएंगे। इसी विश्वास पर लेनिन ने रूस में, माओ ने चीन में क्रान्तियाँ कर डाली। फिर उन्होंने क्रान्तियों का निर्यात भी किया और वे बिकीं भी। किन्तु वहं काम आगे रुक गया। देखा गया कि मार्क्स का आदर्श समाज का सपना कहीं दूर दूर तक सच नहीं हो रहा है। मानवता मृगमरीचिका के मोह-जाल में फँस कर युद्ध, फिर और युद्ध की फंतासी में ग्रसती जा रही है। त्रासदी का कहीं अंत नहीं है। साम्यवादी राष्ट्रों ने साधनों का समान वितरण करने के बाद भी युद्ध का निराकरण नहीं ढूंढ पाया। युद्ध का कारण फिर रहस्य बन गया।

•

युद्ध-लिप्सा की आग में घी झोंका **डार्विन और लॅमार्क** ने भी। प्रकृति योग्यतम का ही वरण करती है। योग्यतम का चयन युद्ध के द्वारा ही होता है। युद्ध होता है तो उस में जो योग्यतम है वह अतिमानव हो जाता है और वही धरती पर शासन करता है। वही धरती के साधनों का मालिक होता है। युद्ध समाप्त होते ही जीवों की प्रकृति की माँग के अनुसार अभियोजन-क्रिया शुरू हो जाती है। उन की शरीर-रचना, मानसिक रचना, बौद्धिक विन्यास में अधिक से अधिक अभियोजन की दिशा में परिवर्तन होने लगता है। अनुपयोगी का पृथक्करण, उपयोगी का समीकरण होता हुआ जीव समूह का जैविक विकास चालू हो जाता है। जैसे ही विकास इस स्तर पर पहुँचता है कि उस में से कोई और योग्यतम पैदा हो सके तो शासक अतिमानव को चुनौती दे दी जाती है और युद्ध फिर शुरू हो जाता है। अतिमानव का चुनाव फिर होता है और एक बार फिर धरती योग्यतम का वरण करती है

और सृष्टि का विकास और इतिहास-क्रम पूर्ववत् चालू रहता है। युद्धों की शृंखला अबाधित रहती है।

फिर एक कूटनीतिविशारद पैदा हुआ चर्चिल, जिस ने मान्य किया कि शक्ति का असंतुलन ही युद्ध का मुख्य कारण है। जब दो विपरीत खेमों में शक्ति के साधन समतुल्य रहते हैं, तो युद्ध शान्त रहता है। संतुलन बिगड़ते ही युद्ध भड़क पड़ता है। शक्ति-संतुलन का तात्पर्य है परस्पर भय का संतुलन, अथवा जब दोनों पक्षों को एक दूसरे से शंका रहे कि एक दूसरे का नुकसान करेगा तो दूसरा पहले का भी उतना ही नुकसान करने में सक्षम है। इस चिन्तन के अनुसार एक भय दूसरे समतुल्य भय से युद्धवर्जन किए रहता है। दोनों ही युद्धपिपासु पक्ष इस कोशिश में रहते हैं कि असंतुलन उन के पक्ष में चला जाए। इसीलिए वे खुले खुले या चोरी चोरी अपनी शक्ति बढ़ाने को आतुर हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर शस्त्रों की होड़ चल पड़ती है और ठंड़ा युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। यह ठंडा युद्ध गरम की अपेक्षा अधिक विनाशकारी साबित होता है। इस में मनुष्यों को उपलब्ध आर्थिक साधनों का अधिकांश झोंक दिया जाता है। सभ्यता का विकास अब मनुष्य के कल्याण से हट कर अंतर्राष्ट्रीय दादागीरी को मज़बूत करने की ओर मुड़ जाता है। प्रत्येक पक्ष शक्ति के जोर पर पहले अपने धड़े में मजबूती लाता है, व्यक्ति-स्वातंत्र्य को कुचल कर तानाशाही को प्रश्रय देता है और दूसरी ओर उसी आंतरिक दादागीरी के जोर पर दूसरे पक्ष को धौंसियाता है। धौंसियाने का ठडा युद्ध शक्ति-सतुलन के नाम पर चालू रहता है। और उन में कश्कश का दिखावा होता रहता है, इधर उधर छिटपुट स्थानीय युद्धों की वारदातें करते हुए, और अपनी अपनी पेशियों का स्वास्थ्य माँजा जाता है। फिर दोनों मल्लों को बलि के बकरे के लिए अविकसित कमजोर राष्ट्र दिखाई पड़ते हैं। उन की कूटनीति कुलांचे भरती हुई कमजोर राष्ट्रों को अपनी गिरफ्त में ले उठती है। मल्लों में अघोषित समझौता हो जाता है कि धरती पर दोनों का प्रभाव-क्षेत्र कितना रहेगा। और वे यथासंभव ख्याल रखते हैं कि एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में दखलन्दाजी न करें। और अपनी कूटनीति से छोटे और अविकसित राष्ट्रों को उकसा कर, मदद पहुँचा कर युद्धों में उलझाते हैं, मरवाते हैं और खुद तमाशा देखते हैं, मनोरंजन करते हैं। तो यह रहा चर्चिलवादियों का युद्ध-दर्शन का रूप और भविष्य के मानवीय इतिहास का आकलन।

द्रष्टव्य है, चर्चिल की इस प्रस्थापना से अधिक से अधिक केवल यह स्पष्ट हुआ कि युद्ध भड़कने की प्रक्रिया क्या है, यह नहीं, कि युद्ध भड़कते क्यों है? शक्ति-संतुलन बिगड़ता है तो युद्ध शुरू हो जाते हैं। लेकिन क्यों शुरू हो जाते हैं? क्या

आदमी पागल हो जाता है? बिना किसी कारण, बिना किसी लक्ष्य के लड़ उठता है? और फिर इस प्रक्रिया में शान्ति का सूत्र भी अजीब रहा कि संतुलन के दोनों पुलड़ों पर भय और आतंक के बटखरे बराबर बढ़ाते जाओ, तो शान्ति रहेगी। तो एक समय यह भी आ सकता है कि यह वर्धमान भय और आतंक की पीड़ा ही इतनी तीव्र हो जाए कि उस के सामने युद्धजनिक पीड़ा कम दिखने लगे, तो फिर शक्ति-संतुलन रहते हुए भी युद्ध शुरू हो सकता है। आत्मघाती युद्ध ही सही। इस प्रकार चर्चिलवादियों की प्रस्थापना भी युद्ध को टालने में एक बिन्दु से आगे कार्यकारी नहीं हो सकती। और वह प्रस्थापना भी फेल होने की तैयारी में है भी! लगता है पूरी मानवता ही हताश और पगलाए लोगों के हाथों बिकती जा रही है। हे भगवन्, क्या होगा?

पश्चिमी विचारों के क्षितिज पर एक नाम की और चर्चा करना न्यायसंगत होगा। वह नाम है **सिग्मंड फ्रायड**। इस महान् मनीषी ने जो युद्ध और शान्ति के कारणों की व्याख्या का आधार दिया, वह निश्चय ही एक सही दिशा में बढ़ा सही कदम कहा जा सकता है। भले ही वह कदम बहुत दूर तक न जा सका हो। फ्रायड की प्रस्थापना में युद्ध के कारण मनुष्य के गुह्य अंतरंग अथवा मन के अचेतन धरातल में छिपे हुए हैं। वे कारण हैं मनुष्य की कुंठाएँ, हताशाएँ, जो उस में पैदा होती हैं उस के सेक्स की अतृप्ति के कारण। फ्रायड का लिबिडो सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति सेक्स-स्पृहा के आतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन के विभिन्न सोपान सेक्स-विकास के ही सोपान हैं। इन्हीं सोपानों में जहाँ-जहाँ अवरोध पैदा होता है वहीं वहीं जड़त्व-बिन्दु (फिक्ज़ेशन्स) बनते जाते हैं जो मनुष्य के मष्तिष्क की भावी विकृतियों के कारण होते हैं। वे जड़त्व-बिन्दु ही मन की कुंठाएँ कहलाती हैं जो मनुष्य के मस्तिष्क में बेचैनी और आक्रोश पैदा करती हैं। वही आक्रोश पुँजीभूत हो कर युद्ध का रूप धारण करता है। इसलिए आक्रोशजन्य युद्ध का कोई लक्ष्य नहीं होता। वह मात्र हताशाओं की अभिव्यक्ति है, जो ध्वंस और हत्याओं से ही तृप्ति महसूसती है। युद्ध केवल समूह-मन की विकृति का द्योतक है। तो फिर फ्रायड के दृष्टिकोण से शान्ति-स्थापना की सम्भावना किस प्रकार है? शक्ति विकृति के इलाज से ही सम्भव है। मनोविश्लेषण उसका इलाज है। किन्तु समूह-मन का मनोविश्लेषण किस प्रकार किया जाय? आधुनिक मनोविज्ञान ऐसी कोई संस्था नहीं बना पाया है जो समूह-मन की चिकित्सा कर के विश्व-शान्ति की गारंटी दे सके। अतः फ्रायड की दिशा तो सही है किन्तु कदम अधूरे हैं।

अब आइए भारत की तरफ, जहाँ पैदा हुई बुद्ध–महावीर–गाँधी त्रयी की त्रिमूर्ति। इस त्रिमूर्तीय दर्शन ने युद्ध के कारणों में समूह-मन की विकृति को तो स्वीकार किया, किन्तु उस विकृति को फ्रायड की तरह मात्र सेक्स-कुंठा की पैदाइश न मान कर ऐतिहासिक कुसंस्कारिता को मान्य किया। युद्ध का मूल कारण सांस्कृतिक दोगलापन है। संस्कृति ऐतिहासिक चेतना के अंतर्विरोधों की पारस्परिकता से सृजित होती है। अंतर्विरोधों में संस्कारों की खेमाबंदी होती है। प्रत्येक खेमा अपना अलग केन्द्र बनाता है और अपने केन्द्र के चारों ओर गोल बना कर घोंघों की तरह एक ही जलाशय में अलग अस्तित्व बना डालता है। अलग अस्तित्व बनने के साथ ही उस को केन्द्र से जोड़े रखने के लिए पूर्वाग्रहों की तीलियाँ तैयार होती हैं। और अनेक घोंघाकार संस्कारों के अस्तित्व-चक्र घूमने लगते हैं। चेतना का जलाशय एक है, किन्तु उस में उसी के जलतत्व से बने अनेक घोंघाकार पूर्वाग्रहग्रस्त संस्कार-चक्र अपना अलग अस्तित्व लिए चक्रित हैं। इन चक्रित अस्तित्वों में से प्रत्येक अपने में सीमित हो कर यह समझ बैठता है कि वह ही सम्पूर्ण इतिहास-चेतना के जलाशय का पूर्ण प्रतिनिधी है। वही सम्पूर्ण इतिहास का स्रष्टा है। अतः उसी के होने का औचित्य है। इसी औचित्य-स्थापन के लिए प्रत्येक अस्तित्व दूसरे अस्तित्व को नकारता है। इसी नकार से युद्ध शुरू हो जाता है। तो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संस्कारों की खेमाबंदी ही सांस्कृतिक दोगलापन है। और यही दोगलापन युद्ध का कारण है।

दोगली संस्कृति के पूर्वाग्रहग्रस्त चक्र एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं और समस्त इतिहास को गंदा कर देते हैं, दूषित कर देते हैं। फिर शक्ति-संतुलन के नाम पर कीचड़ को कीचड़ से धोते हुए जीवन इतना दुरूह और बदबूदार हो जाता है कि उसे अब जीने का ही औचित्य नज़र नहीं आता। और वह आत्मघाती युद्ध में लिप्त हो उठता है। इससे बड़ी त्रासदी भला क्या हो सकती है? इसलिए गाँधी के देश ने शक्ति-संतुलन के आत्मघाती सिद्धान्त को अमान्य कर दिया, डार्विन के अतिमानव रूपी सर्वभक्षी दर्शन को अग्राह्य माना और मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त को गैरजरूरी घोषित कर दिया। उस ने माना कि जीवन में पाशविक वृत्तियाँ ही सब कुछ नहीं है, बल्कि जीवन में दिव्य तत्त्व प्रमुख है, भौतिक तत्त्व प्रधान नहीं है, मानवीय पक्ष प्रधान है। यह दिव्य और मानवीय तत्त्व ही जब प्रमुख होता है, तभी परम मांगल्य सृजता है, कल्याणकारी समाज निर्मित होता है। दिव्य-तत्त्व ही वस्तुतः ऐतिहासिक चेतना का संचालक है, भौतिक तत्त्व नहीं।

अतः युद्ध-मनोवृत्ति का निवारण संस्कृति को दोगलेपन से मुक्त करने से ही हो सकता है। उस में दया, करुणा, प्रेम, सहयोग से ओत–प्रोत सत्याग्रह की संकल्प-शक्ति से अपने आत्म को जिया जाता है और संस्कृति की धारा में, वीतरागता का अमृत घोल देता है। ऐसी वीतराग संस्कृति अहिंसक होती है। अहिंसा ही युद्धों की निरर्थक, विवेकशून्य, आत्मघाती प्रक्रिया से मुक्त कर सकती है। भारत ने इसी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए महाशक्तियों के खेमों से निरपेक्ष तीसरी दुनियाँ की न केवल कल्पना ही की, अपितु उसे साकार करने में जुट गया।

भारतीय दृष्टि सदैव अतिवाद से दूर **अनेकान्तवादी** उदारवादी मध्य मार्ग की पोषक रही है। वह यह नहीं मानती कि विश्व-चेतना के जलाशय में चक्रित देश-काल-परिस्थिति की खोल ओढ़े वैयक्तिक संस्कारचक्र एक दूसरे के शत्रु होते रहने के लिए अभिशापित हैं, बल्कि उन में दिव्यता, मानवीयता, सदाशयता के तत्त्व भी विद्यमान हैं। वे एक दूसरे के पूरक और मित्र अधिक हैं। प्रत्येक व्यक्ति-समूह की जड़ सर्वव्यापी, सर्वपोषी विश्वचैतन्य में अधिष्ठित है, जिस में न केवल मनुष्य ही अपितु संसार का प्रत्येक जीव उगता, रमता और विलीन हो जाता है। ऐसा उदार और व्यापक दृष्टि से युक्त सांस्कृतिक चरित्र धर्म का मार्ग है। और धर्म-मार्ग से ही युद्ध की विभीषिका से मुक्ति मिल सकती है।

युद्धवादियों ने युद्ध को संस्था का रूप दे दिया है। युद्ध–दर्शन, या युद्ध-कला, युद्ध–साहित्य तथा युद्ध की प्रशिक्षण संस्थाएँ अस्तित्व में आ गई हैं। संस्थाबद्ध युद्ध मनुष्य के चिंतन का अंग बन गया है। अब मनुष्य सोच भी नहीं सकता कि वह बिना युद्ध के रह जी सकता है। युद्ध जीवन का अनिवार्य अंग बन गया है। व्यक्ति व्यक्ति से, समूह समूह से, राष्ट्र राष्ट्र से बहाने ढूंढ़ ढूंढ़ कर लड़ता है और कल्याणकारी योजनाएँ रोक रोक कर सारे संसाधन युद्ध–मशीन के पुर्जे बनाने की होड़ में जोते जा रहे हैं। युद्धोन्माद आधुनिक जीवन-शैली का अभिन्न अंग है। तीसरी दुनियाँ के देश अपनी सुरक्षा के लिए युद्धोन्मादी हैं तो पहली और दूसरी दुनियाँ के धड़े अपना अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए युद्धोन्मादी हैं। बहरहाल, कम या अधिक प्रत्येक देश युद्धोन्माद की चपेट में है। तो इस संस्थाबद्ध युद्धोन्माद का निवारण छुटपुट वैयक्तिक स्तर के प्रयासों से सम्भव नहीं है। इस निवारण का प्रयास भी संस्थाबद्ध होना चाहिए।

जैसा कि कहा, कि यौद्धिक मनोवृत्ति धर्म से ही उपचारी जा सकती है। अतः धर्म का संस्थाकरण जरूरी है और यह भी जरूरी है कि वह आधुनिक तकनीक और भाव–बोध के माध्यम से ही हो। धर्म की प्राचीन संस्थाएँ आधुनिक संदर्भ में कालातीत हैं। आज की भौतिक तकनीकी और वैज्ञानिक चिन्तन की तर्क–प्रक्रिया धर्म अनदेखी नहीं कर सकता। जीवन जीने के नये माध्यम, यथा–तीव्रवेगीय यान, प्रेस, सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन, वीडियो, पॉपसंगीत, कलाबोध आदि धर्म के कलेवर से अलग नहीं रह सकते। औद्योगीकरण, नागरीकरण, अंतरराष्ट्रीयीकरण सब कुछ धर्म के खाते में समेटना होगा। इस प्रकार धर्म-संस्था का कैनवास व्यापक हो कर ही आधुनिक जनमानस में लोकोत्तर मूल्यों की ललक पैदा कर सकता है। लोकोत्तर जीवन–पद्धत्ति को जीने के लिए साधना का तकनीक आधुनिक तकनीकी से सुसंसगत कर के ही विकसाना होगा।

— प्रद्युम्नकुमार जैन

प्रधानाचार्य,
ए. एन्. झा. राजकीय इण्टर कॉलेज
रुद्रपुर – २६३१५३
(नैनीताल)
(उ. प्र.)

नैतिकता : व्यक्तिगत एवं सामाजिक

नैतिकता एक प्रकार की सामाजिक चेतना है जिससे समाज के नैतिक गुण यथा ‘शुभ,’ ‘परोपकार,’ ‘न्याय’ आदि निर्धारित एवं प्रतिबिम्बित होते हैं। वस्तुतः सामाजिक जीवन की व्यवस्थाओं, आदर्शों का योग ही नैतिकता है जो मनुष्यों के व्यवहार, उनके पारस्परिक कर्तव्यों तथा सामाजिक कर्तव्यों को परिभाषित करती हैं।[१]

प्रस्तुत निबंध का आरंभ हम एक आक्षेप या कठिनाई से करते हैं जो अक्सर नैतिकता के विरुद्ध उठायी जाती है। सर्वप्रथम यह पूछा जा सकता है कि क्या नैतिकता स्पष्टतः निरूपित है? उदाहरण के लिए यदि कोई चरित्र के ‘शुभ’ और ‘अशुभ’ गुणों पर विचार करता है तो क्या यह सर्वथा स्पष्ट रहता है कि कौन से गुण नैतिक हैं और कौर से गुण अनैतिक? पुनः यह जब कोई विचार करता है कि एक विशेष कर्म या विशेष प्रकार का व्यवहार अनुचित है, तो क्या यह लगभग अनिश्चित नहीं रहता कि वह नैतिक रूप से अनुचित है या नहीं? फिर यह भी एक दुविधा है कि करने योग्य शुभ कार्य हैं जो कि नैतिक रूप से शुभ नहीं हैं और करने योग्य अशुभ कार्य हैं जो नैतिक रूप से अशुभ नहीं हैं, लेकिन हैं वे अशुभ नीति या अशुभ व्यवहार। किन्तु कैसें इसे स्पष्ट किया जाय? कहाँ, क्यों और किस कसौटी पर इसे जांचा जाय? वस्तुतः नीतिशास्त्र में अबतक ऐसी सर्वमान्य कसौटी विकसित नहीं की जा सकी है जिसके आधार पर बिना किसी मतभेद के कर्मों को नैतिक या अनैतिक की संज्ञा दी जा सके।

अब हम इस बात पर विचार करना चाहेंगे कि नैतिकता की विषयवस्तु किस प्रकार सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिवर्तन के कारण स्वाभाविक रूप से अस्थिर तथा परिवर्तनशील है। लेकिन अनेक नीतिशास्त्रियों नें नैतिक समस्याओं को अत्यधिक स्थिर एवं अपरिवर्तनशील बताया है, जबकि वस्तुतः लोग हैराक्लिटस के सतत प्रवाह, अनवरत परिवर्तन, महात्मा बुद्ध के ‘सर्वं क्षणिकं क्षणिक’

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसम्बर, १९८६

और करीब-करीब असीमित विभिन्नताओं से घिरे हैं। उदाहरण के लिए 'हेगेल' की प्रशंसा उनके इस तथ्य को स्वीकार करने के कारण हुई है कि अवधारणाओं में से एक भी ऐसी नहीं है जो नीतिशास्त्र की सर्वमान्य अवधारणा कही जा सके।[२] वस्तुतः यह एक तथ्य है कि नैतिक अवधारणाएँ सामाजिक जीवन के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती हैं।

हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि 'परिवर्तित क्या होता है?' वह ठीक-ठीक क्या है जिसके बारे में हमें पूर्ण स्थिर दृष्टिकोण नहीं अपनाना है? निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट है कि दृष्टिकोण परिवर्तित होते हैं। इन प्रश्नों पर कि मानव आचरण में क्या उचित है, क्या अनुचित है, मानव चरित्र में क्या शुभ है या क्या अशुभ, क्या प्रशंसनीय है क्या निन्दनीय—– व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण समय-समय पर बदलता है, परिवर्तित होता है। इन बातों पर व्यक्ति के अपने वर्ग या समाज की कट्टरता, जो एक काल में होगी वह दूसरे काल में बदल सकती है। इतिहास और मानवशास्त्र के मामूली अध्ययन से भी यह स्पष्ट होता है कि देश और काल के परिवर्तन से व्यवहार का ढंग भी परिवर्तित हो जाता है। एक देश-काल में जिसे उचित कहा जाता है वही दूसरे देश और काल में अनुचित हो जाता है। उदाहरण के लिए जान-बूझकर हत्या करना अवांछनीय आचरण है। लेकिन कुछ समाज ऐसे हैं जहाँ जान-बूझकर अकारण अजनवियों की हत्या न केवल आपत्तिजन्य है बल्कि भावात्मक रूप से पुण्य कार्य मानी गई है।

यह वस्तुतः स्पष्ट है कि भिन्न विचारों से उत्पन्न व्यवहार के प्रचलित ढंगों की भिन्नता बड़े पैमाने पर व्यक्ति तथा समाज की मान्यताओं एवं विश्वासों की विभिन्नता का परिणाम हैं। उदाहरणस्वरूप, कर्मों के प्राकृतिक या अलौकिक फलों संबंधी विश्वासों में विभिन्नता को रखा जा सकता है। अजनवियों के सिर काट लेने का व्यवहार उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक है जिसे यह दृढ़ विश्वास हो कि कटे हुए सिरों की नियमित आपूर्ति से उसके समुदाय का अभ्युदय एवं कल्याण होगा। यह स्पष्ट है कि कामवासना संबधी विभिन्न व्यवहारों के सामासिक एवं मनोवैज्ञानिक परिणामों के बारें में विश्वासों की भिन्नता के कारण ही कामवासना संबंधी नैतिकता की कुछ विभिन्नताएँ हैं। वैसे यह ठीक है कि इन मान्यताओं एवं विश्वासों को ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। फिर भी, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि व्यक्ति एवं समाज की संपन्नता एवं जीवन-रक्षा की आवश्यक शर्तें विभिन्न सामाजिक एवं भौतिक स्थितियों में बहुत हद तक बदलती रहती हैं

और परिणामस्वरूप व्यक्तिगत एवं सामाजिक नैतिकता भी परिवर्तित होती रहती है।

फिर, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जीवन के प्रकारों, शर्तों तथा जीवन के बारे में दृष्टिकोण में कितने भी परिवर्तन क्यों न हो उनसे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि नैतिक अवधारणाएँ बदलती ही हैं। यह स्पष्ट है कि ठीक उन्हीं अवधारणाओं की सहायता से बहुत ही विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं। इससे यह नहीं निःसृत होता है कि यद्यपि 'क' के नैतिक दृष्टिकोण 'ख' के नैतिक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न हैं फिर भी 'क' ने उन्हीं नैतिक अवधारणाओं का प्रयोग नहीं किया है जिनका कि 'ख' ने किया है। अथवा 'ख' यदि अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करता है तो वह अवधारणाओं में भी परिवर्तन करता है। अर्थात् इसे दिखाने के लिए कि नैतिक अवधारणों में परिवर्तन होता है, यह बताना ही पर्याप्त नहीं है कि विभिन्न प्रकार के परिवर्तन तथा विभिन्नताएँ घटित होती हैं।

उपर्युक्त विचार के विरुद्ध यह आपत्ति हो सकती है कि जैसे शर्तों, विश्वासों और परिणामतः दृष्टिकोणों में परिवर्तन होते हैं वैसे ही अवधारणाएँ अनिवार्यतः परिवर्तित नहीं होनी है। फिर भी, वे वस्तुतः परिवर्तित होती ही हैं कारण लोगों के द्वारा व्यवहृत अवधारणाएँ स्वतंत्र रूप से कालशून्यता (टाइमलेसनेस) की स्थिती में विश्व की सामग्री का अंश नहीं हैं। वे मानवी चिंतन, कथन और क्रिया में प्रकट होती हैं, विकसित होती हैं, परिवर्तित होती हैं और कभी-कभी विनष्ट भी हो जाती हैं। लोग उन अवधारणाओं से घनिष्ट रूप से संबंधित रहते हैं जिनके बारें में वे सामान्यतः सोचने, कहने और उन्हें स्पष्ट करने का अवसर पाते हैं। निःसंदेह कोई भी व्यक्ति समाज से यह उम्मीद करेगा कि अपूर्ण रूप से और कभी दुरूह रूप से ही सही किन्तु समाज अपनी आवश्यकता के अनुसार आवश्यक अवधारणाओं को विकसित करेगा। समाज में इतनी अधिक भिन्नताएँ रहती आयी हैं कि निश्चय ही विभिन्न समाजों की अपनी-अपनी अवधारणाएँ हो सकती हैं और ऐसा होता भी है। न तो भाषाएँ खासकर मानवीय चरित्र और आचरण पर टीका करने के क्षेत्र में अचल हैं और न हमेशा शब्दशः अन्तर-अनुवाद योग्य ही। अतः निश्चय ही इसे मानना होगा कि न केवल शर्त, आवश्यकताएँ, विश्वास और दृष्टिकोण एक काल से दूसरे काल में तथा एक-स्थान से दूसरे स्थान में बदल जाते हैं बल्कि अवधारणाएँ भी उसी तरह बदल जाती हैं।

लेकिन क्या अभी तक हम लोगों ने यह कहा है कि नैतिक अवधारणाएँ बदल जाती हैं और फलतः ऐसी निश्चत नैतिक भाषा नहीं है जिसकी दार्शनिक

खोजबीन हो सके (अनिवार्य रूप से नहीं)? हां, यदि नैतिक अवधारणाएँ वे सभी अवधारणाएँ हैं जो किसी समाज में और किसी समय में मानव चरित्र और आचरण के चित्रण, प्रशंसा, निन्दा, स्तुति, भर्त्सना में प्रयुक्त नहीं होती हैं तो इन अवधारणाओं में चूंकी अत्यधिक विभिन्नताएँ हैं इसलिए नैतिक अवधारणाएं विभिन्न रूपों में निश्चय ही प्रकट होनी चाहिए। वह ऐतिहासिक रूप में परिवर्तनशील हैं, लेकिन तथ्यत: हमें यह नहीं कहना है। हमलोग यह चाहते हैं कि दो भिन्न ही नहीं लेकिन वस्तुत: विरोधी रूपों का उल्लेख होने के बावजूद निष्कर्ष फिर भी न रोका जा सके।”

हमारी समझ से इस संबंध में कुछ दार्शनिकों के अनुसार (अक्सर बिना स्पष्ट रूप से यह बताते हुए) नैतिकता की भाषा एक बहुत ऊँचे क्रम की व्यापकता है। यह व्यापकता ऐसी ही है कि जो बिना अपने में परिवर्तन किये हुए अन्य विषयों में परिवर्तन तथा भेद की विशाल श्रेणी को आश्रय देने में समर्थ है। सिर काटने वाले नागाओं की जीवन प्रणाली, उसके विचार और विश्वास निश्चय ही समुद्री ड़ाकुओं के नेता और विक्टोरियन विसौप के विचारों तथा विश्वासों से बहुत भिन्न हैं। भरचुज या सद्गुणों के नाम के सबंध में यूननियों तथा अंग्रेजों में भिन्नता है। फिर भी प्रत्येक अवस्था में यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग भले माने जाते हैं और कुछ लोग बुरे माने जाते हैं। कुछ कर्मों को उचित तथा कुछ कर्मों को अनुचित माना जाता है। कुछ कार्यों को करणीय, कुछ को अकरणीय कहा जाता है। यद्यपि इन सामान्य विचारों का वास्तविक प्रयोग निश्चय ही विभिन्न देश और काल में काफी भिन्न रूप में हुआ है तथापि ये विचार अपने आप में आदर्श रहे हैं, सबों की सम्मिलित संपत्ति रहे हैं। वे परिवर्तित नहीं हुए हैं। इस प्रकार यदि हम नैतिकता की भाषा को अनिवार्य रूप से ऐसे बहुत सामान्य अनिश्चित पदों, भला, बुरा, उचित, अनुचित, चाहिए आदि से निर्मित कहें तो हैराक्लीटस के प्रवाह में कुछ निश्चल तैरता हुआ प्रतीत होगा और ऐसा मानने का कारण भी है। मानवशास्त्री, इतिहासकार तथा हेगेल के विभिन्नता के आडम्बर के बीच कुछ दृढ़ तथा अपरिवर्तित जैसा है। नैतिक दर्शन का संबंध, यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों या इनके सामानार्थक शब्दों के कथन या विश्लेषण से है, यद्यपि जिसकी स्तुति या भर्त्सना होती है उसमें अत्यधिक भिन्नता हो सकती है। स्तुति एवं भर्त्सना के आधार अनन्त रूप से भिन्न हो सकते हैं। ऐसे निर्णयों का विशिष्ट शब्दकोश अत्यधिक भिन्न भी हो सकता है और नहीं भी या, आसानी से अन्तर-अनुवाद योग्य नहीं भी हो सकता है। फिर भी भला और बुरा, उचित और अनुचित, चाहिए और नहीं चाहिए की

बात एक रूप में या दूसरे रूप में सर्वमान्य मानी जा सकती है। वह किसी भी मानव समुदाय में सामान्य रूप से विद्यमान होती है।

लेकिन कोई उसी बिन्दु से प्रस्थान कर आगे बिलकुल विपरीत दिशा में भी जा सकता है और बिलकुल भिन्न निष्कर्ष पर पहुँच सकता है। विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर, यदि कोई यह निष्कर्ष निकालता है कि नैतिक अवधारणायें परिवर्तित होती हैं तो वह अयुक्तिपूर्ण और प्रायः अस्वीकार्य बातें करता है। वस्तुतः वह मान बैठता है कि वे सभी अवधारणायें, जिनके द्वारा लोगों ने कभी मानव के चरित्र और आचरण का मूल्यांकन किया है, नैतिक अवधारणायें कहलाने योग्य हैं और चूंकि वे अवधारणायें परिवर्तित होती हैं, इसलिए नैतिक अवधारणाएँ भी परिवर्तित होती हैं। लेकिन क्या यह युक्ति-संगत है? उदाहरणार्थ, यदि कोई प्रारम्भिक जातियों और आधुनिक मूर्तिकारों की शिल्प-कला के गहरे अन्तर को देखकर यह निष्कर्ष निकाल ले कि सौन्दर्यात्मक अवधारणायें परिवर्तित होती हैं, तो स्पष्टतः ऐसा निष्कर्ष आपत्तिपूर्ण और अप्रामाणिक होगा। इसका कारण साफ है। यह बिल्कुल संभव है कि प्रारंभिक जाति के मूर्तिकार सौन्दर्य की अवधारणाओं से बिल्कुल ही प्रेरित नहीं हुए हों। संभव है उनकी मूर्तियां जादू के प्रयोग या धार्मिकता या त्योहार में उनके महत्त्व को दृष्टि में रख कर बनायी गई हों। वे किसी भी आधुनिक अर्थ में कलाकार ही न हों और किसी भी प्रकार की सौन्दर्यात्मक अवधारणाएँ ही उनमें न हो। कुछ-कुछ उसी तरह यह देखकर कि 'अ' के विचार या 'अ' की अवधारणाएँ 'ब' के विचार या अवधारणाओं से किसी दूसरे काल में भिन्न हैं यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि नैतिक अवधारणायें परिवर्तित होती हैं – पहले यह निश्चित कर लेना होगा कि 'अ' और 'ब' दोनों को नैतिक अवधारणाएँ हैं। अन्यथा यह मानने के लिए कि नैतिक अवधारणाएँ परिवर्तित होती हैं – कोई संतोषप्रद युक्ति वा आधार नहीं होगा। यह दिखाकर कि 'गुल्ली-डंडा', जो बिल्कुल क्रिकेट नहीं है, से क्रिकेट आया है, यह नहीं स्वीकार करवाया जा सकता है कि क्रिकेट में परिवर्तन होता है।

यहाँ सुझाव यह नहीं है कि नैतिक प्रत्यय इतना अधिक सामान्य है कि कोई उसे युक्ति-पूर्वक देश और काल में सर्वव्यापक माने। बल्कि इसके विपरीत वे तुलनात्मक रूप से निश्चित, विशिष्ट प्रकार के हैं और इसलिए वे बदलते नहीं हैं यह सुझाव एक प्रश्न उपस्थित करता है – क्या कुछ अवधारणाओं को असंदिग्ध रूप से नैतिक अवधारणा कहने का कोई निश्चित तरीका है या कुछ विचारों को नैतिक विचार के रूप में पहचानने का कोई तरीका है? स्पष्टतः यदि ऐसा होता तो हम निश्चित रूप से कह सकते कि मानव आचरण एवं चरित्र

के मूल्यांकन में एक व्यक्ति–विशेष ने नैतिक अवधारणाओं का प्रयोग किया है या नहीं । ऐसा प्रतीत होता है कि शायद ऐसी विधि है, यद्यपि वह विधि क्या है – यह बताना सरल बात नहीं है । यदि एक ऐसा व्यक्ति हो जिसके 'भला', 'बुरा', 'उचित', 'अनुचित,' संबंधी विचार धार्मिक निषेध और गिरोह के युद्ध-कौशल के प्रति तीव्र भक्ति के संमिश्रण से उपजा हो तो हमलोग सरलता पूर्वक कह सकते हैं कि वह मनुष्य किसी चीज को नैतिक समस्या के रूप में लेता ही नहीं है, उसकी कोई नैतिक अवधारणा बिल्कुल ही नहीं है । वह कहता है कि उसका एक साथी अच्छा व्यवित है क्योंकि यह धार्मिक निषेधों के प्रति जागरूक है और दर्जनों मुण्ड घोलदारी के खम्भों पर लटकाये हुए हैं, तो हम युक्तिपूर्वक कह सकते हैं कि उसका निर्णय नैतिक नहीं है । यद्यपि वह अपने एक विशेष तरीके से किसी को अच्छा या बुरा कहता है फिर भी वह नैतिक अवधारणाओं का प्रयोग करता है ऐसा नहीं कहा जा सकता है ।

अपने कथन को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए मैं इनमें निहित विकल्पों को इस प्रकार रखना चाहूँगा –

(क) यह स्पष्ट है कि एक समय से दूसरे समय में तथा एक स्थान दूसरे स्थान में इस संबंध में कि मानव चरित्र और आचरण में,'क्या भला है' और 'क्या बुरा है' तथा 'क्या उचित है और 'क्या अनुचित है', अत्यधि विभिन्नताएँ रही हैं । इन चीजों को एक ही तरह से देखते हुए भी विभिन्न व्यक्ति विभिन्न निष्कर्षों पर ही नहीं पहुँचे हैं बल्कि वे उन चीजों को विभिन्न तरीकों देखते भी हैं । विभिन्न प्रकार के विचारों को चरित्र और आचरण के मूल्यांकन उचित माना गया है । अब अगर कोई मानव चरित्र और आचरण के मूल्यांक में नैतिक अवधारणा का इतने व्यापक अर्थ में व्यवहार करता है कि सभ अवधारणायें उनके अन्तर्गत चली आती हैं तो स्वभावत: प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी नैतिक अवधारणा स्वीकार करनी होगी और मानना होगा कि सामाजि जीवन के परिवर्तनों की तरह नैतिक अवधारणायें भी परिवर्तित होती हैं ।

(ख) इससे भिन्न, लेकिन इसी के अनुरूप एक और भी बात है । कोई क सकता है कि बहुत ढंगों में भिन्न प्राकृतिक घटनाओं में कुछ बातें सामान्य हैं जिन मानवशास्त्री हमें बताते हैं । अतः व्यावहारिक मूल्यांकन के सामान्य सिद्धान्तों युक्ति तथा सामान्य अवधारणाओं के स्वरूप और उनके बीच के संबंधों, जिन प्रयोग किसी उदाहरण-विशेष में होता है, पर विचार करना संभव है । यदि भौतिक अवधारणाएं हैं तो युक्तिपूर्वक हम कह सकते हैं कि वे परिवर्तित नहीं होती

इनसे जो काम लिया जाता है वह भले ही बदलता है अर्थात् बिल्कुल भिन्न कारणों से सर्वथा भिन्न प्रकार की वस्तुएँ एक काल से दूसरे काल में अच्छी या उचित कही जा सकती हैं। लेकिन व्यावहारिक मूल्यांकन में ही हम एक स्थिर नैतिक अवधारणा की बात कर सकते हैं।

(ग) फिर, कोई मान सकता है कि नैतिकता बौद्धिक और प्रायः उपयोगी रूप से भी, चरित्र और आचरण पर विशेष प्रकार का विचार है। इन्हें नैतिक दृष्टि से देखा जा सकता है। यह कोई व्यहारिक निर्णय में प्रयुक्त होने वाला दृष्टिकोण नहीं है, बल्कि एक विशेष दृष्टिकोण है जिसे भावात्मक रूप से पहचान कर निर्णय किया जा सकता है। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट नहीं है कि इसका परिवर्तन होता है। कुछ समाजों में कुछ खास समय में नैतिकता बिल्कुल पायी ही नहीं जाती या आंशिक रूप से ही पायी जाती है या प्रारम्भिक अवस्था में होती है या कुछ इसी तरह की बातें होती हैं। यदि मानव चरित्र और आचरण का मूल्यांकन किसी व्यवहारिक विधी से नहीं होकर किसी खास विधी से होता है तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह स्वयं इतनी नहीं बदलती है जितनी परिवर्तनों के क्रम में धीरे-धीरे प्रस्फुटित होती है और स्पष्टतः इस प्रकार गुण–दोष निरूपित करने के प्रयत्न को नैतिकता कहा जा सकता है।[३]

इस तीसरे विकल्प की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सामाजिक नैतिकता सामान्य नैतिक भावना है जो समाज के व्यक्तियों में प्रचलित रहती है तथा उनके चरित्र और आचरण को प्रभावित करती है। व्यक्ति नैतिकता का प्रथम पाठ सामाजिक रीति-रिवाजों से ग्रहण करता है फिर भी, वह उनसे पूर्णतया बंधा नहीं रहता है। कोई व्यक्ति अपनी पीढ़ी से अधिक विवेकी हो सकता है। वह अपने समय की सामाजिक नैतिकता से ऊपर उठ सकता है तथा प्रचलित रीति-रिवाज की अपर्याप्तता या निकृष्टता की खोज कर सकता है। यदि ऐसी बात हो तो वह अपनी वैयक्तिक नैतिकता के अनुरूप सामाजिक नैतिकता में परिवर्तन ला सकता है।[४] इतिहास साक्षी है कि सामाजिक नैतिकता पर व्यक्तिगत नैतिकता हावी हुई है। सुकरात, ईसामसीह, महात्मा बुद्ध, महावीर, कार्ल मार्क्स, राजा राम मोहन रॉय, मोहनदास करमचंद गांधी आदि ऐसे युग पुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने को सामाजिक नैतिकता से बंधा नहीं रखा है तथा उसमें परिवर्तन लाने के लिए अथक प्रयत्न किया है।

जे. बी. थाइरॉक्स ने नैतिकता की विवेचना में उसके चार पक्षों– धार्मिक, प्राकृतिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक– पर विचार करते हुए सामाजिक पक्ष पर

अधिक बल दिया है ।

धार्मिक नैतिकता – यह पारलौकिक सत्ता या सत्ताओं के साथ मानव के संबंध को व्यक्त करती है । उदाहरण के लिए यहूदी तथा ईसाई परम्पराओं में दस [५] में से प्रथम तीन आदेश नैतिकता के इसी पक्ष को व्यक्त करते हैं । ये आदेश ईश्वर के साथ मनुष्य के संबंध को व्यक्त करते हैं न कि अन्य मनुष्यों के साथ व्यक्ति के संबंध को । इन तीनों आदेशों में किसी के उल्लंघन से नैतिकता के इस विशेष कोड के अनुसार कोई किसी अन्य के प्रति अनैतिक आचरण नहीं करता बल्कि ईश्वर के प्रति उसका आचरण अनैतिक होता है ।

प्राकृतिक नैतिकता – यह प्रकृति से साथ मनुष्य के संबंध को व्यक्त करती है । प्राकृतिक नैतिकता का प्रचलन सभी प्रारम्भिक संस्कृतियों में है । अभी हाल में पाश्चात्य परम्परा भी प्रकृति को नैतिक रूप में व्यक्त करने के महत्त्व से अवगत हुई है । कुछ लोगों ने प्रकृति को मानव के शुभ के लिए मूल्यवान् कहा है लेकिन अन्य अधिकांश व्यक्तियों ने इसे अपने आप में शुभ तथा नैतिकता के विचार योग्य कहा है ।

व्यक्तिगत नैतिकता– यह व्यक्ति के अपने स्व के साथ संबंध को व्यक्त करती है तथा नैतिकता के व्यक्तिगत कोड, जिसे समाज या धर्म की मंजूरी हो या न हो, को बताती है । यह उच्चतर नैतिकता को स्वीकार करती है जिसे व्यक्ति के अन्तर खोजा जा सकता है न कि इस विश्व के परे किसी अलौकिक क्षेत्र में। कोई व्यक्ति किसी कर्म को करता है या नहीं करता है इस कारण कि वह स्वयं अपनी बुद्धि से उसे सही या गलत सोचता है, न कि समाज या कानून या धर्म के कारण । यह पक्ष नैतिकता के उस क्षेत्र को भी उजागर कर सकता है जो व्यक्ति के अपने दायित्व से संबंधित है । जैसे अपनी भलाई को आगे बढ़ाने के हेतु अपने कौशल को विकसित करने हेतु, अपने पर अड़िग रहने के हेतु कार्य पर बल देता है।

सामाजिक नैतिकता– यह पक्ष मनुष्य और अन्य मनुष्य के बीच के संबंध से जुड़ा हुआ है । यह नैतिकता का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है, कारण यह अनेकानेक नैतिक सिद्धान्तों में देखा जा सकता है । अधिकांश नीतिशास्त्रियों के अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानवीय नैतिक समस्याओं का उदय तब होता है जब मनुष्य सामाजिक समुदाय में आकर एक साथ रहने लगता है तथा आपस में झगड़ने लगता है। यहूदियों एवं ईसाइयों के नीति-शास्त्रीय सिद्धान्त में भी एक सबल सामाजिक संदेश है। वे इस बात पर बल देते हैं कि किस प्रकार एक मनुष्य को दूसरों के साथ व्यवहार करना चाहिए । प्रभु ईशु ने कहा है कि दो आदेश सबसे महान् हैं—

'ईश्वर से प्यार करो तथा अपने पड़ोसियों से प्यार करो।' ईसामसीह के कार्यों तथा उपदेशों पर ध्यान देने से यह स्पष्ठ होता है कि उन्होंने मनुष्यों के पारस्परिक नैतिक व्यवहार पर अधिक बल दिया है। वे यह कहते प्रतीत होते हैं कि यदि किसी व्यक्ति का अन्य व्यक्ति के साथ नैतिक आचरण होता है तो उस व्यक्ति का ईश्वर के प्रति आचरण स्वाभाविक रूप से नैतिक होता है। अंतिम फैसले की कहानी में इसे स्पष्ट कहा गया है। वे कहते हैं–"Whatever you have done to the least of Mine so have you done to Me."

दस आदेशों में तीन ही ईश्वर संबंधी हैं तथा बाकी सात आदेश सामाजिक पहलू से संबंधित हैं। अन्य धर्मों में भी, यथा बौद्ध एवं कनफ्यूसिआनिज्म में सामजिक पहलू को ही लगभग नैतिकता माना गया है, फिर प्रत्येक बात जो व्यक्तिगत पहलू से संबंधित है वह व्यक्ति की संस्कृति में अन्य के शुभ की ओर भी अभिप्रेत है।

अधार्मिक नैतिक सिद्धान्त जैसे मार्क्सवाद आदि भी सामाजिक पक्ष को ही उजागर करता है (नैतिक स्वार्थवाद – एथिकल इगोइज्म) आमतौर से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम निजी सुख के लिए ही कर्म करना चाहिए। इसका सिद्धान्त है 'प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए'। वस्तुतः स्वार्थ भावना ही समाज का आधार भी है। व्यक्तियों ने निजी रक्षा के लिए ही समाज की स्थापना की है। अतः समाज स्थापना के पीछे भी स्वार्थ ही छिपा हुआ है। उपयोगितावाद अपने सभी प्रकारों में अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख को मानव कर्मों का वांछनीय लक्ष्य मानता है, अतः स्पष्टतः सामाजिक पहलू को बताता है। परिणाम-निरपेक्ष-सिद्धान्त (डिऑण्टोलॉजिकल थिअरीज) उदाहरणार्थ गीता, कान्ट, ब्राडले आदि ने "कर्तव्य कर्तव्य के लिए" सिद्धान्त का समर्थन किया है। सामाजिक नैतिकता की अभिव्यक्ति काण्ट ने अपने प्रथम सूत्र में की है : उस सूत्र के अनुसार वह कर्म कीजिए जिसे तत्क्षण आप सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत कर कर सकें।[६] लेकिन यहाँ भी अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा दूसरों के प्रति कर्म पर अधिक जोर दिया गया है, यद्यपि दूसरों के प्रति नैतिक कर्म का कारण यहाँ नैतिक स्वार्थवाद या उपयोगितावाद से भिन्न है।

हमारे मत में महत्त्वपूर्ण बात इस बिन्दु पर यह है कि अधिकांश नैतिक सिद्धान्त वैयक्तिक या सामाजिक पक्ष पर या तो पूर्ण जोर देते हैं या अन्य पक्ष से अधिक बल देते हैं। वैयक्तिक नैतिकता एवं सामाजिक नैतिकता में संघर्ष की स्थिति में व्यक्तिगत नैतिकता के पालन को हम उपयुक्त नहीं मान सकते हैं।

अगर सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत नैतिकता का पालन करें तब वैसी स्थिती में सामाजिक नैतिकता गौण हो जायेगी । यह सही है कि हमें भावना एवं इच्छाओं का दमन करना चाहिए । लेकिन दमन की प्रक्रिया में सामाजिक नैतिकता की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए । सामाजिक नैतिकता अपने आप में महत्त्वपूर्ण है । इसका आधार व्यक्तिगत नैतिकता है क्योंकि व्यक्तिगत नैतिकता के पालन के अभ्यास से सामाजिक नैतिकता सामान्य रूप से सामने आती है ।

कुछ लोगों ने व्यक्तिगत नैतिकता को सामाजिक नैतिकता का विरोधी कहा है । कोई भी व्यक्ति न तो पूर्णतया स्वतंत्र है और न पूर्णतया गुलाम। जिस हद तक व्यक्ति को स्वतंत्रता है उस हद तक उसे अपने उचित आचरण के दिशा-निर्देश के लिए व्यक्तिगत नैतिकता की आवश्यकता है । कुछ चिन्तक यथा मार्क्स-कहेंगे कि व्यक्ति को, सामाजिक नैतिकता का ही पालन करना चाहिए। लेकिन हम लोग इस विचार से सहमत नहीं हैं । नर-मांस-भक्षण, नर-बलि, सती-प्रथा आदि का अंत प्रचलित नैतिक विचार के विरुद्ध नैतिक विरोध के कारण ही संभव हो सका है । यदि कोई व्यक्ति सर्वोत्तम जीवन जीने की गहराई से कामना करता है तो वह उसके लिए स्वतंत्र है तथा उसे समाजिक नैतिकता की खामियों पर विवेक युक्त चुनौति देने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

वस्तुतः नैतिक विश्वासों के दो पूर्णतया भिन्न स्रोत हैं—(क) एक राजनैतिक (ख) तथा दूसरा व्यक्तिगत धर्म और नैतिक आस्था । ओल्ड टेस्टॉमेंण्ट में ये दोनों विल्कुल पृथक् रूप में उपस्थित हुए हैं – एक कानून के रूप में तथा दूसरा पैगम्बरों के उपदेश के रूप में । मध्यकालीन युग में उसी प्रकार का भेद पुरोहितों के द्वारा मस्तिष्क में बैठायी गई अधिकार संबंधी नैतिकता और महान् रहस्यवादियों के द्वारा प्रशिक्षित एवं व्यवहृत धार्मिकता के बीच था । यह व्यक्तिगत एव सामाजिक नैतिकता के बीच का द्वैत, जो अभी भी बरकरार है, किसी भी (सही) नैतिक सिद्धान्त के प्रतिपाद्य विषयों में एक है । सामाजिक नैतिकता के बिना समाज ही नहीं रहेगा और व्यक्तिगत नैतिकता के बिना उसके अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं होगा । अतः एक शुभ विश्व के लिए सामाजिक नैतिकता एवं व्यक्तिगत नैतिकता दोनों समान रूप से आवश्यक हैं ।"

शुभ जीवन के लिए सामाजिक कर्तव्य का पालन सब कुछ नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत श्रेष्ठता का अनुकरण भी उनके लिए आवश्यक है । कारण, मनुष्य आंशिक रूप से ही सामाजिक है, पूर्ण रूपेण नहीं । उसमें विचार, भावना और प्रवृत्ति होती है जो बुद्धिमत्तापूर्ण या बेवकूफी से भरी हो सकती है, जो नेक और

निम्न कोटी की हो सकती है, जो स्नेह से ओत-प्रोत या घृणायुक्त हो सकती है। यदि उनका जीवन काम-चलाऊ भी होता है तो उसके विचार, भावना और प्रवृत्ति में सुधार की गुंजाइश अवश्य होनी चाहिए। कारण, यद्यपि एकांत में कुछ मनुष्य खुश नहीं हो सकते हैं तो उससे भी कम लोग वैसे समाज में खुश रह सकते हैं जहां वैयक्तिक क्रिया-कलाप के लिए स्वतंत्रता नहीं है।

स्टीफन एवं ब्राडले दोनों की मान्यता है कि एक उचित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना तभी संभव हो सकेगी जब समाज का प्रत्येक सदस्य समाज में अपने विशिष्ट स्थान को समझते हुए निष्ठा एवं सम्मानपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करेगा।

ग्रीन भी कहते हैं– " हम ऐसे समाज की सदस्यता ग्रहण किये हैं जिसके सामान्य शुभ को हम अपने व्यक्तिगत शुभ के रूप में कल्पना कर सकते हैं। इसलिए उक्त प्रत्यय का हम पर एक व्यावहारिक अधिकार है और इस सदस्यता का तात्पर्य है कि विशिष्ट अभिव्यक्ति में हमें अपने को आबद्ध रखना है। प्रत्येक को मूलतः अपने स्थान से संवद्ध कर्तव्य का पालन करना है।

अतः व्यक्तिगत नैतिकता एवं सामाजिक नैतिकता दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं है वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं। एक सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति हेतु दोनों सोपान का अंजाम देते हैं। इस प्रकार इन दोनो में अन्योन्याश्रय संबंध है।

– रघुवंश झा

दर्शन विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

टिप्पणियाँ

1. A Dictionary of Philosophy, Edited by M. Rosenthal and P. Yudin. Progress Publishers, Moscow, 1967 p. 297
2. W. H. Walsh; *Hegelian Ethics* (Macmillan 1969; p. 79)

3. There may be something that the notion of morality pretty definitely excludes but can it be supposed that there is something in particular whtsh it covers? Surely the notion is notoriously woolier, more disputable, more tolerant of diversity, than that.; C. J Warnock, *The Object of Morality;* p. 11

4. They represent tne social marality that the general moral spirit of the community in which they ere prevalent and influence the moral charactor and conduct of the invidual members. It is from the social manners and customes that an individūal receives his first moral training. Yet they are not absolutely biading on the individual. A person may be wiser than his generation. He may rise above the social morality of his times and discover the inadequacy or evil. charactor of the prevalent customs, If so, he is justified in transgressing them.

P B Chatterjee; *Outlines of General Philosophy,* Vol .1, p. 236, (1918)

5. The Ten commentments, Exod 20 1–17.

1. I am the Lord, your God, do not worship false gods.
2. Do not take the name of God in vain.
3. Keep holy the Sabbath Day.
4. Honour your father and your mother.
5. Do not kill.
6. Do not commit adultery.
7. Do dot steal.
8. Do not bear false witness against your neighbour.
9. Do not covet your neighbour's spouse.
10. Do not covet your neighbour's belongings.

6. Act only on the maxim which thou canst at the same time will to become a universal law.

7 It is only so far as we are members of a society of which we can conceive the common good as our own, that the idea has any practical hold on us at all, and this very membership implies confinement in our iudiviudal realisation of the idea. Each has primarily to fulfil the duties of his station.

T. H. Green, *Prolegomena to Etthics.*
p. 192

प्रोफेसर जगन्नाथ उपाध्याय

श्रमण-विद्या के मनीषी और विद्वान् प्रोफेसर पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय जी के आकस्मिक देहावसान पर **परामर्श** (हिन्दी) पत्रिका हृदय से शोक प्रगट कर उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करती है। मात्र सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में भी नहीं अन्य संस्थाओं में भी श्रमण-विद्या को स्वाधीन भारतवर्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करा देने में पण्डित उपाध्याय जी का अपना वैशिष्ट्यपूर्ण योगदान रहा है। श्रमण-विद्या से संबंधित कई संस्थाओं की संस्थापना में तथा उन्हें कार्यरत कराने में उन्होंने अपने अथक परिश्रम और अविरत लगन से अपना महत्त्वपूर्ण सक्रिय सहयोग प्रदान किया। प्रोफेसर उपाध्याय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से श्रमण-विद्या विभाग के तथा श्रमण-विद्या संकाय के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त करने के बाद बौद्ध तंत्र-विद्या का गंभीर अध्ययन करने वाले नेहरू फेलो रहे और उक्त विद्या को बढ़ावा तथा प्रोत्साहन दिलाने के उद्देश्य से एक स्वतंत्र संस्था की स्थापना में प्रयत्नशील थे। पंडितजी के निधन से श्रमण-विद्या के अन्यान्य पहलुओं का अध्ययन करनेवाले अभ्यासकों, अनुसंधानकर्ताओं तथा अध्यापकों को उनसे मिलनेवाले प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन का निर्झर अब बन्द हुआ और उक्त विद्या वर्धिष्णु होने की संभावना को गंभीर क्षति पहुँची।

परामर्श हिन्दी) के कार्य के प्रति भी प्रोफेसर उपाध्याय जी को आस्था थी। पत्रिका के आरम्भ से तो वे सदस्य रहे ही, लेकिन अपने मौलिक लेख पत्रिका के माध्यम से प्रकाशित करने का सौभाग्य भी उन्होंने पत्रिका को प्रदान किया था। उनके दुःखद निधन पर शोक प्रकट कर हम यही कामना करते हैं कि उन्हें जिस कार्य में रुचि थी उसे बढ़ावा तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करा देने की दिशा में अधिकाधिक संख्या में लोग प्रयत्नशील रहें। यही उनके प्रति उचित श्रध्दांजलि होगी।

— कार्यकारी सम्पादक

धर्म में ज्ञानात्मक तत्त्व की आवश्यकता

एक भाषा-विश्लेषणात्मक दृष्टि

धर्म में ज्ञान, भावना एवं क्रिया तीनों का समावेश माना गया है किन्तु प्राय: भाषा-विश्लेषक इसे ज्ञानात्मक तत्त्व से पूर्णत: रिक्त मानते हैं। उनकी दृष्टि में धार्मिक आस्था पूर्णत: अभिवृत्तिमूलक है। प्रस्तुत निबन्ध में मेरा उद्देश्य यह दिखलाना है कि इस प्रकार की धारणा धार्मिक-भाषा के एक-पक्षीय विश्लेषण का परिणाम है। यदि धार्मिक भाषा का उचित विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि धार्मिक कथनों का ठीक अर्थ उनके ज्ञानात्मक तत्त्व के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

धार्मिक आस्था को सम्पूर्णत: अभिवृत्तिमूलक मानने की प्रवृति का प्रारम्भ भाषा-विश्लेषण के क्षेत्र में सर्व प्रथम विट्गेन्स्टीन से होता है। यों तो ट्रैक्टटस में भी उन्होंनें दिखलाया है कि 'ईश्वर विश्व में व्यक्त कोई तथ्य नहीं अतएव धार्मिक कथन सम्भव नहीं हैं'[1], किन्तु बाद में इस चिन्तन को त्याग कर भी उन्होंने धार्मिक वाक्यों की ज्ञानात्मकता को स्वीकार नहीं किया। भाषा सम्बन्धी अपने नये प्रस्थान के आलोक में भी उन्होंने इन वाक्यों को शुद्ध अभिवृत्तिमूलक वाक्य ही सिद्ध किया। *Lectures and Conversations on Aesthetics, Psychology and Religious Beliefs* में संगृहित उनके विचारों में हम इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रमाण पाते हैं। यहाँ वे बतलाते हैं कि धार्मिक व्यक्ति के मन में धार्मिक विषयों के कतिपय चित्र होते हैं जो उसके जीवन-व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। सामान्य चित्र जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति को इंगित करते हैं वहाँ ये चित्र किसी सत्ता को इंगित नहीं करते वरन् धार्मिक व्यक्ति की चेतना के समक्ष रह कर उसके जीवन को एक दिशा देते हैं। इसके कारण वह अपने जीवन में उन अनेक सुखों का त्याग कर देता है जिन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं त्यागना चाहता। इस तरह ये चित्र उसकी जीवन-शैली का निर्धारण करते हैं[2]। उसकी जीवन-शैली में ही उसकी आस्था

परामर्श (हिंदी), वर्ष ८, अंक १, दिसंबर, १९८६

प्रकट होती है। यदि एक धार्मिक व्यक्ति की आस्था है कि ईश्वर प्रेमस्वरूप है तो वह उसकी प्रेम-पूर्ण जोवन-शैली में प्रकट होती है। विट्गेन्स्टीन के अनुसार जब धार्मिक व्यक्ति कहता है कि 'ईश्वर प्रेम-स्वरूप है' तो वास्तव में वह जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बतलाना चाहता है। वह यह कहना चाहता है कि सबों से प्रेम का व्यवहार करना ही उसके जीवन का ध्येय है और उसका आग्रह है कि दूसरे भी इसी प्रकार से व्यवहार करें। विट्गेन्स्टीन की दृष्टि में धार्मिक व्यक्ति इस वाक्य के द्वारा कोई परीक्षणीय तथ्य नहीं प्रकट करना चाहता, उसका कोई प्रयोगात्मक अभिप्राय नहीं होता जैसा कि किसी वैज्ञानिक परिकल्पना को व्यक्त करते हुए हमारा अभिप्राय रहा करता है। फिर भी देखने में ये वाक्य परिकल्पनात्मक प्रतिज्ञप्तियों जैसे लगते हैं जिससे भ्रम में पड़ कर कुछ लोग इसके पक्ष या विपक्ष में प्रमाण जुटाने का प्रयास करने लगते हैं। किन्तु–'वास्तव में प्रमाण की बात ही सारी चर्चा को बिगाड़ देती है[३]' – क्यों कि यदि हम पहले यह प्रमाणित कर लें कि सचमुच ईश्वर है और तब उसका विश्वास करें तो यह धार्मिक विश्वास नहीं कहलाएगा क्यों कि कोई प्रमाणों के कारण धार्मिक नहीं बनता[४]। अत: विट्गेन्स्टीन का मत है कि धार्मिक वाक्यों का कोई ज्ञानात्मक अभिप्राय नहीं होता; वे मात्र अभिवृत्तिमूलक अर्थ रखते हैं।

विट्गेन्स्टीन के विश्लेषण से धार्मिक आस्था केवल कतिपय व्यवहारों के आग्रह के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती है और विट्गेन्स्टीन ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है कि– "धार्मिक वाक्यों का अर्थ हम यह देख कर जान सकते हैं कि धार्मिक व्यक्ति इन वाक्यों के क्या परिणाम ग्रहण करता है; अपने जीवन में क्या चुनता तथा क्या छोड़ता है : अर्थात् वह किस तरह व्यवहार करता है उसी में इनका अर्थ प्रकट होता है[५]"। किन्तु वास्तव में इस प्रकार का मत धार्मिक भाषा के एकपक्षीय विश्लेषण का परिणाम है। यह ठीक है कि धार्मिक वाक्यों का एक अभिवृत्ति परक अभिप्राय होता है लेकिन यदि हम धार्मिक भाषा की निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ परीक्षा करें तो पाएंगे कि इस अभिवृत्ति को भी हम तभी स्पष्ट समझ पाते हैं जब उसके ज्ञानात्मक अर्थ को समझें।

अभिवृत्तिवाचक वाक्यों का अर्थ सामान्य तल पर वक्ता के व्यवहारों में प्रकट होता है। किसी भी अभिवृत्ति के कतिपय अपेक्षित व्यवहार होते हैं और इनके द्वारा ही उस अभिवृत्ति का निर्धारण होता है। यदि कोई व्यवहार प्रतिकूल हो तो अभिप्रेत अभिवृत्ति के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः सामान्य अभिवृत्तिवाचक वाक्यों का सम्पूर्ण अर्थ तदनुकूल अपेक्षित व्यवहारों में निहित होता है। लेकिन धार्मिक वाक्यों के साथ यह बात लागू नहीं होती। एक धार्मिक

व्यक्ति अपनी आस्था को व्यक्त करते हुए जब कहता है कि 'ईश्वर प्रेमस्वरूप है' तो एक अंश में वह जीवन के प्रति अपनी अभिवृत्ति का परिचय अवश्य देता है किन्तु इस परिप्रेक्ष्य में हम उससे जिन व्यवहारों की अपेक्षा करेंगे उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सम्पूर्णतया वे ही व्यवहार करे। फिर भी हम देखते हैं कि धार्मिक चर्चा में इस कारण से उसकी अभिवृत्ति को संदिग्ध नहीं ठहराया जाता है। अनेक उदाहरण इसके प्रमाण हैं जिनकी चर्चा और समीक्षा निम्नलिखित अनुच्छेदों में की जाएगी।

'ईश्वर प्रेम-स्वरूप है'— सर्वप्रथम इस वाक्य को लें। ये वचन यीशू के हैं। अभिवृत्तिपरक दृष्टि से इसका अर्थ हम यीशू के इन व्यवहारों से निरूपित करेंगे कि वे सम्पूर्ण जीवन को प्रेम से परिप्लावित करते हैं, दूसरों का दुःख मोचन करते हैं, अंधों को नेत्र की ज्योति तथा विकलांग को स्वस्थ काया देते हैं... इत्यादि। भय या शिकायत के व्यवहारों की अपेक्षा हम उनसे नहीं करेंगे। किन्तु हम देखते हैं कि क्रूस पर चढाए जाने पर वे पुकार उठते हैं— "एली एली लमा शबक्तनी" (हे परमेश्वर तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?) यह एक शिकायत का स्वर है या फिर भय की चीख? तो हमें मानना चाहिए कि यीशू की प्रेम की अभिवृत्ति संदिग्ध है, कम-से-कम क्रूस पर चढ़ाये जाने के समय तो अवश्य ही। किन्तु न केवल ईसाई वरन् अन्य अनेक धर्मावलम्बियों ने भी यीशू को महान्तम मसीहाओं की श्रेणी में रखा है एवं कभी उनकी प्रेम की अभिवृत्ति को संदिग्ध नहीं माना।

एक अन्य अधिक स्पष्ट उदाहरण लें जो यह प्रकट कर देता है कि एक धार्मिक व्यक्ति जीवन के प्रति पूर्ण अनासक्ति रख सकता है यद्यपि कि उसकी इस अभिवृत्ति को उसके व्यवहारों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। हिन्दू पुराणों में चर्चित 'जनक' का व्यक्तित्व ऐसा ही है। वे एक चक्रवर्ती सम्राट् हैं जिनका जीवन दुर्लभ भोगों के नित्य सेवन से भरा है। वे इन भोगों से बचने की चेष्टा नहीं करते। अतः व्यवहार के बल पर उनमें तथा एक विलासी व्यक्ति में भेद नहीं दीखता। यही कारण उनके पास ज्ञान प्राप्ति के निमित्त भेजे गए शुकदेव भी पहले उन्हें एक विलासी सांसारिक जीव समझ लेते हैं किन्तु बाद में वे यह समझने में समर्थ होते हैं कि जनक सचमुच अनासक्त व्यक्ति हैं और उनका 'विदेहत्व' यथार्थ है।

विभिन्न धर्मों के आख्यानों में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि धार्मिक चर्चा में केवल व्यवहार को व्यक्ति की आस्था की कसौटी नहीं

माना जाता । तात्पर्य यह है कि धर्म-शास्त्रीय भाषा में धार्मिक आस्था को व्यक्त करने वाले वाक्य शुद्ध व्यवहार परक अर्थ में प्रयुवत नहीं होते । इन वाक्यों से एक जटिल अभिप्राय को अभिव्यक्ति दी जाती है और धार्मिक अभिवृत्ति को अभिव्यंजन देना इस अभिप्राय का केवल एक पहलू है न कि स्वयं सम्पूर्ण अभिप्राय । यदि व्यवहारवादी पूर्वाग्रह के वशीभूत इस एक पहलू को ही सम्पूर्ण अभिप्राय मानने का आग्रह किया जाय तो वह भी बहुधा संदेहास्पद हो जाता है जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है । वास्तव में धार्मिक वाक्यों के पीछे आवश्यक रूप से एक ऐसा अर्थ निश्चित रहता है जो भले ही किसी अतीन्द्रिय सत्ता का संकेतक न हो ,तथापि व्यवहार से परे किसी अनुभूति का संकेतक अवश्य होता है । इस अनुभूति के सन्दर्भ में ही व्यक्ति की अभिवृत्ति का अर्थ भी स्पष्ट होता है । 'ईश्वर प्रेमरूप है'– यह वाक्य केवल प्रेमपूर्ण व्यवहार की प्रस्तावना नहीं करता वरन् प्रथमतः यह उस गहन अनुभूति का संकेत करता जिसके कारण व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन प्रेम की अभिव्यक्ति बन जाता है । इस अनुभूति से विच्छिन्न प्रेम का व्यवहार भी संदिग्ध हो जाता है ।

वास्तविक में धार्मिक वाक्यों को केवल अभिवृत्ति परक अर्थ देने की चेष्टा उसे नैतिक वाक्यों से मिला देती है जैसा कि आर. बी. ब्रेथ्वेट ने अपने निबन्ध "*An Empiricist's View of the Nature of Religious Belief*" में सिद्ध किया भी है । ब्रेथ्वेट ने बतलाया है कि नैतिक वाक्य अभीष्ट व्यवहार के प्रति वक्ता की प्रतिबद्धता एवं अन्य से उसे ग्रहण करने का आग्रह व्यवत करते हैं जब कि यही अभिप्राय कतिपय कथाओं के माध्यम से धार्मिक वाक्य भी व्यक्त करते हैं ।[६] किन्तु जैसा कि उक्त निबंध के शीर्षक से ही स्पष्ट है यह एक अनुभववादी मत है न कि धार्मिक भाषा का वस्तुनिष्ठ अध्ययन । कोई भी धार्मिक व्यक्ति यह नहीं मानता है कि जिन वाक्यों द्वारा उसकी आस्था व्यक्त होती है उनमें वह सिर्फ कुछ व्यवहारों की प्रस्तावना करता है । हमें भूलना नहीं चाहिए कि– 'किसी भी वाक्य में जो अभिप्राय व्यक्त होता है वह वक्ता का होता है न कि स्वयं वाक्य का[७]'। अतः जब धार्मिक व्यक्ति यह नहीं मानता कि धार्मिक वाक्यों के पीछे उसका अभिप्राय केवल व्यवहारपरक है तो इन वाक्यों की व्यवहारवादी व्याख्या सिर्फ बलात् आरोपित मत ही माना जा सकता है । यह ठीक है कि धार्मिक वाक्यों का रूप सामान्य तथ्यात्मक वाक्यों से कुछ भिन्न है किन्तु इसी कारण उनकी शुद्ध व्यवहार परक व्याख्या कर देना तो मनमानी है । सामान्य भाषा के नानाविध प्रयोगों का विवेचन करने की निष्पक्षता जब विट्गेन्स्टीन ने प्रदर्शित की तो उन्हें उचित था कि वे तटस्थ रूप से ही धार्मिक भाषाई खेल के तरीके प्रस्तुत कर देते

न कि अपनी ओर से इस खेल के नियम निर्धारित करते । वास्तव में अभी भी वे **ट्रैक्टेटस** वाली 'सत्यापनीयता (verifiability) के आग्रह से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाए हैं । यही कारण है कि उन्होंने कहा कि धार्मिक वाक्यों को तथ्यात्मक बतलाने की चेष्टा से वे मात्र अंधविश्वास सिद्ध होते हैं[८]। यहाँ एक अत्यन्त विचारणीय बिन्दु की ओर उनका ध्यान नहीं जाता जिसे स्पष्ट करना मैं आवश्यक समझता हूँ –

वह विचारणीय बिन्दु यह है कि अंधविश्वास की बात धर्म के प्रसंग में ही होती है– यह एक तथ्य है । ये धार्मिक आस्था से जुड़ी धारणाएँ हैं जिनके प्रति हम अंधविश्वास होने का दोषारोपण करते हैं । नैनिकता की धारणाओं के प्रति अंधविश्वास होनें का आक्षेप नहीं लगाया जाता । नैतिक प्रत्ययों को हम उचित एवं अनुचित की कोटियों में बाँटते हैं किन्तु अंधविश्वास की कोटि का प्रयोग इन सन्दर्भ में नहीं होता । तात्पर्य यह है कि अंधविश्वास का प्रत्यय नैतिक भाषाई-खेल के लिए अप्रासंगिक है जव धार्मिक भाषाई खेल के लिए यह प्रासंगिक है । हम किसी धार्मिक व्यक्ति की अवहेलना करने के लिए उसे 'अंधविश्वासी' कह सकते हैं लेकिन किसी नैतिक प्रवक्ता या उपदेशक को अंधविश्वासी कहने का कोई अर्थ नहीं होता, कम-से-कम साधारण अर्थों में तो हम ऐसा प्रयोग नहीं करते । इससे यह स्पष्ट है कि धार्मिक भाषाई-खेल नैतिक भाषाई-खेल से भिन्न है ।

अंधविश्वास की चर्चा करते हुए एक बिन्दु अति विचारणीय है । सामान्यतः हम मानते हैं कि जो धारणा वैज्ञानिक ज्ञान की कसौटी पर खरी न उतरे वह अंधविश्वास है । इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान अंधविश्वास और युक्ति-पूर्ण विश्वास का मापदण्ड माना जाता है । किन्तु हम इस तथ्य की ओर दृष्टिपात नहीं करते कि अंधविश्वास के प्रत्यय आधुनिक विज्ञान के उन्मेष के पूर्व से जनमानस में विद्यमान रहे हैं और सामान्य भाषा में बहुत पुराने समय से इनका प्रयोग होता रहा है । इस सन्दर्भ में बहुत सारे उदाहरण दिये जा सकते हैं कि अनेक धार्मिक व्यक्तियों ने अनेक प्रचलित मान्यताओं को उस युग में अंधविश्वास ठहराया है जव कि वैज्ञानिक ज्ञान का विकास नहीं हुआ था । यहाँ प्रमाण स्वरूप– एक-दो दृष्टांत प्रस्तुत करना ही उपयुक्त है–

आचार्य शंकर, जो वेद-सम्मत हिन्दू धर्म के समर्थक थे, उन्होंने काशी में ज्ञानी चांडाल के चरण छुए थे और परंपरागत वर्ण-भेद को अज्ञानपूर्ण मान्यता बतलाया था । उन्होंने ही माता की मृत्यु पर प्रचलित मान्यता को अंधविश्वास

मानते हुए संन्यासी हो कर भी स्वयं अपनी माता के मृतदेह का दाह-संस्का किया ।

यीशू एक बार ' स्वत ' के दिन अपने कुछ शिष्यों के साथ यात्रा कर र थे और एक खेत से गुजरते हुए उन भूखे शिष्यों ने अनाज की कुछ बालियाँ तोड़ कर खा लीं । इस पर फरीसियों द्वारा यह पूछे जाने पर कि ' सब्त ' के दिन खा कर उन्होंने धर्म विरुद्ध कार्य क्यों किया, यीशू ने कहा– ' सब्त का दि मनुष्य के लिए बना है न कि मनुष्य सब्त के दिन के लिए ।'

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि धर्म की चेतना रखने वाले अति विशिष्ट व्यक्तियों ने भी धर्म के नाम से चलने वाली बहुत-सी प्रचलित मान्यताओं को अंधविश्वास सिद्ध किया है और इसके पीछे कोई वैज्ञानिक ज्ञान नहीं वर 'उनकी धार्मिक चेतना रही है । अतः हम देखते हैं कि अंधविश्वास का प्रत्यय न केवल वैज्ञानिक ज्ञान की तुलना में प्रयुक्त होता रहा है वरन् धार्मिक चेतना के मापदण्ड से भी इसका प्रयोग निर्धारित किया जाता रहा है । फलस्वरूप यदि धार्मिक वाक्य का अभिप्रेत (reference) वैज्ञानिक ज्ञान से सिद्ध नहीं होता त इसी कारण उसे अंधविश्वास नहीं ठहराया जा सकता । ऐसा करने के पूर्व य देख लेना आवश्यक है कि धार्मिक चेतना के प्रकाश में भी यह अंधविश्वास कह योग्य है अथवा नहीं । यदि इस मापदण्ड पर वह अंधविश्वास सिद्ध नहीं होता त उसे अंधविश्वास कहना सामान्य भाषा के प्रयोग पर बलात् वैज्ञानिकता आरोपि करना ही माना जा सकता है, भाषा का वस्तुनिष्ठ अर्थ-निरूपण कदापि नहीं ।

हमने देखा कि सामान्य भाषा के स्वरूप को यथावत् समझने पर यह स्प हो जाता है कि धार्मिक वाक्य न तो नैतिक वाक्यों से मिला देने योग्य हैं और ही उन्हें अंधविश्वासपूर्ण अभिव्यक्तियाँ घोषित किया जा सकता है । वास्तव विट्गेन्स्टीन द्वारा इस प्रकार के निष्कर्ष लेने के पीछे उनका वह आग्रह है ज उन्हें धार्मिक भाषाई-खेल में धार्मिक अनुभूति के कार्य को स्वीकार नहीं कर देता । इस भाषाई-खेल में प्रत्येक आस्था-अभिव्यंजक वाक्य इस विशेष अनुभू को अवश्य संकेतित करता है । चूंकि यह एक मौलिक और समग्र अनुभूति होत है अतः इसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति की जीवन-शैली में भी अवश्य होती है, कि यह मात्र व्यवहार ही नहीं है । यही कारण है कि धार्मिक वाक्यों के व्यवहारवा अर्थ-निरूपण में उपरोक्त विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं । दूसरी ओर धार्मि अनुभूति के परिप्रेक्ष्य में यदि इन वाक्यों को समझने की चेष्टा की जाय तो सब विसंगतियाँ दूर हो जाती हैं । केवल एक प्रश्न शेष रहता है– धार्मि

अनुभूति की ज्ञानात्मकता का। निश्चय ही ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक ज्ञान हो तो विट्गेन्स्टीन का मत सत्य सिद्ध होगा। लेकिन तब उपरोक्त सब विसंगतियाँ भी खड़ी हो जाएंगी जिनसे हम कितना भी बचना चाहें बच नहीं सकते। इस स्थिति में कोई कृत्रिम समाधान ढूंढने की आवश्यकता नहीं वरन् सिर्फ यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि सामान्य भाषा का 'ज्ञान' केवल वैज्ञानिक भाषाई-खेल में काम आता है वरन् इसका प्रयोग धार्मिक भाषाई खेल में भी होता है जैसे कि गेंद का प्रयोग क्रिकेट में भी होता है और हॉकी में भी। यह ठीक है कि दोनों खेलों में गेंद से खेलने के तरीके अलग हैं लेकिन गेंद की कुछ अपनी विशेषता है जो इन दोनों खेलों के अलग तरीकों से प्रभावित नहीं होती। इसी रूप में ज्ञान का प्रत्यय जब धार्मिक भाषाई खेल में प्रयुक्त होता है और जब वैज्ञानिक भाषाई खेल में प्रयुक्त होता है तो इनके अलग तरीकों के बाद भी उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं बदलती नहीं। आवश्यकता है इन मौलिक विशेषताओं को समझने की जिसके कारण इन अलग-अलग भाषाई खेलों में 'पारिवारिक समानता' (family resemblence) दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान की एक मौलिक विशेषता को बतलाते हुए मैं यह कहना चाहूंगा कि यह सत्य और असत्य में भेद स्पष्ट करता है– विज्ञान में भौतिक सिद्धांतों के क्षेत्र में तथा धर्म में यथार्थ धार्मिक आस्था एवं अंधविश्वासपूर्ण धारणाओं के क्षेत्र में। अतः धार्मिक अनुभूति, जिसके आधार पर अनेकों धार्मिक व्यक्तियों ने परंपरा की बहुत मान्यताओं को अंधविश्वास ठहराया– ज्ञानात्मक मानी जानी चाहिए। इस आलोक में धार्मिक वाक्यों की तथ्यात्मकता समझी जा सकती है क्योंकि तथ्यात्मकता की कसौटी मिथ्यापनीयता है और इन वाक्यों का अर्थ चूंकि अंधविश्वास पूर्ण स्थितियों को बहिष्कृत (eliminate) करता है अतः ये मिथ्यापनीयता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

इस तरह हमने देखा कि धार्मिक अनुभूति को ज्ञानात्मक मानना उचित है और धार्मिक भाषा का एक वस्तुनिष्ठ अवलोकन हमें बतलाता है कि धार्मिक वाक्यों का उचित अर्थ इस अनुभूति के संदर्भ में समझा जा सकता है। इसलिए ज्ञानात्मक तत्त्व का धार्मिक आस्था से अलग नहीं किया जा सकता। जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है मेरा प्रयास भाषा-विश्लेषण से धार्मिक वाक्यों का अर्थ स्पष्ट करना है, धार्मिक आस्था की तात्त्विक परीक्षा करना नहीं।

– हिरेंद्र प्रसाद साहु

व्याख्याता,
दर्शन-शास्त्र विभाग
बी. एस्. कॉलेज, लोहरदगा–८३५३०२
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. Ludwig Wittgenstein; *Tractatus Logico Philosophicus,* अनुवादक– डी. एफ. पीयर्स और बी. एफ. मैक्गीनेस, रूटलेज एण केगन पॉल प्रकाशन, १९७८/६.३२ पृष्ठ ७३

२. देखें– *Lectures and Conversations on Aesthetics, Psychology and Religious Beliefs*, स. सिरिल वैरेट्, बेसिल ब्लैकवेल प्रकाशन, ऑक्सफोर्ड, १९७८, part– I, पृष्ठ– ५३.

३. वही, part– I, पृष्ठ– ५६.

४. वही, part– I, पृष्ठ– ५६.

५. वही, part– III, पृष्ठ–७०.

६. आर. बी. ब्रेथ्वेट, " An Empiricist's View of the Nature of Religious Belief." *Philosophy of Religion*. सं. बेसिल मिचेल ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड १९७६, पृ.– ८९.

७. " It is primarily people who mean and not statements"– John Wilson. " Verification & Christion Belief." *Philosophy of Religion*, एबरनेथी और लैंगफोर्ड प्रकाशन पृष्ठ– ३३२.

८. ' *Lectures and Conversations on* ......' ऊपरीवत्, पृष्ठ- ५

९. *The Bible, New Testament*. Gospel According to Mark, 3/28.

हमारे प्रकाशन

Daya Krishna and A. M. Ghose (eds) *Contemporary Philosophical Problems; Some Classical Indian Perspectives*, Rs. 13/-

S. V. Bokil (Tran) *Elements of Metaphysics within the Reach of Everyone*, Rs. 25/-

A. P. Rao. *Three Lactures on John Rawls*, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) *Language, Tradition and Modern Civilization*, Rs 53/-

S. S. Barlingay, *Beliefs, Reasons and Reflections*, Rs. 70

Daya Krishna, A. M. Gaose and P. K. Shrivastav (eds), *Philosophy of Kalidas Bhattacharya*, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) *Studies in Jainism*, Rs. 20/-

R. Sundara Rajan, *Innovative Competence and Social Change*, Rs 25/-

S. S. Barlingay (ed), *A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities* (Upto 1980) Part I, Rs 50/-

सम्पर्क करें
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे – ४११००७

श्रीअरविन्द का पूर्णतावाद

समकालीन भारतीय तत्त्व-चितको में श्रीअरविन्द का विशिष्ट स्थान है। श्रीअरविन्द आधुनिक भारत के महान् तत्त्ववेत्ता, योगी, कवि और आध्यात्मिक चिंतक हैं। उन्होंने नव्य-वेदान्त को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसीको दार्शनिक समुदाय में श्रीअरविन्द का पूर्णतावाद या श्रीअरविन्द का पूर्णतावादी दर्शन कहा जाता है।

नव्य वेदान्त वेद-उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा का नवीन रूप है। श्रीअरविन्द ने योगी होने के कारण वेद-उपनिषदों में प्रतिपादित ऋषि-मुनियों के अनुभूत रहस्यों को अच्छी तरह समझा था। इसलिए उन्होंने नव्य-वेदान्त या अपने पूर्णतावादी दर्शन में वदिक वाङ्मय की सांकेतिक और दार्शनिक भाषा का सम्यक् विवेचन किया है।

श्रीअरविन्द का पूर्णतावाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है। आचार्य शंकर का दर्शन यद्यपि वेदान्त की सर्वाधिक प्रचलित और मान्य दार्शनिक व्याख्या करता है, तथापि उसका अद्वैत पूर्ण अद्वैत नहीं है। शंकराचार्य की अद्वैत वेदान्ती परम्परा ब्रह्म और जगत् का परस्पर / विरोधी मानती है। उसके अनुसार ब्रह्म ज्ञाता है और जगत् ज्ञान का विषय है। ब्रह्म शुद्ध चेतना है और जगत् अचेतन है। ब्रह्म असीम है और जगत् देश-कालावच्छिन्न है। ब्रह्म अपरिवर्तनशील है और जगत् परिवर्तनशील है। ब्रह्म अमर है और जगत् मृत्यु तथा विनाश का विषय है। ब्रह्म स्वतत्र तथा स्व-अस्तित्ववान् हे और जगत् पराश्रित है। इस प्रकार शंकर के अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म और जगत् में इतना विरोध और इतनी विपरीतता उत्पन्न कर दी है कि उनमें कोई समन्वय या सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप कहा जाता है कि ब्रह्म और जगत् के मध्य कोई संबध स्थापित न कर पाने के कारण उन्हें जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार कर देना पड़ता है। यद्यपि आचार्य शकर ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक १, दिसम्बर, १९८६

व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है और उसे सत्य माना है तथापि पारमार्थिक अथवा तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से उन्होंने जगत् को कोई सत्ता प्रदान नहीं की है और उसका निषेध किया है ऐसा भी कहा जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म के साथ जगत् की सत्यता को स्वीकार करने पर दो विकल्प उपस्थित होते हैं। या तो जगत् को ब्रह्म से सर्वथा स्वतंत्र और एक पृथक् सत्ता स्वीकार करना पड़ता है या जगत् को ब्रह्म पर निर्भर और उसकी समग्रता का भाग मानना पड़ता है। पहले विकल्प को स्वीकार करने पर सांख्य की तरह द्वैतवाद उत्पन्न होता है[1] और दूसरे विकल्प को स्वीकार करने पर ब्रह्म की अपरिणामी, अक्षर और अविनाशी सत्ता प्रभावित होती है। इनमें से पहले विकल्प की निष्पत्ति के रूप में द्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें सत्ता की समस्या का समाधान नहीं होता।[2] इसके विपरीत दूसरे विकल्प के अनुसार जगत् को ब्रह्म की समग्रता का एक भाग मानने पर उसमें देश-काल की सीमाए उत्पन्न हो जाती हैं और वह अनिवार्य रूप से एक ससीम स्तर का ब्रह्म बन जाता है। अतः आचार्य शकर और उनके अनुयायियों के मत में जगत् को ब्रह्म की समग्रता का एक भाग मानना आत्मव्याघाती है। उनकी दृष्टि में इस आत्मव्याघात से बचने का एकमात्र उपाय जगत् की सत्ता का निषेध है क्योंकि ब्रह्म की एकता या समग्रता तभी अप्रभावित रह सकती है, और अद्वैतवादी दृष्टि तभी बनी रह सकती है, जब जगत् को अन्ततः मिथ्या स्वीकार कर लिया जाय।*

श्री अरविन्द ने शकर और उनके अयनुयायियों के इसी अभिप्राय को गंभीर चुनौती दी है। वह कहते हैं कि जगत् की सत्ता का स्वीकार करके भी अद्वैतवाद की स्थापना की जा सकती है। केवल ससीम या अमूर्त तर्कबुद्धि के कारण ही ब्रह्म और जगत् में प्रतीत होने वाला व्याघात असमाधेय प्रतीत होता है। हमारी तर्कबुद्धि इन व्याघातों द्वारा संभ्रमित हो जाती है और विभिन्न पदों और कोटियों के संकीर्ण तथा अमूर्त दृष्टिकोण के कारण उनका समाधान नहीं कर पाती है। श्रीअरविंद के अनुसार इन व्याघातों का एक ऐसी उच्चतर और अधिक नम्य तर्कबुद्धि के द्वारा समाधान हो सकता है जो इन कोटियों का एक गहन और व्यापक अर्थ प्रदान करती है। इस प्रकार एक उच्चतर तर्कबुद्धि इन तथाकथित विरोधों और व्याघातों—जैसे एक और अनेक, सत् और संभूति, असीम और ससीम, ज्ञान और अज्ञान तथा इसी तरह के अन्य बहुत से विरोधों और व्याघातों का भी एक गहन और व्यापक अर्थ के द्वारा समाधान कर सकती है। श्री अरविंद कहते हैं कि वास्तव में व्याघात सत्ता में

नहीं होते बल्कि हमारी सीमित तर्कबुद्धि या मन में होते हैं। यह इस कारण से होता है क्योंकि हम बुद्धि या मन के द्वारा सत्ता को जानना चाहते हैं। इसलिए हमें सभी तरह के असमाधेय व्याघातों और विरोधों का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि हम सत्ता को एक उच्चतर तर्कबुद्धि के द्वारा, जिसे श्रीअरविंद ने असीम का तर्क कहा है, जानने का प्रयास करें तब हम ब्रह्म और जगत् के मध्य तथाकथित विरोधों का समाधान कर सकेंगे। तब हम बिना जगत् की सत्ता का निषेध किये हुए पूर्ण अद्वैतवादी दृष्टिकोण को बनाये रख सकेंगे। डॉ. वरदाचारी के शब्दो में " असीम का तर्क अपने अन्दर असीम की उस पूर्णता को निहित रखता है, जिसकी तुलना ससीम सत्ताओं या उनकी अनेकताओं के योग से नहीं की जा सकती है।"[३] श्रीअरविंद के अनुसार असीम ससीम सत्ताओं की अनेकता का विरोधी नहीं है और न ही उनका खडन करता है। असीम और ससीम के मध्य जो निषेध हम लोग देखते हैं, वह उनका केवल एक व्यावहारिक वर्णन है; अन्यथा ससीम असीम की अन्तर्गूढ़ प्रकृति आवृत्त रूप का ही प्रकाशन है।

श्रीअरविंद का दर्शन पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन इसलिए है क्योंकि वे ब्रह्म या निरपेक्ष को एक और आधारभूत सत्ता मानते हैं। उनका पूर्णाद्वैतवाद या पूर्णतावाद इसलिए पूर्ण, सर्वांग या समग्र है, क्योंकि वे सत्ता के किसी भी पक्ष का निषेध नहीं करते हैं। उनका दर्शन, जगत् और जीव की वास्तविकता के निषेध पर आधारित नही हैं। यह दर्शन असीम और ससीम, एक और अनेक, सत् और संभूति, निर्धार्य और अनिधार्य अथवा निर्गुण और सगुण के मध्य सभी प्रकार के विरोधों का समन्वय करता है। आचार्य शंकर का अद्वैतवाद जगत् की वास्तविकता के निषेध पर आधारित है ऐसा माना जाता है। इसके विपरीत श्रीअरविंद का पूर्णतावाद जगत् अथवा जीव दोनों में से किसी की भी वास्तविकता के निषेध पर आधारित नहीं है। शंकर का अद्वैतवाद अपनी प्रकृति में अमूर्त और सर्व-अन्यापवर्जी है किंतु श्री अरविंद का पूर्णाद्वैतवाद पूर्ण और सर्व-समावेशी है। यह अपनी सर्व-परिग्राही एकता में सत्ता के सभी पक्षों को समाविष्ट करता है। श्रीअरविंद कहते हैं कि "यथार्थं एकतत्त्ववाद, सच्चा अद्वैत वह है जो समस्त पदार्थों को एकतम ब्रह्म–सर्वं खल्विदं ब्रह्म– मानता है और उसकी सत्ता को दो असम्बद्ध तत्त्वों में – नित्य सत्य और नित्य मिथ्या, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, यथार्थ आत्मा और अयथार्थ किंतु नित्य माया के रूप में विभक्त करने का प्रयत्न नहीं करता। यदि यह सत्य है कि केवल आत्मा ही अस्तित्व रखता है तो यह भी सत्य होना चाहिए कि सब आत्मा है।[४]

श्रीअरविन्द का पूर्णतावाद जगत् और निरपेक्ष, जड़-तत्त्व और आत्म-तत्त्व की वास्तविकता का समर्थन करता है। श्रीअरविंद ने दर्शन को आत्म-तत्त्व की उपेक्षा करने वाले भौतिकवाद और जड़-तत्त्व की उपेक्षा करने वाले अध्यात्मवाद की दो अतियों से, जिसे उन्होंने भौतिकवादी का निषेध और सन्यासी का नकार कहा है, बचने का निर्देश दिया है। उनके विचार में " इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन के आविर्भाव के लिए तथा मर्त्यलोक में अमृतत्व की भावना के लिए तब तक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक कि हम केवल इतना ही मानते रहें कि इस देह-प्रासाद में वास करने वाला, इस नश्वर वस्त्र को धारण करने वाला, अविनाशी परमात्मा है। हमें यह भी मानना होगा कि जिस भौतिक तत्त्व से यह निर्मित है, वह एक ऐसा श्रेष्ठ और उपयुक्त पदार्थ है, जिसमें से वह निरंतर अपने वसन बुनता रहता है, पुनः पुनः अपने महल बनाता रहता है।"[5] अतः जीवन से भाग कर अपनी रक्षा करने की अपेक्षा हमें जीवन के आभासों के पीछे अस्तित्व की अवस्थाओं के छोर पर अवस्थित उनके मध्य की एकरूपता को देखना होगा और उपनिषदों के शब्दों में यह घोषित करना होगा कि " जड़-तत्त्व भी ब्रह्म है।" श्रीअरविन्द ने एक सच्चे दार्शनिक की प्रतिभा के अनुरूप यह अनुभव किया कि जड़-तत्त्व से आरंभ करने का अर्थ यथार्थ में आत्मा से ही आरंभ करना है। यदि आत्मा को वास्तव में परम-सिद्‌धान्त बनना है तो इस स्थिति से कोई पलायन नहीं है कि अपनी अविचल स्थिरता और अपरिहार्य आवश्यकता के बावजूद जड़ भी आध्यात्मिक (आत्मिक) है। इसीलिए विवर्तन (विकास) का कार्य जड़ का आध्यात्मीकरण होना चाहिए, न कि जड़ से पलायन।[6]

श्रीअरविन्द जिस पूर्णतावाद या पूर्णाद्‌वैतवाद अथवा पूर्ण वेदान्त के पोषक हैं, उसके कई पहलू हैं। उन्होंने वेदान्त की जो पूर्ण व्याख्या की है, उसमें विचारों और अनुभूतियों का पूर्ण समन्वय है। इसीलिए उनके दार्शनिक प्रयासों में एक व्यापक समन्वय दिखाई देता है। श्रीअरविन्द ने शंकरोत्तर वेदान्त के अन्य समकालीन भारतीय चिन्तकों की भाँति ही व्यष्टित्व के मूल्य को समझा है और केवल समझा ही नहीं है, बल्कि उसके दिव्य और पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए पूर्णयोग की सशक्त आधारशिला प्रदान की है।

आर्ष वेदान्त की व्याख्या केवल द्‌वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद के रूप में की जाती है। केवलाद्वैतवाद सत्ता के निर्गुण-निराकार स्वरूप पर बल देता है। उसके अनुसार जीव और ईश्वर, यद्यपि अनस्तित्ववान् नहीं हैं तथापि परम सत् की दृष्टि से मिथ्या हैं। इस निर्गुण ब्रह्मवादी दृष्टिकोण का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि मनुष्य जगत् के निषेध और जीवन के त्याग में विश्वास

करने लगता है। यद्यपि एकतत्त्ववादी दर्शन का आध्यात्मिक महत्त्व असीम है, तथापि व्यावहारिक जीवन उसकी संन्यासवादी प्रवृत्ति के विपरीत प्रभाव से ग्रस्त हो जाता है। विशिष्टाद्वैतवाद सत्ता के वैयक्तिक स्वरूप पर बल देता है। सगुण ब्रह्म अतिप्राकृतिक गुणों और शक्तियों से युक्त है। सगुण ब्रह्म का निर्वैयक्तिक स्वरूप दिव्य सत्ता के सर्वव्यापी प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होता है। ब्रह्म के निराकार स्वरूप की व्याख्या विशिष्टाद्वैतवाद उसके अपरिमेय ऐश्वर्यों के रूप में करता है। जिस प्रकार जिसका कोई मूल्य न हो वह अनमोल होता है, उसी प्रकार जिसका कोई स्वरूप न हो वह असीम रूप, गुण, ऐश्वर्य और शक्ति वाला होता है। इस विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि मनुष्य अतिप्राकृतिक रूप से धार्मिक और भावनात्मक जीवन को स्वीकार कर लेता है। इसके प्रभाव के फलस्वरूप मनुष्य धार्मिक आनन्द और भावातिरेक में डूबकर समाज से दूर हो जाता है और प्रज्ञा की निर्भ्रान्त शान्ति और स्वच्छता (स्पष्टता) को खो देता है। द्वैतवाद सत्ता के उस बाह्य परात्पर स्वरूप पर बल देता है, जो ससीम आत्माओं पर शासन करती है। इसके अनुसार व्यष्टि आत्माएँ न केवल एक-दूसरे से पृथक् हैं, बल्कि परम ईश्वर (परमेश्वर) से भी पृथक् हैं। इस प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि मनुष्य पृथक्ता की भावना के कारण पाप की भावना से पीड़ित हो जाता है[७] और एक बाह्य शक्ति पर पूर्ण रूप से निर्भर हो जाता है। द्वैतवाद भागवत सत्ता (दिव्य सत्ता) की एकता, अनन्तता और सर्वव्यापकता के मूल्य पर अपने दार्शनिक दृष्टिकोण की स्थापना करता है। यह व्यष्टि आत्मा की अन्तर्भूत स्वतन्त्रता और सारभूत एकता के गुह्यानुभूति के तथ्य का विरोध करता है।

श्रीअरविन्द की दृष्टि से वेदान्त की ये तीनों व्याख्याएँ अपूर्ण हैं। इस संदर्भ से श्रीअरविन्द वेद, उपनिषद् और गीता की मूल शिक्षा का समर्थन करते हुए कहते हैं कि निर्वैयक्तिक सत्ता, वैयक्तिक ईश्वर और व्यष्टि आत्मा – ये तीनों एक ही परम सत्ता के अस्तित्व के अविच्छिन्न और समान रूप से सत्य पक्ष हैं। सत्ता के ये सभी सारभूत सत्य हैं। निर्वैयक्तिकता सत्ता के निराकार और असीम सार को अभिव्यक्त करती है। वैयक्तिक ईश्वर, सत्ता की सर्जनात्मक प्रज्ञा की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। व्यष्टि आत्मा, सत्ता के विशिष्ट स्वरूप की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यष्टि सत्ता का एक विशिष्ट और अपूर्व मूल्य है। यह वैश्वशक्ति के आत्म-रूपों के भेद के (अपने-आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करने के) आनन्द की अभिव्यक्ति है। वैश्व-शक्ति इस अर्थ में वैयक्तिक होती है कि वह व्यष्टित्व के अपूर्व मूल्य की रचना करने और उन्हें सुरक्षित रखने में

रुचि रखती है। व्यष्टि, समष्टि या परात्पर पर एकपक्षीय और अत्यधिक बढ़े-चढ़े रूप में बल देने के कारण ही वेदांत के परम्परागत संप्रदाय परस्पर एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं।

श्रीअरविन्द के पूर्णतावाद में अनुभूति के पूर्ण सामंजस्य के दर्शन होते हैं। पूर्ण वेदान्त पूर्ण अद्वैतवाद का प्रतिपादन करता है। इस पूर्ण प्रतिपादन के कारण ही इसे पूर्णअद्वैतवाद या पूर्णतावाद कहा जाता है। पूर्णतावाद जगत् के स्वरूप की व्यापक और पूर्ण दृष्टि के अनुसार व्याख्या करता है। वह इस सम्बन्ध में मनुष्य के ज्ञान के सभी पक्षों का समन्वित उपयोग करता है। किन्तु पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराएँ मनुष्य की विविध अनुभूतियों के एक या दूसरे पक्ष को ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानने के कारण एक-दूसरे का विरोध करती हैं। उदाहरण के लिए भौतिकवाद प्रायः भौतिकशास्त्री या प्राकृतिक वैज्ञानिक का दार्शनिक दृष्टिकोण है, जब कि अध्यात्मवाद धार्मिक मनुष्य का जीवन-दर्शन है। प्राणवाद प्रायः उस जीवशास्त्री का दर्शन है, जो दार्शनिक हो गया है, जब कि नैतिकतावादी प्रायः अपने दर्शन का निर्माण नैतिक विज्ञानवाद (प्रत्ययवाद या आदर्शवाद) या विज्ञानवादी विकासवाद के रूप में करता है। व्यवहारवाद या फलवाद प्रायः उस मनुष्य का दर्शन है, जो कर्म (क्रियाशील जीवन) में विश्वास करता है जब कि निरपेक्ष विज्ञानवाद निवृत्तिपरक जीवन का परिकल्पनात्मक चिन्तन है।[८] पूर्णतावादी दर्शन यह मानता है कि जब तक सत्ता की पूर्ण दृष्टि का विकास और चिन्तन नहीं किया जायेगा तब तक सत्ता को पूर्ण रूप से प्रस्तुत करना संभव नहीं है।[९] सत्ता की पूर्ण दृष्टि का विकास मनुष्य की विविध अनुभूतियों और उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों के पूर्ण समन्वय से ही संभव है। मनुष्य की संपूर्ण सत्ता की समन्वयात्मक व्याख्या से ही परमार्थ तत्त्व की पूर्ण दृष्टि प्राप्त हो सकती है। सत्ता की पूर्ण दृष्टि में दो बाते होती हैं। पहली यह कि वह परम तत्त्व से तत्काल सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और दूसरी यह कि उसमें दृष्टि का विस्तार और व्यापकता है, वह सहज बुद्धि, विज्ञान, कला, नैतिकता और धर्म के रूप में मनुष्य की विविध अनुभूतियों का समन्वय करती है, और मनुष्य की जाग्रत, स्वप्न तथा गुह्य अवस्थाओं की अनुभूतियों में सामंजस्य स्थापित करती है।

जहाँ व्यावहारिक मनुष्य काल पर अत्यधिक बल देता है वहां रहस्यवादी प्रायः कालातीत पर विशेष बल देता है। रहस्यवादी की अनुभूति कभी-कभी इस सीमा पर पहुँच जाती है, कि वह जगत् के नानात्व को मिथ्या आभास कह देता है। पूर्णतावादी दर्शन इस अतीन्द्रिय रहस्यवादी अनुभूति और ऐन्द्रिक जगत् की

अनुभूति के मध्य समन्वय करता है। श्रीअरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्णता शाश्वत के स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित जगत् के देश और काल का समर्थन करती है। यह मानव अनुभूति के सभी पक्षों का एक व्यापक सत्य-दृष्टि में सामंजस्य करती है। पूर्णतावाद को समझने की दृष्टि से 'यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि अनुभूति का सामंजस्य केवल सहज बुद्धि और विज्ञान की कोटियों की आलोचना में संभव नहीं है। न ही विभिन्न प्रकार की समस्याओं के तार्किक व्यावहारिक विश्लेषण से यह संभव है। दूसरी ओर, ऐसा केवल रहस्यवादी अनुभूति के बौद्धिकीकरण (बुद्धि-संगत व्याख्या) से भी संभव नहीं है। अनुभूति का सामंजस्य केवल आत्ना-परिपूर्णता की प्राप्ति से ही संभव है। तात्पर्य यह कि यह केवल व्यक्तित्व के बौद्धिक, नैतिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक पक्षों की समन्वयात्मक व्याख्या के द्वारा ही संभव है।

श्रीअरविन्द का पूर्ण दर्शन या सर्वांग दर्शन एक व्यापक तत्त्वमीमांसीय समन्वय पर आधारित है। यह परिवर्तन और नित्यता (स्थायित्व) के सिद्धांतों का समन्वय करता है, यह विकासवाद तथा शाश्वतवाद का समन्वय करता है और यह रहस्यवाद तथा चिद्विन्दुवाद का समन्वय करता है। आधुनिक विचार परिवर्तन को समस्त अस्तित्व का एक तथ्य मानता है। बर्गसाँ ने कहा है कि अस्तित्व का अर्थ है परिवर्तन और परिवर्तन का अर्थ है विकास एवं परिपक्वता।[१०] इस कथन में यह तथ्य भी जोड़ा जा सकता है कि परिपक्व होने का अर्थ है किसी नये मूल्य का आविर्भाव। यह प्राचीन तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के लिए अच्छा उदाहरण है। प्राचीन तत्त्व-मीमांसा सत्ता के सार के रूप में नित्यता पर बल देती है। उसके अनुसार शाश्वत ही एकमात्र सत्य है। सत्ता अरिपवर्तनशील और अपरिवर्त्य है। इस अवधारणा की तार्किक परिणति के कारण ही परिवर्तन को न्यूनाधिक रूप में असत्य या भ्रम कहा जाता है। उदाहरण के लिए, शांकर वेदान्त और प्लेटो के विज्ञानवाद दोनों में नित्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है किंतु दोनों दर्शन-संप्रदायों में इसका अर्थ और मूल्य भिन्न-भिन्न है। शांकर वेदान्त में नित्यता को निराकार और अनिर्धार्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः नाशवान् वस्तुएँ और मर्त्य सत्ताएँ असत्य और द्रव्य के असत्य नाम-रूप हैं। उदाहरण के लिए स्वर्ण के आभूषणों के विविध नाम-रूप स्वर्ण के ही मिथ्या आभास हैं। ये स्वर्ण से उद्भूत होकर अन्ततः स्वर्ण में ही विलीन हो जाते हैं। प्लेटो के विज्ञानवाद के अनुसार स्वर्णाभूषणों का सौंदर्यपरक रूप या उसकी बनावट आधारभूत रूप से सत्य है, किंतु (सामान्य जगत् के) स्वर्णाभूषण, अपरिवर्तनशील रूप और बनावट की कल्पना और अनुकृति मात्र हैं। पूर्णतावाद इस तथ्य पर बल देता है कि विषय-वस्तुएँ उस वैश्व द्रव्य से कम सत्य नहीं हैं, जिससे वे निर्मित

हैं। स्वर्ण से बना आभूषण किसी भी अर्थ में स्वर्ण से कम सत्य नहीं है। इसी तरह व्यष्टि मानव-सत्ताएँ भी अपने व्यष्टित्व में वैश्व जीवनीशक्ति से या उस शाश्वत सत्ता से, जिससे वे उत्पन्न हैं, कम सत्य नहीं हैं।

श्री अरविन्द के पूर्णतावाद में व्यष्टित्व का मूल्य पूरी तरह सुरक्षित है। व्यष्टित्व का एक आन्तरिक मूल्य होता है। वह सत्ता का सारभूत अवयव है। उसे उन्होंने सत्ता की अभिव्यक्ति का एक विशेष रूप माना है। वह अपने सारभूत अंश में अज्ञान से उत्पन्न नहीं है, बल्कि सत्ता की अतिप्राज्ञ सर्जनात्मक प्रज्ञा से उत्पन्न है। वह परम तत्त्व की आत्म-अभिव्यक्ति का सक्रिय केन्द्र है। व्यष्टि-सत्ता सारभूत रूप से वैश्व जीवनीशक्ति का सक्रिय और अपूर्व केन्द्र होने के कारण जीवन और सामाजिक क्रियाशीलता से निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसका अस्तित्व केवल जीवन और मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए नहीं है। न उसका अस्तित्व केवल सुख और दुःख, ज्ञान और अज्ञान के द्वैत से मुक्त होने के लिए है। वह जीवन के सर्जनात्मक उद्देश्य के साथ अपनी सक्रिय आत्म-एकरूपता रखता है और विश्व-चेतना के विकासात्मक प्रमाण में साथ-साथ आगे बढ़ता है।

श्रीअरविन्द ने पूर्णतावाद की स्थापना केवल दार्शनिक चिन्तन के आधार पर ही नहीं की है, बल्कि उसके लिए पूर्णयोग की आधारशिला भी दी है। पूर्णयोग सामंजस्ययुक्त-सर्जनात्मक जीवन को कला है। पूर्णयोग जिस दार्शनिक ज्ञान को निष्पन्न करता है, वह निष्क्रिय, जीवन से पृथक् और मानवीय आक्रोशों को अनसूना करने वाला ज्ञान नहीं है। यह उस पूर्ण रचनात्मक चिंतन को और विकसित करता है जो दिव्य सत्ता के वर्तमान स्वरूप के अनुरूप जीवन और समाज को पुनर्सृजित करता है।

– अंजनी कुमार सिंह

दर्शनशास्त्र-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर, (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. राधाकृष्णन् ने द्वैतवादी वस्तुवाद को मिथ्या तत्त्वमीमांसा का परिणाम कहा है। देखें इंडियन फिलॉसफी, वॉल्यूम दो, पृ. ३२०.

२ वही, पृ. ३२८.

* यद्यपि आम तौर पर ऐसा स्वीकार किया जाता है तथापि शंकराचार्य द्वारा लिखित **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, उपनिषद्भाष्य या गीताभाष्य में इस स्वीकृति के लिये कहीं आधार नहीं मिलता– कार्यकारी सम्पादक

३. डॉ. के. सी. वरदाचारी, **ए क्रिटीक ऑफ द प्रमाणाज**, श्रीअरविन्द मन्दिर एनुअल १९४८, पृ. ११७.

४. श्रीअरविन्द, **द लाइफ डिवाइन**, श्रीअरविन्द जन्मशताब्दी पुस्तकालय संस्करण, खंड १८, पृ. ३१.

५ वही, पृ. ६

६ प्रोफेसर एस्. के. मैत्र; **ॲन इण्ट्रोडक्शन टु दि फिलॉसफी ऑफ श्रीअरविन्द**, पृ. ६.

७. ईसाई धर्म में मूल पाप की भावना को सामूहिक मन की अन्तश्चेतना में विद्यमान प्रवृत्ति की पृष्ठभुमि के रूप में देखा जा सकता है।

८. प्रोफेसर हरिदास चौधरी, **दि फिलासफी ऑफ इण्टिग्रालिज्म**, श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी, १९६७, पृ. ४

९ देखें, ठाकुर जयदेव सिंह द्वारा म्युनिसिपल कारपोरेशन बड़ौदा में 'दर्शन में श्रीअरविन्द का योगदान' विषय पर दिये गये उनके भाषण की प्रकाशित स्मारिका, १९७५, पृ. ६.

१० हेनरी बर्गसाँ, **क्रिएटिव इवोल्यूशन**, लन्दन : मॅक्मिलन एण्ड कम्पनी, १९२०, पृ. ८.

प्रतिक्रियाएँ

– १ –

परामर्श (हिन्दी) के खण्ड ७ अंक ४ में प्रकाशित डॉ. रामजी सिंह का निबंध "हिंदू कौन : प्रश्न और उत्तर" हमें सोचने के लिए बाध्य करता है।

मेरी समझ में डॉ. सिंह के उक्त निबंध में उठाया गया मुख्य बिंदु है– हिंदू कौन है? हिंदुत्व को परिभाषित करने की छटपटाहट ही निबन्ध का सार दीखता है।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, लेखक ने हिंदुत्व को परिभाषित करने में निम्न बिंदुओं या तथ्यों को स्वीकार किया है–

१. हिंदू-समाज के अन्तर्गत वैष्णव, शाक्त, शैव, बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्य-समाजी, सनातनी सभी आते हैं। इसलिए ये सभी हिंदू हैं।

२. इनमें से कोई वेद में आस्था रखते हैं, और कोई वेद में अनास्था रखते हैं। वेद में आस्था रखनेवाला आस्तिक और वेद में अनास्था रखनेवाला नास्तिक कहलाता है। इसलिए आस्तिक और नास्तिक दोनों हिंदू हैं।

आस्तिक वह भी है जो ईश्वर और आत्मा में विश्वास करता है। आत्मा में विश्वास करनेवाला पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, परलोक, स्वर्ग-नरक आदि सत्ताओं में भी विश्वास करता है। नास्तिक वह भी है जो ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं करता है। इसलिए वह पुनर्जन्म, परलोक आदि अलौकिक सत्ताओं में विश्वास नहीं करता। इस स्थिति में बौद्ध को आस्तिक (क्योंकि पुनर्जन्म में विश्वास है) तथा जैन को भी आस्तिक (क्योंकि आत्मा में विश्वास है) कहा जा सकता है। अतएव सीमित अर्थ में आस्तिक ही हिंदू है। यदि ऐसी बात नहीं

होती, तो 'वेदनिंदक' कहकर नास्तिकों की आलोचना क्यों की जाती, औ उन्हें हिंदू मानने से भी इन्कार क्यों किया जाता ?

आस्तिकों ने बौद्ध और जैन की उतनी प्रखर एवं तीखी आलोचना नहीं की, जितनी लौकायतिकों की। लौकायतिक ही सही माने में नास्तिक हैं। आस्तिकों की दृष्टि में वे 'अ-हिंदू' ही हैं। इसलिए लेखक ने हिंदू-समाज के अंतर्गत बौद्ध-जैन को तो लिया, लेकिन लौकायतिकों को नहीं रखा। अतएव उनकी दूसरी मान्यता एकांगी सत्य है।

३. हिंदू वह है जो अपनी-अपनी अनुभूतियों द्वारा विभिन्न सत्यों को स्वीकार करते हैं। किसी के लिए प्रकृति ही एकमात्र सत्य है, तो किसी के लिए विभिन्न देवी-देवताएँ। कोई एक ईश्वर को सत्य मानता है, तो कोई एक तत्त 'ब्रह्म' को ही सत्य स्वीकारता है। किसी के लिए ब्रह्म सगुण है तो किसी के लिए निर्गुण।

अतएव प्रकृतिवादी हो या अनेकेश्वरवादी, एकेश्वरवादी हो या एकतत्त्ववादी, सगुणवादी हो या निर्गुणवादी– सभी के सभी हिंदू हैं। पर प्रस्तुत निबंध में लेखक ने 'प्रकृतिवादी हिंदू' का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने यह चर्च अवश्य की है कि सत्य एक है जिसे विप्रजन विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इं वरुण, मातरिश्वा आदि नाम एक ही सत्य के हैं, और इन्हें 'देवता' कहा गय है। यद्यपि ये प्राकृतिक तत्त्व हैं, पर कोई हिन्दू इसे स्वीकारना नहीं चाहेगा। हिंदुओं के लिए ये देवता या ईश्वर हैं। इसलिए लेखक ने इन देवताओं के रू में अनेकेश्वरवादी हिंदू की चर्चा की है।

अनेकेश्वरवाद से एकतत्त्ववाद की धार्मिक-आध्यात्मिक यात्रा काफी रोचक है। पर इस यात्रा का प्रस्थान-बिंदु 'प्रकृतिवाद' है, जिसे भुला देना यात्रा क सही चित्रण नहीं है।

४. उक्त धार्मिक-आध्यात्मिक यात्रा का अंतिम-बिंदु ब्रह्मवाद (एकतत्त्ववाद) को माना जाता है। इसलिए ब्रह्म या ईश्वर (सगुण ब्रह्म) को एकमा सत्य माना गया है। मनुष्य का चरमलक्ष्य इस 'एकमात्र सत्य' की प्राप्ति क्योंकि यह सत्य ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। इस सत्य की प्राप् विभिन्न मार्गों द्वारा हो सकती है– भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, अष्टांग यो आदि। अपनी इच्छा, अभिरुचि और क्षमता के अनुरूप जो इन मार्गों क अपनाता है, वह हिंदू है। इस दृष्टि से जायसी और रसखान जैसे कवियों क

‘ हिंदू ’ कहना चाहिए । भक्तिकालीन कवियों में इन्हें वही श्रेष्ठता प्राप्त है जो तुलसी और सूर को ।

५. हिंदू वह है जिसमें संप्रदायवाद का आग्रह नहीं पाया जाता । जहाँ संप्रदायवाद नहीं होता, वहाँ विस्तार की प्रवृत्ति का अभाव होता है । अतएव हिंदुत्व की सही पहचान संप्रदायविहीनता तथा साम्राज्यविहीनता है ।

लेखक की इस मान्यता को स्वीकारने का अर्थ है कि सम्राट् अशोक जैसे व्यक्तित्व को हिंदू मानने से इन्कार करना ।

६. धर्मांतरण का विरोध करनेवाला हिंदू है । अपवादस्वरूप आर्यसमाज है, क्योंकि आर्यसमाज धर्मांतरण का समर्थक है । लेखक ने आर्यसमाज की इस प्रवृत्ति को ‘ प्रतिक्रियावादी विकृति ’ माना है ।

७. कर्मसिद्धांत में विश्वास करनेवाला हिंदू है । कर्मसिद्धांत आध्यात्मिक-नैतिक जगत् का कारणता सिद्धांत है, जिस प्रकार भौतिक जगत् का कारणता सिद्धांत होता है । ऋत, अदृष्ट, अपूर्व, धम्म, कर्म आदि रूपों में यह सिद्धांत कार्य करता है । भौतिक कारणता-सिद्धांत की तरह कर्मसिद्धांत भी एक मान्यता (Postulate) है, जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती । यह तर्क / विवाद के परे है । इसके द्वारा पूर्वजन्म; पुनर्जन्म, परलोक आदि की व्याख्या होती है । ये सभी सत्ताएँ आस्था / विश्वास के विषय हैं ।

तात्पर्य है कि कर्मसिद्धांत, परलोक, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म– जैसी सत्ताओं पर जो तर्क / विवाद करता है, वह हिंदू नहीं है । दूसरे शब्दों में, श्रुतिप्रमाण को स्वीकारनेवाला ही हिंदू है । इस दृष्टि से बौद्ध-जैन को हिंदू नहीं माना जा सकता । फलतः लेखक की प्रथम मान्यता (हिंदू-समाज के अंतर्गत बौद्ध-जैन भी आते हैं ।) खंडित हो जाती है ।

८. अंत में, हिंदू वह है जो अभेदवाद, धार्मिक सहिष्णुता और समन्वयवाद को अपनाता है । ‘ सहअस्तित्व ’ और ‘ वैयक्तिक कठमुल्लापन का अभाव ’ भी हिंदुत्व की सही पहचान कराते हैं ।

वैयक्तिक कठमुल्लापन का अर्थ है पुरोहितवाद । पुरोहितवाद के बिना क्या कोई हिंदू हो सकता है ? लेकिन सच्चा हिंदू वही होता है, जो पुरोहितवाद का समर्थन नहीं करता ।

उपर्युक्त सभी बिंदुओं (जिनमें कुछ पर मैंने अपना मंतव्य भी प्रस्तुत किया है) पर गौर फर्माया जाय, तो एक बात स्पष्ट होती है कि–

हिंदुत्व एक भावना है जो समस्त मानवता को एकसूत्र में बाँधकर रखती है ।

यह एक उदार भावना है जो **भ्रातृत्वभाव** एवं **विश्व-परिवार** की भावना उत्पन्न करता है ।

आज समस्त विश्व युद्ध की होड़ में लगा है । नृशंस हत्याओं का सिलसिला अनवरत जारी है । हम– एक साधारण मानव– हमेशा आशंकित और भयभीत हैं कि दुनिया कब विध्वंस कर जायेगी । विध्वंस के कगार पर खड़ी यह दुनिया हमें सोचने के लिए बाध्य करती है कि इसे विध्वंस से कैसे बचाया जाय ? शांति और निःशस्त्रीकरण की सैद्धांतिक वार्ता काफी नहीं है । आवश्यकता है– मानवता की खोज । हम मनुष्यत्व को खो चुके हैं । जब तक मनुष्यत्व को नहीं पा लेते, तब तक अशांति / आतंक / युद्ध चलता रहेगा । इसलिए हमारी तलाश ' मनुष्य ' के लिए होनी चाहिए न कि ' हिंदू ' के लिए ।

निवंध का शीर्षक " हिंदू कौन : प्रश्न और उत्तर " न होकर " मनुष्य कौन : प्रश्न और उत्तर " होना चाहिए ।

– नरेश प्रसाद तिवार

व्याख्याता, दर्शन विभाग
एस. यू. कॉलेज, हिलसा (नालन्दा)
पिन– ८०१३०२

– २ –

धर्म बनाम लौकिकता

परामर्श (हिंदी) खंड ७, अंक ४, सितंबर, १९८६ में प्रो. योहन फाइस का लेख ‘ धर्म और लौकिकता : विरोध या समन्वय ’ पढ़ने का अवसर मिला। उन्होंने निःसंदेह बहुत ही प्रभावशाली ढ़ग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आधुनिक युग में भी धर्म का स्थान है; धर्म सिर्फ अतीतकाल का अवशेष नहीं है; धर्म वर्तमान युग में असंगत नहीं है और आज के युग में भी धर्म का भविष्य हो सकता है। मेरी राय में ईस तरह का खयाल मन में इसलिये उत्पन्न होता है कि आज धर्म की स्थिति प्रत्येक घर-परिवार में एक ‘ पुराने फर्निचर ’ की तरह हो गयी है; जो बस हमारे पूर्वजों की एक ‘ निशानी भर ’ है; जिसे न तो फेंका जा सकता है और न ही इस्तेमाल ही किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में, ‘ लौकिकता ’ (secularism) की बात करना उस ‘ पुराने फर्निचर ’ (धर्म) के ऊपर से धूल-झाकड़ झाड़ कर उसका इस्तेमाल करने की एक नाकाम कोशिश कही जायेगी क्योंकि धर्म-निरपेक्षता सभी धर्मों के सच्चे धार्मिक मूल्य जैसे शांति, क्षमाशीलता, न्याय या संतुलन को आदरपूर्वक मानने का आग्रह करता है और यह आग्रह धर्म के क्रियात्मक धरातल पर एक ‘ दुराग्रह ’ साबित होता है। क्योंकि यहाँ ‘ ईश्वर ’ और ‘ अल्लाह ’ की बात छोड़िये, ‘ राम ’ को पूजने वाले ‘ कृष्ण ’ की पूजा नहीं करते। ‘ राम ‘ और ‘ कृष्ण ‘ की बात भी छोड़िये, यहाँ तो ‘ बाल-कृष्ण ‘ को मानने वाले ‘ युवा-कृष्ण ’ को जब आदरपूर्वक स्वीकार नहीं नहीं कर सकते हैं, तो वे अन्य धर्मों के मिथकों व मूल्यों का सम्मान क्या करेंगे ? और इसी संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हर व्यक्ति को रामकृष्ण परमहंस नहीं बनाया जा सकता है, जो हर धर्म के मार्ग पर चलकर देख सके कि सभी धर्मों का एक ही लक्ष्य है, एक ही मंजिल है। इसलिये प्रत्येक धार्मिक मूल्य का सम्मान करना चाहिये। इतिहास साक्षी है कि गुरुनानक ने हिंदू-मुस्लिम की दरारों को पाढने के लिए एक धर्म ‘ सिख-धर्म ’ बनाया, जो निःसंदेह सभी धर्मों से अधिक प्रगतिशील और सेक्यूलर प्रवृत्ति को लेकर सामने आया था। लेकिन आज उसकी क्या स्थिति है ? यह बताने की आवश्यकता नहीं है।,

प्रो. फाइस को पता है कि आधुनिक विश्व-दर्शन मूलतः धर्म के प्रतिकूल हैं। फिर भी उन्होंने विश्व-दर्शन को धर्म के अनुकूल बनाने का असफल प्रयास

परामर्श (हिंदी), वर्ष ८, अंक १, दिसंबर, १९८६

किया है। यहाँ उनके प्रमुख मत और युक्तियों को विश्लेषित किया जायेगा।

प्रो. फाइस लिखते हैं – " ईश्वरवादी धर्म मानव केंद्रित धर्म है "। अपने मंत के समर्थन में वे एक-दो युक्तियों का सहारा लेते हैं, जिसपर विचार करना जरूरी है। उनकी पहली युक्ति है– " यहूदी भक्त सृष्टिकर्ता का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी विश्व को मानव केंद्रित मानते हैं।" इस बात की पुष्टि उन्होंने यहूदी भजन की एक पंक्ति से की है। भजन की पंक्ति है :– " तूने मनुष्य को अपनी सृष्टि पर अधिकार दिया और सबकुछ उसके पैरों तले डाल दिया " ये पंक्ति विश्लेषणीय है। सबसे पहले पंक्ति में कहा गया है – ' तूने ' अर्थात् ' ईश्वर ने।' फिर कहा जाता है – ' अपनी सृष्टि ' अर्थात् वह सृष्टि जो ईश्वर की है। फिर कहते हैं – ' उस पर मनुष्य को अधिकार दिया।' यहाँ यह स्पष्ट है कि सबसे पहले ' सृष्टि ' और ' मनुष्य, पर ईश्वर का अधिकार था। जैसा कि हम जानते हैं कि ' दिल्ली ' और ' कुतुबुद्दीन ' पर मुहम्मद गोरी का अधिकार था। क्या ऐसा नहीं लगता है कि सृष्टि पर एक गुलामवंश का अधिकार आज भी है? यदि प्रो. फाइस की युक्ति को सही मान लिया जाय, तो यह एक शर्मनाक सच्चाई सामने आती है।

यहाँ यह याद रखना चाहिये कि सृष्टि पर मनुष्य को अधिकार ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। किन्तु ईश्वर का कृपा-पात्र केवल मनुष्य ही क्यों होता हैं? प्रो. फाइस का उत्तर हो सकता है कि मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है; इसीलिये ईश्वर का वह कृपा-पात्र है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि भविष्य में मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी का आगमन हो जाये, तो क्या ईश्वर का कृपा-पात्र मनुष्य ही बना रहेगा? यदि हाँ, तो ' श्रेष्ठता ' ईश्वर की कृपा का कारण नहीं माना जायेगा। यदि यह मापदड बदल जाता है, तो यह संभावना उत्पन्न हो जाती है कि कल ईश्वर की कृपा से बंदर को सृष्टि का अधिकार मिल जाय। और यदि श्रेष्ठता का मापदंड नहीं बदलता है, तो मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी के आगमन पर सृष्टि का अधिकार मनुष्य से छीन लिया जाएगा। ईश्वर को मानने से ईश्वर और मनुष्य के बीच यह ' वर्ग-संघर्ष ' पैदा होता है। अब हम भजन की पंक्ति के अंतिम हिस्से पर विचार करेंगे, जहाँ कहा गया है– " ईश्वर ने सबकुछ मनुष्य के पैरों तले डाल दिया "। यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है कि क्या वर्णित ' सबकुछ ' में ' ईश्वर ' भी शामिल है? यदि हां, तो मनुष्य और ईश्वर के बीच संघर्ष समाप्त हो जाता है और मनुष्य विजेता घोषित होता है। किन्तु सच्चाई यह नहीं है। मनुष्य और ईश्वर के बीच संघर्ष जारी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ईश्वर ने जिन सबकुछ को मनुष्य के पैरों तले डाल दिया

है उनमें से कुछ वस्तुएँ उसके पैरों तले नहीं है। अर्थात् सृष्टि की कुछ वस्तुओं पर मनुष्य का अधिकार नहीं है, जिनमें ईश्वर भी शामिल है। यहाँ स्पष्ट है कि ईश्वर ने मनुष्य को सृष्टि की कुछ ही वस्तुओं पर अधिकार दिया है और कुछ वस्तुओं पर के अधिकारों से उसे वंचित कर रखा है। अतः भजन की पंक्ति पढ़कर यह भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि ईश्वर ने मनुष्य को सचमुच से अपनी सृष्टि पर अधिकार दिया है और सबकुछ उसके पैरों में डाल दिया है। अतः इस युक्ति के आधार पर यह नहीं माना जा सकता है कि ईश्वरवादी धर्म मानव-केंद्रित धर्म है।

प्रो. फाइस की दूसरी युक्ति यह है कि– "ईश्वर को मानने से मनुष्य का महत्त्व नहीं घटता है।" वे ठीक कहते हैं। भला मुहम्मद गोरी के मानने से कहीं कुतुबुद्दीन का महत्त्व घटता है? यह तो अपनी-अपनी मानसिकता है। कुछ लोग गुलाम मानसिकता के होते हैं; उनसे भला क्या कहा जा सकता है?

प्रो. फाइस आगे लिखते हैं– "संपूर्ण विश्व को मनुष्य के हित के लिये ही सृष्ट किया गया है।" प्रश्न है– बिना सृष्टि के मनुष्य का कौन-सा अहित हो रहा था? क्या सृष्टि से पूर्व मनुष्य के हित और अहित का प्रश्न उठाना युक्ति-संगत है? पंक्ति का अंत करते हुए वे लिखते हैं- "अतः विश्व का शीर्ष होने की अपेक्षा मानव की अपूर्व महत्ता इसी में है कि वह सृष्टिकर्ता का प्रेम-पात्र बने।" यहाँ मनुष्य की महत्ता को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है और इसके साथ ही मनुष्य की स्वतंत्रता को खंडित करने की चेष्टा की गयी है। यह तो मनुष्य के विवेक पर निर्भर करता है कि वह सृष्टिकर्ता का प्रेमपात्र बने अथवा नहीं।

प्रो. फाइस आगे लिखते हैं- "ईश्वरवाद यहाँ तक मनुष्य की महत्ता स्वीकार करता है कि वह मनुष्य को ईश्वर के तुल्य कहने का भी साहस करता करता है।" क्या मनुष्य की श्रेष्ठता ईश्वर पर आश्रित है? क्या हम ईश्वर की श्रेष्ठता स्वीकार करने से पूर्व किसी और की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं? दरअसल कुछ लोगों को मनुष्य की श्रेष्ठता पर संदेह होता है; इसीलिये वे मनुष्य की श्रेष्ठता को ईश्वर की श्रेष्ठता से जोड़कर देखते हैं। किंतु ऐसा तो हीन-भावना के कारण होता है।

अपने निबंध में प्रो. फाइस ने धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाने की सलाह देते हैं। उनका मत है– धार्मिक व्यक्ति ही सभी मनुष्यों को एक ही परमपिता परमेश्वर की संतान मान सकता है और भाईचारे का व्यवहार कर सकता है।

ऐतिहासिक तथ्य इसके विपरीत है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं कि धार्मिक दृष्टिकोण किस प्रकार पृथक्तावादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होता है। फिर भी हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि धार्मिक दृष्टिकोण अपनाये हुए कोई भी मुस्लिम हिंदू को काबा जाने की इज़ाजत दे सकता है? क्या कोई भी हिंदू किसी भी मुस्लिम को मीनाक्षीपूरम् या काशी के मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति दे सकता है?

इस संदर्भ में आखरी बात यह कहना चाहूंगा कि 'एक ही परमपिता परमेश्वर की संतान की धारणा स्वीकार कर ली जाये, तो भाईचारे की भावना विकसित होती है'– यह ख़याल दिल बहलाने के लिये अच्छा है। यहाँ पर मन में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि– क्या सृष्टिकर्ता ईश्वर ने सभी मनुष्यों को सृष्टि का बराबर हिस्सा और अधिकार दिया है? इस प्रसंग में प्रो. फाइस लिखते हैं– "दीनता के अभाव में मानव अभिमान से, मोहित होकर पतन की ओर बढ़ता है।" प्रो. फाइस की यह बड़ी अजीबो-गरीब धारणा है कि उत्थान के लिये दीनता अनिवार्य है। किंतु सच्चाई इसके विपरीत है। वेश्यावृत्ति, हत्या, चोरी-ड़ाका आदि सामाजिक बुराईयों और नैतिक पतन के लिए दीनता, निर्धनता और भुखमरी ज़िम्मेवार होती है।

— ओमप्रकाश सामवे

द्वारा : श्री कामेश्वर प्रसाद
एडवोकेट
डिकशन रोड, भागलपुर– ८१२००१

विज्ञप्ति:

प्रोफेसर जी. आर्. मल्कानी निबन्ध–प्रतियोगिताएँ

तत्कालीन *The Philosophical Quarterly* के भूतपूर्व सम्पादक और The Indian Institute of Philosophy (समसामायिक The Pratap Centre of Philosophy) अमलनेर, जिल्हा जलगाँव (महाराष्ट्र) के भूतपूर्व निर्देशक प्रोफेसर जी आर. मल्कानी की आदरणीय स्मृति में उनके सुपुत्र तथा सुकन्याओं द्वारा पाँच हजार रुपये का उदार दान दिया गया है । विश्वविद्यालय के द्वारा उक्त दान को स्वीकार कर पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के द्वारा क्रमशः अंग्रेजी हिन्दी तथा मराठी में प्रकाशित *Indian Philosophical Quarterly*-**परामर्श** (हिन्दी) और **परामर्श** इन तीन दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिकाओं के तत्त्वावधान में दर्शन के स्नातकोत्तर तथा अनुसन्धान–रत छात्र–छात्राओं के लिए प्रतिवर्ष दो निबन्ध–प्रतियोगिताओं का आयोजन करने का निर्णय किया गया है । उनमें से एक अखिल भारतीय प्रतियोगिता अँग्रेजी । हिन्दी में रहेगी और दूसरी मराठी में । हरेक प्रतियोगिता में उसके लिए नियुक्त निर्देशकों द्वारा स्वीकृत प्रथम दो योग्य निबन्धों के लिए प्रथम तथा द्वितीय पुरस्कार दिये जायेंगे । अँग्रेजी । हिन्दी में आयोजित निबन्ध–प्रतियोगिता के लिये क्रमशः २०० रुपये और १०० रुपये के तथा मराठी में आयोजित प्रतियोगिता के लिये क्रमशः १२५ रुपये और ७५ रुपये के पारितोषिक दिये जायेंगे । अँग्रेजी, हिन्दी तथा मराठी में पारितोषिक-प्राप्त निबन्ध क्रमशः *Indian Philosophical Quarterly*, **परामर्श** (हिन्दी) तथा **परामर्श** में प्रकाशित किये जायेंगे, और प्रकाशित निबन्ध की पन्द्रह अनुप्रतियाँ उक्त निबन्ध-लेखक/लेखिका को निःशुल्क भेज दी जायेंगी । साथ-साथ प्रकाशित निबन्धों के लिये पत्रिकाओं के नियमों के अनुसार पारिश्रमिक भी दिया जायेगा । निबन्ध-प्रतियोगिता के विषय, निबन्ध भेजने का अन्तिम दिनांक, निबन्ध प्रतियोगिता का निर्णय आदि बातें उक्त पत्रिकाओं के माध्यम से यथासमय विज्ञापित की जायेंगी । आशा है अन्यान्य विश्वविद्यालयों, अनुसन्धान-संस्थाओं तथा महाविद्यालयों के दर्शन विभाग, उक्त विभागों में कार्यरत दर्शन के अध्यापक, दर्शन के स्नातकोत्तर और अनुसन्धान-रत छात्र-छात्राओं उपरिनिर्दिष्ट निबन्ध–प्रतियोगिताओं का यथोचित स्वागत कर उन्हें सफल बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान कर उपकृत करेंगे ।

– कार्यकारी सम्पादक

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

जनवरी १९८७ अंक में

प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे, प्रो. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. हर्षनारायण तथा डॉ. मु लाठ के लेख। श्रीहर्ष लिखित खण्डनखण्डखाद्य के आधार पर प्रो. नारायणश द्राविड़ कृत तथा शंकर चैतन्यभारती कृत काश्मीर शैव दर्शन विषयक 'स्वातन्त्र्यवाद' का डॉ. नवजीवन रस्तोगी कृत आधुनिक हिन्दी में अनुवाद व्याख्या, विमर्श खण्ड में डॉ. नारायणशास्त्री द्राविड़ तथा यशदेव शल्य आलोचनाओं के उत्तर।

पुस्तक–समीक्षाएँ।

वार्षिक– व्यक्ति २०-
संस्थाएँ ४०-
आजीवन– व्यक्ति २५०-
संस्थाएँ १५००-

दर्शन प्रतिष्ठान
पी ५१, मधुबन पश्चिम
टोंक रोड, जयपुर– ३०२०१५
(राजस्थान)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

११२. डॉ. ब्रजभूषणप्रसाद शर्मा
२९४, ए. पी. कालोनी
गया – ८२३००१
(बिहार)

११३. श्री रूपेशकुमार फो. देवड़ा
द्वारा, म. मो देवड़ा
देवड़ा उद्यान
मोती महल
रेलवे स्टेशन
औरंगाबाद– ४३१००५

११४. डॉ. गायत्री सिन्हा
८/२ सरस्वती विहार
पचपेढी
जबलपुर–४८२००१
(म. प्र.)

११५. डॉ. आर. एस्. शर्मा
बी/२ विश्वविद्यालय
अध्यापक निवास
नया विश्वविद्यालय कॅम्पस
ए. बी. रोड
इन्दौर–४५२००१
(म. प्र,)

११६. डॉ. हेमचन्द्र पाण्डे
वाई ८१, हौज़ खास
नई दिल्ली–११००१६

११७. डॉ. अनिल तनेजा
आर् ३४६, सिविल लाइन्स
भरतपुर–३२१००१
(राजस्थान)

११८, डॉ. अजित शुकदेव शर्मा
दर्शन विभाग
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन–७३१२३५

११९. डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय
८२/१०१, तुलसी नगर
भोपाल–४६२००५
(म. प्र.)

१२०. डॉ. श्रीप्रकाश दुबे
सरस्वती विहार
पचपेढी
जबलपुर–४८२००१
(म. प्र)

१२१. डॉ. योगिनी निघोसकर
३७, विष्णुकृपा सोसायटी
फतेगंज
वडोदरा–३९२००२
(गुजरात)

१२२. डॉ. गिरिजा व्यास
२९ सी. मधुबन
लोकला मण्डल
उदयपुर–३१३००१
(राजस्थान)

१२३. डॉ. राघवेन्द्र पाण्डेय
फ्लॅट क्र. १४२ अ
टी, ओ. पी. के पास
अनुग्रहपुरी कालोनी
गया–८२३००१
(बिहार)

१२४. डॉ. जगत् पाल
दर्शन विभाग
उत्तरपूर्वीय पर्वतीय
विश्वविद्यालय
मयूरभंज कैम्पस
शिलाँग-७९३०१४
(मेघालय)

१२५ श्री. सोहनपाल सिंह आर्य
फुगाना–२४७७७६
मुझफ्फरनगर
(उ. प्र)

१२६. डॉ. राज्यश्री अग्रवाल
११७९ राइट टाउन
जहाँगीराबाद
जबलपुर (म. प्र.)

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

गोरखनाथ मिश्र	तर्कीय सत्तात्मकता
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ
नरेश प्रसाद तिवारी	' मूकज्जी ' का मूकज्जी-दर्शन
उर्मिला चतुर्वेदी	देवात्मा-दर्शन में आत्मा का स्वरूप
प्रशान्त वेदालंकार	धर्म का सच्चा स्वरूप : साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का कोई स्थान नहीं
प्रद्युम्नकुमार जैन	युद्ध, शांति और धर्म
रघुवंश झा	नैतिकता : व्यक्तिगत एवं सामाजिक
हिरेन्द्र प्रसाद साह	धर्म में ज्ञानात्मक तत्त्व की आवश्यकता
अञ्जनीकुमार सिंह	श्रीअरविंद का पूर्णतावाद
	प्रतिक्रियाएँ

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ८ अंक २

मार्च, १९८७ / फाल्गुन, २०४३

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त त्रिपाठी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा
संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के.
शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ❋ जी. सी.
❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फाईस ❋ सुमन
❋ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त घांग्रेकर ❋ सु. ए.
❋ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्या
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के
कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५–००
	एक प्रति	रु. ०६–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०–००

❋ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया
सकता है।

बौद्ध विचारणा में इहलोकवाद और परलोकवाद

अधिकांश विद्वानों की एक निश्चित धारणा बन गई है कि भारतीय दर्शन जीव तथा उसके कर्म एवं जन्म-जन्मान्तर की शृंखला से बंधे चिन्तन का पर्याय है, जिसमें ईश्वर के विचार को जोड़ दिया जाय तो नियतिवाद का एक पूरा चित्र सामने आ जाता है। थोड़े शब्दों में, समूचे दार्शनिक तन्त्र को इहलोकवाद और परलोकवाद इन दो पदों के बीच रखा जा सकता है। यह धारणा न केवल भारतीय चिन्तन अपितु सेमेटिक परम्पराओं में भी सुस्पष्ट प्रतीत होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि चिंतन की धुरी पर विश्व के सभी मान्य धर्मों की निर्यात का चक्र कमोवेश एक सातत्य में चलता रहा है। बौद्ध और जैन जैसे ईश्वर-विहीन दर्शनों में भी इहलोकवाद और परलोकवाद के विचारों को रूपांकित करना कोई दु:साध्य कार्य नहीं है।

इसमें संदेह नहीं की भारतीय सामाजिक व्यवस्था एक ऐसे उद्गम से उद्भूत हुई है जिसमें हमें उन सांस्कृतिक मूल्यों के दर्शन होते हैं जिन्हें हम राजनैतिक और आर्थिक जीवन में भी ढूंढ़ सकते हैं। इस व्यवस्था के अंदर पनपे वर्ग-भेदों ने जातियों का रूप ले लिया। जातीय संरचना पर आधारित जीवन-पद्धति को एक निश्चित रूपाकार देने में प्राचीन चिन्तकों ने व्यक्तियों के सम्मुख इहलोकवाद और परलोकवाद के द्वन्द्व को रख दिया था ताकि संपूर्ण सामाजिक संरचना से लाभ सम्मिलित रूप से मिलता रहे। व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन को पुराकृत जीवन का परिणाम मानकर चलता रहे और भविष्यत् जीवन के लिए पुण्य करता रहे, ताकि उसका पारलौकिक जीवन सफल हो। शायद यही कारण है कि एक सुधारवादी आन्दोलन होने पर भी बौद्धों ने वर्ग-भेद तोड़ने का उपक्रम नहीं किया। इस संदर्भ में यह मत सर्वथा उचित जान पड़ता है कि---" जातीय नियम प्रजा पर इहलोक और परलोक में दण्ड का भय दिखाकर लागू किये गए हैं "--- सामाजिक संघटनों पर आरोपित धार्मिक स्वरूप न केवल संपूर्ण देश में उनके द्रुत

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

प्रसार को प्रत्युत उनकी चिरस्थायी ग्रहण शक्ति और कठोरता को स्प करता है।[1]

उक्त मत से इस निश्चित आधार पर पहुँचा जा सकता है कि जिन सामाजिक नियमों का गठन किया गया था उनके मूल में इहलोक और परलोकवाद के विचार को अधिकाधिक रूप से उभारा ही गया। इहलौकिक और पारलौकिक दोनों धार्मिक प्रक्रियायें धर्म का अंग होने के नाते धार्मिक अभियोजन का मार्ग प्रशस्त करती हैं। पारलौकिक जीवन इहलौकिक जीवन के आचार एवं व्यवहार से निःसृत होता है। इहलौकिकता को मात्र बौद्धिक या अनुभूति के रूप में देखना ही मात्र उस परम्परा का निर्वाह करना है जो अधुनातन को ही शुभ समझकर आगे बढ़ती है। किन्तु बौद्ध विचारधारा यह मानकर चलती है कि इहलौकिकता का आयाम पारलौकिकता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यद्यपि परलोकवाद का सम्प्रत्यय बौद्धों के लिये नया नहीं था, किन्तु बुद्ध ने इहलौकिकता पर ही अधिक ज़ोर दिया है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष तो निकाला जा सकता है कि बुद्ध की दृष्टि में इहलौकिक और पारलौकिक ये दोनों आयाम महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रन्थों में इहलोकवाद और परलोकवाद के द्वन्द्व को उभारने की चेष्टा दिखाई देती हैं। उससे यह प्रतीत होता है कि उनसे संबंधित मूल्य भिन्न-भिन्न हैं।[2] बौद्ध जीवन-दृष्टि में इहलौकिक मूल्य इहलौकिक जीवन के और पारलौकिक मूल्य पारलौकिक जीवन के आदर्श हैं। इन दोनों के बीच कहीं टकराहट या अवरोध प्रतीत होता है तो मात्र बाह्य धरातल पर। वस्तुतः किसी भी धार्मिक व्यवस्था का उद्देश्य अलौकिक लक्ष्यों अर्थात् शाश्वत जीवन को प्राप्त करना होता है। मानव की चिर-आकांक्षा ही उसे शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति के आदर्श का चित्र दिखाती है जहां उसके पूर्वाग्रह समाप्त हो जाते हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में जिस इहलोक और परलोक का चित्रण हुआ है उसके मूल में कर्मवाद की प्रतिच्छाया ही दीख पड़ती है।

कर्म विश्व को बोधगम्यता प्रदान करता है। सभी धर्मों की यह मूलमान्यता है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। किन्तु सेमेटिक चिन्तन से भिन्न भारतीय कर्म सिद्धान्त “ व्यक्तिगत द्वैतवाद ”पर आधारित है, जो पूर्वजन्म की व्याख्या के अभाव में अपूर्ण रहता है।[3] दूसरी ओर कर्म सिद्धान्त का एक पक्ष ऐसा भी है जो व्यक्ति को ही अच्छे और बुरे कर्मों का उत्तरदायी मानकर समर्थन करता है।

समग्र विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि बौद्ध विचारणा में कर्म को

अत्यधिक प्रधानता दी गई है। हम पाते हैं कि एक अर्हत् के पूर्वजन्मों का क्षय मृत्यु के साथ ही होता है, जब तक वह जीवित है कर्मफल अवश्य ही मिलता रहेगा। देवता तक कर्म सिद्धान्त से परे नहीं हैं। अतः इस परम्परा में व्यक्ति अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है, उनका आधार है एवं कर्म ही पुर्नजन्म की रूप-रेखा बनाते हैं।

अंगुत्तर निकाय इहलोक और परलोक दोनों पर बौद्ध दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इहलोक पर विचार करते हुए एक स्थल पर तथागत भिक्षुओं से कहते हैं कि उन्हें न तो अतीत का अनुगमन करना चाहिये और न भविष्य की चिन्ता हीं। क्योंकि अतीत तो नष्ट हो चुका होता है और भविष्य अनागत है, अतः वर्तमान को ही जीना चाहिये। **अंगुत्तर निकाय** में अलग-अलग दुष्कर्मों का भी विर्णन आया है यथा, ऐसे दुष्कर्म जिनका फल इसी लोक में मिलता है।[४] उदाहरणार्थ– चोरी, डकैती आदि। कायिक, मानसिक और वाचिक दुष्कर्मों के कारण परलोक में नरक लोक का विधान किया गया है। अतः इहलोक में दो विशिष्ट कार्यों का निरूपण किया गया है, गृहस्थों का घर में रहते समय चीवर, पिण्डपात, शयनासन. ग्लानप्रत्यय, औषधि आदि वस्तुओं के दान करने का दुष्कर कार्य। दूसरा, घर से बेघर हुए अनागरिक प्रव्रजितों का सभी चित्तमलों को दूर करने का प्रयास।[५]

उपरोक्त तर्कों का विन्यास करते हुए बुद्ध ने अनेक परिषदों का उल्लेख किया है। यथा-सतही परिषद्, गंभीर परिषद् आदि-आदि। इनके उल्लेख का एक ही ध्येय है कि धर्म को महत्त्व देकर भौतिकवादी प्रवृत्तियों का प्रतिकार किया जाय। 'गृहस्थ सुख' और 'प्रवज्या सुख' में से उन्होंने प्रवज्या सुख को श्रेष्ठ मानते हुए लौकिक सुख और लोकोत्तर सुख की गणना की है। इसी तरह चार आर्य सत्यों में प्रथम दो आर्य सत्य लौकिक धर्म का प्रतिपादन करते हैं, शेष दों अन्य लोकोत्तर धर्म का प्रत्याख्यान करते हैं।[६]

बौद्ध नीति-दर्शन का आद्यन्त अध्ययन इहलोक में सामाजिक सद्भाव और शांति की स्थापना के माध्यम से पारलौकिक जीवन के सौष्ठव का प्रतीक-विधान निर्मित करता है। इस आदर्श-स्थिति की प्राप्ति के लिये बौद्ध नीति-दर्शन के अन्तर्गत कर्तव्यों का उल्लेख आया है, प्रमुखतः माता-पिता और बच्चों के पारस्परिक कर्तव्य। पति एवं पत्नि के पारस्परिक कर्तव्य, गुरु एवं शिष्य, दास एवं मालिक, मित्र और अमित्र के पारस्परिक कर्तव्यों का उल्लेख आया है।[७] अगर इन कर्तव्यों का विधिवत् निर्वाह समाज में होगा (परलोक सुधार की आशा से)

तो स्वयंमेव आदर्श स्थिति में समाज रहेगा। इन कर्तव्यों के विधान के
शायद बुद्ध की यही मंसा रही हो जिसे नकारा नहीं जा सकता।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार धन है। किन्तु धनी हों
बुद्धिमान् होना श्रेयस्कर है क्योंकि ऐसे धनी व्यक्तियों का उल्लेख बौद्ध वा
में है जो अपने धन का उपयोग न कर सके और अंत में उनका धन राजको
सम्मिलित हो गया। बुद्ध ने पुण्य को ही श्रेष्ठ बताते हुए उसे परलोक में प्रा
का आधार निरूपित किया है।[8] इहलोक में सुख का आधार 'उत्तान सम्प
'आरक्ख सम्पदा', 'कल्याण मित्तता' व समाजीविका ही हैं।[9] प्रसेनजित
इस शंका - कि क्या ऐसा कोई धर्म है जो इहलोक और परलोक में समान
से ठहरता हो- का समाधान बुद्ध के इन शब्दों में किया है- " अप्रमाद ही ऐसा
है जो लोक और परलोक में समान रूप से ठहरता है"।[10] धन-संग्रह के
पर उसके सदुपयोग और बुद्धि के महत्त्व का दिग्दर्शन निश्चय ही बौद्ध दर्शन
विशिष्टता है, जिसे इहलोक में सम्पन्न किये जाने वाले चार कर्मों की सार्व
भावना से पुष्ट किया जा सकता है, जो निश्चय ही वस्तुवाद और अनुभ
सम्मान पर बल देते हैं।

कतिपय प्राच्य-विदों का यह आक्षेप कि, भारत का अधिकांश धा
साहित्य परलोक-चिन्तामय है, उसे इहलोक की चिन्ता ही नहीं है तो हम
आक्षेप को भी अपने धार्मिक वाङमय की प्रशंसा में पचा जाते हैं। किन्तु किसी
विशिष्ट जीवन पद्धति का कार्य मात्र परलोक परक होने से नहीं चलता। बुद्ध
में ही वह दृष्टि थी कि उन्होंने परलोक के साथ इहलोक की चिन्ता में भी
के सूत्र ढूंढ निकाले और इस अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इह
किक चिन्तन पर ही अधिक बल दिया। एक ऐसी जीवन दृष्टि जिसके
ध्यान संवृत्ति जगत् के विश्लेषणात्मक ज्ञान पर निर्भर हो और 'यथाभूतं
नाति' के विधानात्मक पक्ष को पुष्ट करता हो, निश्चय ही बुद्ध की अतुल
देन है। किन्तु साथ ही कर्म और पुनर्जन्म की परम्परागत मान्यता को स्वीक
हुए भी स्वर्ग और नरक, यमराज, वायु जैसी आदिभौतिक सत्ताओं को नकार
जाना तथा राजनैतिक प्रश्नों और समस्याओं के प्रति निःसंगता बरतना अ
विपर्यय एवं वैचारिक असंगति का ही प्रतिफल हो सकता है।

बौद्ध ग्रन्थों में गृहस्थों से नैतिक जीवनचर्या में लगे रहने की जो अपेक्षा
गई है वह निश्चय ही एक राजा (शासक) से की गई अपेक्षा भी है। बुद्ध
धर्मचक्रवर्ती का सम्प्रत्यय राजा से एक गृहस्थ (सामान्य जन) की भांति
अपेक्षा करता है।

उपरोक्त अध्ययन से प्रतीत होता है कि समाज में वे सभी नियम, आचार संहिताएँ और सत्कर्मों का पालन करने के उपदेशों पर शायद इसलिये इतना अधिक जोर दिया जा रहा था क्योंकि वैदिक एवं बौद्धयुगीन समाज दोनों आसुरी सम्पदा से दूर रहने और आध्यात्मिक संपदा का अर्जन करने के लिये उत्साहित करते हैं। यह मानना होगा कि 'समता' का युग तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था और सम्पत्ति-संचय तथा शोषण का युग अस्तित्व में आ गया था, विचारकों ने उसकी भयानकता को भांप लिया और त्याग, सत्कर्मों एवं नियमों के पालन का नारा देना प्रारम्भ कर दिया विचारकों को समझते देर न लगी कि बढ़ते हुए भौतिकवाद या पूँजीवाद पर प्रहार न किया गया तो समाज में अनाप-शनाप ढंग से धन अर्जित करने की प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो जाएगी और समाज समाप्ति की ओर उन्मुख हो जावेगा। अधिकांश बुराइयों की जड धन के एकत्रीकरण से तत्कालीन समाज में पाप-कर्म एवं अन्य त्याज्य वृत्तियाँ बढ़ गई होंगी परलोक की चिन्ता से रहित पापकर्म में लिप्त ऐसा कौन सा भयानक कर्म है जिसे मनुष्य न कर सके ?

एवं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो ।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ।। (दीघ निकाय) ''

इस प्रकार के व्यक्ति समाज में अवनति के कारण हो सकते हैं। इन्हीं कारणों के चलते ही परलोक में पापकर्मों से नारकीय जीवन का भय एवं सात्त्विक कर्मों से स्वाभाविक सुख की प्राप्ति का लक्ष्य समाज में रखा गया ताकि इहलोक में मनुष्य सत्कर्मों एवं धर्मानुसार आचरण करते हुए शांति, व्यवस्था एवं भय-रहित सुखद वातावरण बनाने में सहायक हो। बुद्ध ने केवल धन के त्याग पर ही नहीं बल्कि समस्त बुराइयों के त्याग पर बल दिया। यह धरती नाशवान् है, भोग नाशवान् हैं। ये सारी बातें बढ़ते हुए पूँजीवाद के विरोध में कही गई। बौद्ध युग में तथागत की वाणी ने पूँजीवाद और उससे उत्पन्न होने वाले जहर को निष्प्राण सा कर दिया और समाज भोगों की ओर से मुड़कर सत्य के प्रकाश की ओर चल पड़ा था।

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठि परमं धनं ।
विस्सासपरमाआति निब्बाणं परमं सुखं ।।

धम्मपद, पृष्ठ ७१

— अखिलेश्वर प्रसाद दुबे

दर्शन विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१, मजुमदार, आर. सी., प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृष्ठ, ३६
२. राहुल सांकृत्यायन, जगदीश काश्यप, दीघ निकाय (हिन्दीअनु,) पृ.
३. प्रतापचन्द्र, आदि बौद्ध दर्शन : अनात्मवादी परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ १०१
४. भदन्त आनंद कौसल्यायन (अनुवादक) अंगुत्तरनिकाय,प्रथम भाग
५. वही, पृष्ठ ५१
६. आचार्य अनिरुद्ध प्रणीत, अभिधम्मत्थसंङ्गहो, द्वितीय भाग, पृष्ठ
७. सद्धातिस्स, एच्.; बुद्धिस्ट एथिक्स, पृष्ठ १३२ एवं संयुक्त
(हिन्दी अनु.) पृष्ठ १६२-३३.
८. संयुक्त निकाय, पृष्ठ ८१-८२
९. सद्धातिस्स, एच्. पूर्वोक्त, पृष्ठ १४७
१०. संयुक्त निकाय, अप्रमाद सुत्त, पृष्ठ ७८
११. दीघ निकाय, पूर्वोक्त, पृष्ठ १२७

साहित्य का सरोकार

साहित्य के सरोकार पर विचार करते समय यह मान कर चला जा सकता है कि वह एक कला है; इसलिए साहित्य का सरोकार कला का ही सरोकार है– दूसरे शब्दों में, कलात्मक उत्कर्ष ही साहित्य का साध्य है। लेकिन ऐसा मानने में एक बड़ी कठिनाई यह सामने आती है कि साहित्य का माध्यम अन्य कला-माध्यमों की जाति का न होकर ज्ञान के माध्यम से अभिन्न है। जहाँ अन्य कलाओं के माध्यम सीधे इन्द्रिय संवेदनाओं के विषय होते हैं वहाँ साहित्य का माध्यम केवल प्राथमिक स्तर पर इन्द्रिय-संवेदना से सम्बद्ध होता है– रंग या ध्वनि के समान वह दृष्टि या श्रवणेन्द्रिय को तृप्त नहीं करता। न तो चित्र, मूर्ति या भवन की तरह वह दृष्टिगम्य होता हैं, न संगीत के समान श्रव्य। साहित्य पढ़ा जा सकता है, नाटक आदि के रूप में देखा जा सकता है और कविता–कहानी के रूप में सुना जा सकता है; लेकिन देखने–सुनने के परे जाकर वह हमारी चेतना को आंदोलित करता है। संगीत के माध्यम के समान साहित्य का माध्यम भी भौतिक स्तर पर श्रवणेन्द्रिय का विषय—ध्वनि—– है, लेकिन उसका वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह ध्वनिमात्र न होकर सार्थक ध्वनि है जिसे 'शब्द' कहा जाता है। 'अर्थ' की बात 'शब्द' के साथ जोड़ी जाए या नहीं, दोनों का साथ अनिवार्य है। अर्थरहित शब्द से साहित्य रचने के प्रयोग अवश्य किए गए हैं, लेकिन ऐसे प्रयोगों में 'शब्द' के स्थान पर ध्वनियों का ही प्रयोग हुआ है। स्वभावतः उससे काव्य की नहीं, संगीत की रचना हुई है।

निराला ने एक गीत लिखा है 'ताक कमसिनवारि' जिसे, निरी ध्वनि–रचना होने के कारण, गीत नहीं माना जा सकता। यदि वह निराला की विक्षिप्त मनोदशा की अभिव्यक्ति नहीं है तो ध्वनियों के साथ खेलने की मनोवृत्ति का परिणाम है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भी इस रचना को संगीत ही माना है। उन्होंने लिखा है: "और ताक कमसिनवारि– यह क्या है? ××× यह भी

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

निराला की क्लासिकी संगीत–रचना है। डागर– वंधुओं को ध्रुपद गाते सुना है आपने? पंक्ति एक, शब्दों को उलट-पुलट कर कहने की दस तरकीबें।"

स्पष्ट है कि साहित्य का माध्यम संगीत के माध्यम से भिन्न होता है– संगी के लिए अर्थनिरपेक्ष ध्वनि पर्याप्त होती है, जबकि साहित्य के लिए शब्द और अ का एक-दूसरे के साथ रहना अपेक्षित है। भामह ने काव्य को 'शब्दार्थौ' कहक इसी ओर संकेत किया है। कालिदास ने भी शिव-पार्वती को 'शब्दार्थावि सम्पृक्तौ' कहकर यही अभिप्राय व्यक्त किया है। साहित्य का माध्यम इन्द्रिय-गोचरता के आगे जाकर उसे मानसगोचर बनाता है, लेकिन भौतिक स्तर पर व संगीत के माध्यम---ध्वनि---का सज़ातीय बना रहता है। कुछ कवियों ने, जिन तुलसीदास और निराला उल्लेखनीय हैं, अपने रचना-माध्यम के इस पक्ष का भरपू दोहन किया है। अर्थ-संकेत की दृष्टि से वह साहित्य को चित्र और मूर्ति की कक्ष से प्रतिष्ठित करता है। – बिम्बवाद के प्रवर्तक ऐंजरा पाउण्ड ने इसी आधार प काव्य को चित्रकला का सगोत्री ठहराया था। वस्तुतः अर्थ-संकेत-क्षमता की दृष्टि शब्द चित्रकला और मूर्तिकला दोनों के माध्यमों से कहीं अधिक समर्थ है चित्रकला और मूर्तिकला के माध्यमों का कोई पूर्वनिर्धारित अर्थानुषंग नहीं होता जबकि शब्द के अपने पूर्वनिश्चित अर्थानुषंग होते हैं।

इसलिए साहित्य-रचना में यह समस्या सामने आती है कि एक ओर शुद्ध कला माने जाने वाले संगीत का आदर्श उसे अपनी ओर आकर्षित करता है दूसरी ओर शब्द की प्रतिनिधानमूलक प्रकृति उसे अपने से बाँधती है। इस प्रका अर्थ-सम्बद्धता और उससे मुक्ति का आदर्श इन दो छोरों के बीच खींचाई साहित्य रूप ग्रहण करता है।

यों तो प्रतिनिधान का प्रश्न विभिन्न कलाओं के विषय में उठाया जाता रहा है, लेकिन साहित्य के माध्यम की अर्थानुषंगी प्रकृति ने उसके विषय में इ प्रश्न को अधिक प्रासंगिक बना दिया है। प्लेटो ने इसे कलाकार का अपराध माना था कि वह अनुकरण का अनुकरण करके दोहरे झूठ का प्रसार करता है। अब यह कहा जाता है कि अनुकरण तो कला के जन्म-काल से उससे जुड़ा रहा है अर्न्स्ट फिशर का कहना है कि मानवता के उदयकाल में मनुष्य ने प्रकृति प काबू पाने के लिए वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ बनाने का उपाय किया। उस मतानुसार भाषा का जन्म भी उस जादू से ही हुआ जो वस्तुओं को वश में कर के लिए उन्हें नाम देने के रूप में किया गया। इस मत की प्रतिष्ठा करते हु फिशर दिल दहला देने वाले इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "मानवता के उदयका

में कला का सौन्दर्य से कोई सरोकार नहीं था; नंदतिक उद्देश्य से उसे कतई लेना-देना नहीं था। अस्तित्व-रक्षा के संघर्ष में कला मानवसमुदाय का एक जादुई अस्त्र मात्र थी।"

अर्न्स्ट फिशर के इस मत के विषय में यह कहा जा सकता है कि मानवता के उदयकाल में कला का जो प्रयोजन रहा होगा, वह रहा होगा। आज भी कला उसी से निर्दिष्ट हो ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। इसके अतिरिक्त, उनकी यह धारणा तथ्यों के विरुद्ध भी है। वैदिक ऋषि जब यह पुकार उठा, "पश्य देवस्य काव्यं न जीर्यति न ममार" तो उसका यह उद्‌गार सौन्दर्य पर उसके मुग्ध हो उठने से फूट पड़ा था। वैदिक साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल के मनुष्य के कितने ही सौन्दर्य-विस्मित भावोच्छ्‌वास भरे पड़े हैं। ऋग्वेद में वरुण के विषय में यह उक्ति मिलती है:

अबुघ्ने राजा वरुण वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीता: स्युरुपरि बुघ्न एषामस्मे अन्तर्निहिता केतवः स्यु:॥

अर्थात् "पवित्र सामर्थ्य से सम्पन्न राजा वरुण आश्रयरहित होते हुए भी प्रकाशपुञ्ज को ऊपर धारण किए रहता है। नीचे की ओर जाने वाली इसकी किरणों का स्रोत यद्यपि ऊपर होता है, फिर भी वे हमारे भीतर निवास करें।" डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रमाणित किया है कि कालिदास ने विधाता द्वारा सृष्टि की रचना की जाने की व्याख्या करते समय वस्तुतः मानव-कलाकार की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। इस प्रसंग में सर्जन के मूल में तीव्र सौन्दर्यानुभूति रहने का प्रतिपादन किया गया है। विधाता द्वारा शकुंतला की रचना की जाने के सम्बन्ध में कालिदास ने लिखा है कि उसे रचते समय विधाता के मन में सौन्दर्य उफन रहा था, "चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगाद्रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।"

यह अकारण नहीं है कि सभी कलाओं में सौन्दर्य की सृष्टि कलाकार का कार्य माना गया है। कलाकार पहले से उपलब्ध सौन्दर्य को ही अपनी रचना में नहीं उतारता, वह सौन्दर्य की नई सृष्टि करता है। यह उसका कर्म है। इसीलिये उसकी रचना 'कृति' या 'कलाकृति' कही जाती है। अंगरेजी में भी इसी कारण उसे 'वर्क' अथवा 'वर्क ऑफ आर्ट' कहते हैं। यदि साहित्य का प्रयोजन प्रतिकृति तैयार करना, अनुकृतियाँ बनाना, वस्तुजगत् को प्रतिबिम्बित करना या उसका प्रतिनिधान होता तो कलाकार के कृतित्व का प्रश्न नहीं उठता—उसका अंकन-कौशल ही प्रयोजनीय होता, कर्तृत्व नहीं। इसके विपरीत कला का संबंध कर्तृत्व

से ही माना गया है, जैसा कि **कामायनी** में अंकित ‘ प्रसाद ’ के इस कथन से व्यक होता है; “ कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला। ”

भारतीय काव्य-चिंतकों ने साहित्यकार के इस कर्तृत्व को निर्माण या निर्मि के रूप में देखते हुए उसे स्वायत्त या ‘ अनन्यपरतंत्र ’ कहा है। भामह का यह कथन जाना-माना है;

> नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्रताम्।
> नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

रचनाशील प्रतिभा की परिभाषा देते समय उसे ‘ निर्माणक्षमा ’ कहकर संतो नहीं किया गया; यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि प्रतिभा अपूर्व वस्तु के निर्मा की क्षमता में निहित रहती है। वह पहले से विद्यमान वस्तु को कला मे उतारने के स्थान पर ऐंसी वस्तु का निर्माण करती है जिसका अस्तित्व पहले नहीं होता।

— प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।

साहित्य में यह रचना शब्दार्थ-सम्पृक्ति से होती है। भाषा का प्रयोग दिन-प्रति-दिन के कामकाज से लेकर ज्ञान-विज्ञान के उत्पादन, प्रसार और परिरक्ष के लिये भी किया जाता है, लेकिन इन सारे कार्यों में शब्द अर्थ-प्रेषण का साध मात्र रहता है; अर्थ प्रेषित कर चुकने के बाद शब्द की भूमिका समाप्त हो जात है — उसी अर्थ को फिर से सम्प्रेषित करने के लिये उन्हीं शब्दों के प्रयोग की अनिवार्यता नहीं रह जाती, किन्हीं भी अन्य शब्दों से काम लिया जा सकता है। इस स्थिति में भाषा का चरित्र सार्वजनिक ही बना रहता है; उसके प्रयोग में वैयक्तिक संस्पर्श का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रयोक्ता उसे आत्मसात् नहीं करता, केवल काम में लेता है। वह उपकरण ही बनी रहती है, उपादान नहीं बन पाती।

इसके विपरीत साहित्यकार के हाथों में भाषा रचना का उपादान बनती है। वह भाषा से निर्माण करता है। उसकी कल्पना शब्दों में स्पन्दन उत्पन्न करती है। कोष या प्रचलन से लिये गये शब्दों में वह अपनी कल्पना को समो कर एक नई अर्थ-दीप्ति उत्पन्न करता है। अलंकारों के रूप में कवि से इस चमत्कार के प्रकारों की गिनती करने के प्रयत्न किये गये हैं। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारों को ‘ वर्णन की प्रणालियाँ ’ कहते हुए उनकी गिनती कर सकना असम्भव माना है। शुक्लजी की बात पूरी तरह सही है। जितने रचना-प्रसंग हैं उतनी ही शब्दार्थ-सम्पृक्ति की विधियाँ हैं। हर नई रचना के साथ शब्द और

अर्थ की सम्पृक्ति का एक नया ही रूप सामने आता है। फिर भी दुष्यंत कुमार की दो पंक्तियाँ उद्धृत कर के यह देखा जा सकता है कि प्रचलित शब्दों को कवि की कल्पना किस प्रकार उनकी सामान्यता से मुक्त कर नई ऊर्जा से उनका अभिषेक करती है। उन्होंने लिखा है;

क्या वजह है प्यास ज्यादा तेज लगती है यहाँ,
लोग कहते हैं कि पहले इस जगह पर था कुआँ।

इन पंक्तियों में 'है' और 'था' के विरोध ने प्राण संचार किया है जिसे प्यास और कुएँ की लाक्षणिकता ने बल प्रदान किया है। आज जहाँ प्यास है वहीं पहले कुआँ था। जब वहाँ कुआँ था तो तृप्ति थी, प्यास का प्रश्न ही नहीं उठता था। अब तृप्ति का साधन नहीं रहा, इसलिए प्यास लगना स्वाभाविक है; लेकिन प्यास ज्यादा तेज लगती है तो इसका कारण यह है कि तृप्ति का स्थान होने के कारण उस की अपेक्षा करने की आदत पड़ गई है। यदि यह आदत न पड़ी होती तो प्यास भी ज्यादा नहीं लगती। अपेक्षा, पूर्ति, अभाव और आदत के सम्बंध के कथन में कविता का वह आकर्षण समाप्त हो जाता है जो भाषा की लाक्षणिकता द्वारा उस स्थान पर प्यास ज्यादा लगने की कल्पना से उत्पन्न होता है जहाँ पहले कुआँ था।

साहित्य में कल्पना की भूमिका निर्णायक होती है, लेकिन कल्पना सदा यथार्थ-विच्छिन्न नहीं होती। इसलिए साहित्य को कल्पना की निर्णायक भूमिका के नाते अयथार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है; लेकिन वह सदा यथार्थ का अनुगामी भी नहीं होता। कलाकार जब साहित्य में वस्तु-सत्य को ग्रहण करता भी है तो अपनी कल्पना में ढालकर ही उसे आकार देता है। इस प्रक्रिया में यथार्थ का रूपांतरण हो जाना स्वाभाविक है, जैसा कि मुक्तिबोध की फैण्टेसियों में हुआ है। जब वह रचनाकार की कल्पना में ढले बिना साहित्य में आ घुसता है तो उसकी वही हालत होती है जो हिन्दी की प्रगतीवादी कविता में हुई है। मुक्तिबोध ने बहुत सही कहा है कि फेंटेसी अनुभव से उद्भूत होती है, लेकिन वह उसकी वशवर्तिनी नहीं होती। मुक्तिबोध के शब्दों में " फेंटेसी अनुभव की कन्या है, इसलिए वह उससे स्वतंत्र भी है।"

साहित्य की महिमा यथार्थ की प्रामाणिकता में नहीं, उसे आत्मसात् किये जाने में निहित रहती है। इसलिए बाह्य-संदर्भ कला के मूल्यांकन में व्याघात उत्पन्न करते हैं। यथार्थ-चेतना, अनुभूति की प्रामाणिकता और सूक्ष्म-निरीक्षण को कला के मूल्यांकन का आधार बनाना इसी कारण संगत नहीं हो सकता। साहित्य

में निरीक्षण, प्रस्तुति और प्रतिरूपण नहीं होता, उद्भावना होती है। उद्भावना की अक्षमता की क्षतिपूर्ति इन में से किसी से नहीं हो सकती।

वर्ण्यवस्तु की अपनी सत्ता रचना के लिए किस प्रकार महत्त्वहीन होती है, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि चित्रकला के क्षेत्र में वर्ण्यवस्तु की यथावत्ता का निर्वाह करने वाले विद्ध-चित्र—पोर्ट्रेट— को रस-चित्र की तुलना में हीन समझा जाता रहा है। कालिदास के प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह मंतव्य प्रकट करते हुए लिखा है; "विद्ध-चित्र हू-ब-हू चित्रण है। उस में चित्रकार यथासंभव असम्पृक्त रहकर सफलता पाता है। कलाकार की अंतर्वेदना विषय-वस्तु के माध्यम से प्रकट नहीं होती। दुष्यंत ने शकुंतला का चित्र बनाया था।... यद्यपि वह चित्र था, तो भी ऐसा जीवन्त था कि लगता था वास्तविक शकुंतला ही दीख रही है—. अब बोली, अब बोली।.. इससे राजर्षि की निपुणता प्रकट होती है। सानुमती ने कहा भी था— अहो राजर्षेः निपुणता। जाने सखी अग्रतो मे वर्तते।... विदूषक ने उससे भी अधिक देखा था। कहा था— धन्य हो मित्र, जहाँ-जहाँ आना आवश्यक था, वहाँ-वहाँ इसके मन के भाव भी इसमें आ गये हैं, निम्नोन्नत प्रदेशों में तो मेरी दृष्टि फिसल-सी रही है।... अर्थात् शकुंतला का शारीरिक और मानसिक चित्रण बहुत सुन्दर हो गया था। पर दुष्यंत का मन इससे संतुष्ट नहीं था।... **आलम्बन उभर आया था, आश्रय अस्पृष्ट रह गया था**।... राजा ने सुधारा। नालिनो नदी का वह शांत मनोरम तट जिसके सैकत पुलिनों में हंस के जोड़े विस्रब्ध भाव से विश्राम कर रहे थे, उसे बताना जरूरी था। **नहीं तो दुष्यन्त के हृदय की वह कचोट स्पष्ट नहीं हो पाती** जो उसे मथे डालती थी— कैसी जगह जाकर उसने प्रेम किया और कैसा विश्वासघात किया। ××× सबसे अधिक आवश्यकता थी उस कृष्णमृग की जिसकी सींगे नुकीली शाखाओं के जंगल के समान सिर पर खड़ी थीं और बगल में बैठी हुई मृगी अपनी बाईं आँख उसकी सींग के किसी नुकीली शाखा से खुजला रही थी, अत्यन्त विश्वास के साथ।... वह निश्चित जानती थी कि कृष्णमृग महाराज गलती से भी जरा हिले तो उन मनोहर आँखों कीं अब खैर नहीं।... वह आश्रम ऐसे विश्वासपरायण प्रेमियों का निवास था। शकुंतला ने भी तो इतने ही विश्वास के साथ आत्मसमर्पण किया था, पर दुष्यंत ने कैसा व्यवहार किया। यही **कलाकार की वेदना दुष्यन्त का अपना कुछ था**।... बहुत माथापच्ची के बाद उसे ठीक-ठीक बात सूझी... अब जाकर चित्र में रस आया। जो सबीह था वह रसचित्र बन गया।"

द्विवेदीजी ने इस प्रक्रिया को **अन्यथाकरण** कहा है। कालिदास की शब्दावली से बँधे होने के कारण इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग शायद द्विवेदीजी की विवशता थी। इसके लिए उन्होंने अँगरेजी के 'डिस्टार्शन' शब्द का प्रयोग भी किया है; लेकिन उन्होंने जो बात कही है वह अन्यथाकरण या डिस्टार्शन की न होकर उद्भावना की है।

किंचिदन्वपन या कुछ और जोड़ देने से बात नहीं बनती है; बनती है अपने भीतर से कुछ उपजने पर ही। साहित्य हो या संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य कोई भी कला हो, कलाकार की सूझ के बिना उसमें जान नहीं पड़ती। वस्तु-बोध सच्ची सामग्री– रॉ मैटीरियल– अधिक कुछ नहीं हो सकता। जब तक विश्वचेतस् कलाकार के आत्मचेतस् में परिणत नहीं हो जाता तब तक वह रचना में नहीं ढल सकता। इसीलिए मुक्तिबोध ने ज़ोर देकर कहा है कि कला सदा आत्मपरक होती है। 'समीक्षा की समस्या' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है: "कला एक **आत्मपरक प्रयास** है– भले ही वह यथार्थवादी उपन्यास-रचना क्यों न हो। यहीं से **कला का स्वायत्त तंत्र** स्थापित हो जाता है और उसके **स्वतंत्र नियम** कार्यशील होने लगते हैं।"

जब रोज़र फ्राइ ने कला की कल्पना-सृष्टि को व्यवहार जगत् की प्रयोजनशीलता से अलगाया तो कुछ भी गलत नहीं किया। उन्होंने यह नहीं कहा कि कला में व्यवहारजगत् का प्रवेश निषिद्ध है। उन्होंने जो कहा, उसका सार यही है कि व्यावहारिक उपयोग के प्रयोजन से कला का कल्पनालोक भिन्न है। फ्राइ के इस कथन की सत्यता एक उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। टी. वी. पर दिखाए जाने वाले अनेक विज्ञापनों में प्रचुर नाटकीयता होती है, पर उनसे हमें नाटक देखने की अनुभूति नहीं होती। नाटक भी प्रचार की दृष्टि से लिखे जाने लगते हैं तो उनकी कलात्मकता कुंठित हो जाती है। आपात् काल के दौरान रेडिओ पर 'हवा महल' कार्यक्रम प्रसारित होता रहा, लेकिन उसके द्वारा सत्ता के लिए समर्थन जुटाए जाने के प्रयोजन ने उसका आकर्षण समाप्त कर दिया और उसके श्रोताओं की संख्या लगभग नगण्य रह गई। परिवार-नियोजन के प्रचार के लिए आज भी नाटक प्रसारित होते हैं, लेकिन प्रचारात्मक उद्देश्य की झलक मिलते ही या तो रेडिओ बंद कर दिए जाते हैं या श्रोता उसके पास से खिसक लेते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे तुलसी-प्रेमी समीक्षक ने भी उसकी प्रचारात्मक उक्तियों पर ऐतराज किया है।

रोजर फ्राई ने यह कहीं नहीं कहा है कि कला-मूल्यों से साहित्य का सरोकार जीवन की ओर से आँख मूंद लेने का आग्रह करता है। उनका कहना इतना ही है कि व्यावहारिक उपयोग की चेतना हमारी दृष्टि को धुँधला देती है। वस्तुओं का उपयोग करने की इच्छा हमें उन वस्तुओं को उनकी विशुद्धता में नहीं देखने देती। यदि साहित्यकार जीवन-जगत् को सम्यक् रूप से देख नहीं पाए तो उसकी रचना में वह ढल ही नहीं पाएगा। डॉ. रामरतन भटनागर के अनुसार "वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं।" उन्होंने 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि परिभूः का अभिप्राय है "अपनी अनुभूति के क्षेत्र में या **दृष्टिक्षेप** में सब-कुछ समेट लेने वाला"। **वाल्मीकि रामायण** में समाधिस्थ कवि द्वारा रामकथा-दर्शन का वर्णन मिलता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कालिदासने भी निर्मल और एकाग्र दृष्टि के लिए समाधी को बहुत मान दिया है। द्विवेदीजी के अपने शब्दों में, "कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं।" तुलसीदास ने भी शिवजी द्वारा पार्वती को रामकथा सुनाई जाने से ठीक पहले उनके ध्यानमग्न होने की चर्चा की है :

मगन ध्यानरस दण्ड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥

समाधिगत चित्र से किए गए साक्षात्कारों का उल्लेख हो या 'ध्यानरस', दोनों का आशय काल्पनाशक्ति से प्राप्त अन्तर्दृष्टि जान पड़ता है। कलाकार की दृष्टि वस्तु जगत् की बाहरी सतह पर न अटक कर उसके भीतर पैठती है।

एक उदाहरण के तौर पर 'अज्ञेय' की 'हिरोशिमा' शीर्षक कविता को सामने रखा जा सकता है। इस कविता में हिरोशिमा नगर पर अणुबम गिराए जाने की घटना की स्मृति से आहत कवि का भावसंवेदन व्यक्त हुआ है, लेकिन वहाँ कवि की गलदश्रु भावुकता के दर्शन नहीं होते। इसके स्थान पर कवि ने विभिन्न तर्कातीत चित्रों में मानवमंगल के लिए विकसित विज्ञान की विध्वंसकारी परिणति की विडम्बना का साक्षात्कार किया है। यह विडम्बना सूर्य की विभिन्न अप्राकृतिक स्थितियों की आवृत्ति से व्यंजित की गई है। कविता में कवि की अन्तर्दृष्टि उन स्थितियों का बोध कराने वाले चित्रों में समाई हुई है। इससे यह प्रगट होता है कि अन्तर्दृष्टि, साक्षात्कार और अभिव्यक्ति में किस प्रकार परस्पर अविच्छिन्नता बनी रही है।

विधान की संश्लिष्टता ही साहित्य में अन्तर्दृष्टि को मूल्यवान् बनाती है।

यों तो अंतर्दृष्टि विज्ञान की खोजों में भी रहती है और कुशल प्रशासन में भी, लेकिन साहित्य में वह विधान की जीवन्तता में व्यक्त होती है। जहाँ ऐसा नहीं हो पाता वहाँ साहित्य की कलात्मकता आहत होती है। जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में मानवीय अंतर्दृष्टि को विधान के शैथिल्य ने कलात्मक परिणति से वंचित कर दिया है। इसके विपरीत मोहन राकेश के नाटकों में मानवीय अंतर्दृष्टि उनके चुस्त गठन और क्षिप्र गति में खिल उठी है। 'प्रसाद' और राकेश के नाटकों की तुलना से यह भी प्रकट होता है कि अन्तर्दृष्टि की उपादेयता का विचार रचना की कलात्मकता के निर्णय के लिए अप्रासंगिक है।

रचना की कलात्मकता की पकड़ जितनी कठिन है, उससे कथ्य को निचोड़ लेना और निचुड़े हुए कथ्य का मूल्यांकन उतना ही सरल है क्योंकि राजनेता और समाजसुधारक पहले से ही उन स्थितियों पर टिप्पणी कर रहे होते हैं जिनका मूल्यांकन साहित्य-समीक्षक रचना के निचोड़ के रूप में करने बैठता है। इसीलिए कथ्य की महिमा के आधार पर रचना की महानता के गीत गाने वाले समीक्षकों की संख्या अधिक होती है। **गोदान** के साथ ऐसा बहुत हुआ है। उसके विधान की खूबियों में झाँकने का साहस बहुत ही कम को हुआ है। **कसप** की खबर तो उसके कथ्य के कारण ही खूब ली गई। बाद में कथ्य को लेकर ही उसे प्रशंसा भी मिली, लेकिन उसके सर्जनात्मक उत्कर्ष पर बहुत कम ही दृष्टि गई। सोचने की बात है कि प्रेमकथा होने से ही वह कमजोर कृति कैसे हो जाती है और प्रेमकथा में सामाजिक स्थितियों की अभिव्यक्ति से वह महान् रचना कैसे हो जाती है! यदि वह कमजोर कृति या बड़ी कलाकृति है तो यह गुण उसकी रचना में कहीं निहित होना चाहिए। यदि सामाजिक सरोकार से कोई रचना बड़ी बन जाती तो आज **लोकायतन** हिन्दी का शीर्षस्थानीय काव्य होता। **कामायनी** को जो सम्मान मिला है वह उसकी केन्द्रीय समस्या अथवा उसके समाधान के कारण नहीं। इसका प्रमाण यह है कि उसकी विचारदृष्टि को अस्वीकार करने वाले भी उसके कवित्व पर मुग्ध हैं।

रचना की विषय-वस्तु के आधार पर किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करने के पक्षधर भी उसके कलात्मक उत्कर्ष को अविचारणीय नहीं मानते, पर वे उसे कथ्य को प्रभावी बनाने का **साधन-मात्र** मानते हैं। उनके मतानुसार रचना अपने कथ्य के मूल्य से आँकी जानी चाहिए; किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का अपना मूल्य भी विचारणीय होता है क्योंकि कथ्य उसके बूते पर ही कारगर होता है। इसलिए वे मूल्यवान् कथ्य को कलात्मक अभिव्यक्ति से जोड़ना आवश्यक समझते

हैं– मानो साहित्य में कलात्मकता पैकिंग का डिब्बा है जिसकी सुन्दरता उ रखी गई वस्तु की शोभा बढ़ाने के काम आती है । इस विचार-दृष्टि का प्रतिफ ही साहित्यिक कृति को भावपक्ष और कला-पक्ष में विभाजित कर देखने के रूप सामने आया है । वे यह भूल जाते हैं कि कोई भी साहित्यिक कृति इन दो प का जोड़ न होकर एक आवयविक समग्र होती है, जिसमें कथ्य अपने रूप से अभि होता है । इस सच्चाई को समझकर ही तुलसीदास ने लिखा था : ‘ गिरा अ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ’ ।

तुलसीदास के इन बहुश: उद्धृत शब्दों में यदि हमारी रुचि हो तो समझ लेना चाहिए कि लहर के रूप में ही जल ‘ लहर ’ होता है, लहर को कि पात्र में भरने का प्रयत्न करने पर जो जल हमारे हाथ लगता है वह ‘ लहर नहीं कहला सकता । ‘ लहर ’ की बलि लेकर यदि हम जल को पाना चाहें तो सकते हैं और उसका जैसा चाहें वैसा उपयोग भी कर सकते हैं, लेकिन तब ह यह कहने का अधिकार नहीं रह जाता कि लहर से हमें कोई सरोकार है ।

—जगदीश श

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर (राजस्थान)

कर्म, कर्तव्य एवं कर्मयोग

उपर्युक्त तीनों शब्द भिन्न हैं तथा इनके अर्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि कर्मयोग के अन्तर्गत किये गये काम कर्तव्य होते हैं तथा कर्म भी लेकिन प्रत्येक कर्म कर्तव्य नहीं है तथा प्रत्येक कर्तव्य (जैसे राजनैतिक एवं दलीय कर्तव्य) कर्मयोग के अन्तर्गत नहीं आता। भगवद्गीता कर्मयोग की शिक्षा देती है न कि कर्तव्य-योग की। यदि हम यह समझ लें कि कर्म कब कर्मयोग का स्वरूप ले लेता है, तो हमें जीवन में कर्तव्य का स्थान समझ में आ जायगा। कर्मयोग कर्म करने की दृष्टि है। साधारणतः प्रत्येक कर्म की कुछ उपयोगिता और कुछ दृष्टि रहती है। कसरत करना एक कर्म है जिसमें शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि का उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। हत्या करने का भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण हो सकता है, जैसे कि किसी को अपने मार्ग से हटाना, या हत्या की ऐवज में कुछ धन प्राप्त होना। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनसे केवल शारीरिक लाभ होता है, जैसे कि साँस लेना या सोना। साँस लेना और सोना दोनों अनिवार्य कर्म हैं, उपयोगी हैं, जीवित रहते ऐसे कर्मों को छोड़ा नहीं जा सकता। इसके विपरीत कसरत करना, दान देना, यज्ञ करना उपयोगी कर्म हैं, लेकिन इन्हें छोड़ा जा सकता है, और साधारणतया इनके न करने से किसी प्रकार की शारीरिक क्षति नहीं होती, न ही जीने में किसी प्रकार की बाधा आयेंगी।

प्रत्येक कर्म कर्मयोग के अंतर्गत आ सकता है। उदाहरणार्थ, साँस लेना और सोना कर्म हैं, उपयोगी हैं, लेकिन साँस लेना प्राणायाम का रूप ग्रहण करले और निद्रा-विजय करके साधना में समय लगाया जाये, तो ऐसी क्रियाएँ भी कर्मयोग के अंतर्गत आ जाती हैं। प्राणायाम और निद्रा-विजय राजयोग की क्रियाएँ हैं, जो कर्मयोग की उपलब्धि में सहायक हैं। इसी तरह भूख, प्यास, मैथुन, जो कि जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं, उनका भी कर्मयोग में रूपांतरण हो सकता है। दान यदि स्वर्ग की कामना या यशोलिप्सा के लिये दिया गया हो तो वह उपयोगी

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

कर्म तो हो सकता है, लेकिन कर्मयोग के अन्तर्गत नहीं आता। यदि पाने वा का अधिकार मानकर दान दिया जाये तो वह कर्मयोग के अन्तर्गत आ जाता है वास्तव में दूसरे को आत्मवत् समझकर दान दिया जाये तो वह दान भी न कहलायेगा क्योंकि हम हमें ही दान नहीं करते। दान में द्वैत की मान्यता है, ज कि कर्मयोग का आधार अद्वैतभूमि (यो माँ पश्यति सर्वत्र सर्वंच मयि पश्यति गीता ६–३०)।

साँस लेने, सोने और खाने में आसक्ति नहीं रहती। चूंकी ये जन्मजा कर्म हैं, इसलिये इनके निर्माण में न तो संकल्प-शक्ति की आवश्यकता है, न इन्हें सीखना पड़ता है। जब हम संकल्प-शक्ति का उपयोग करें या सीखें त फलासक्ति के उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि मैं या अहं-भाव निर्णा के रूप में समाविष्ट हो जाता है। जिस तरह गाय, बैल के आहार, निद्रा औ मैथुन में अहं-भाव नहीं रहता, केवल कर्ममात्र रहता है, उसी प्रकार मनुष्य में विशेषकर शैशवावस्था में यदि इन कर्मों पर यौगिक एवं सांस्कृतिक प्रयोग न कि जाये, तो शुद्ध कर्म ही रहते हैं और उनमें किसी प्रकार की फलासक्ति पै नहीं होती।

पशुओं में चूंकि बुद्धितत्त्व एवं सामाजिकता नहीं होती इस कारण वे दू से प्रतिबंधित या परिसीमित नहीं होते। सामाजिकता का अर्थ ही दूसरों खटकने वाली हमारी वैयक्तिकता को वशीभूत करके उनके साथ शांति से बैठ है। हम अपने बैर को भूलकर हंस कर दूसरों का स्वागत करते हैं। कई बार अप गुस्से को पीकर अपने कार्यालय में साधु बने बैठे रहते हैं। पशु जीवन में यह न होता। पशु इकाई बना रहता है, उसमें सामाजिकता नहीं होती। पशु-जीवन प सीमित नहीं होता। जैसी भी जैविक आवश्यकताएँ होती हैं, उनके अनुसार कर्म का सिलसिला चलता रहता है। इस तरह पशुओं के कर्म तो होते हैं, लेकिन उन फलासक्ति उत्पन्न नहीं होती।

इसके विपरीत मनुष्य संस्कृति, सभ्यता एवं सामाजिकता से परिसीमि है। इस कारण वह नींद आने पर सो नहीं सकता, भूख लगते ही खा नहीं सक यौन इच्छा होने पर मैथुन में नहीं लगता। इन स्वाभाविक कर्मों के लिए शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। रातपाली में काम करने वाले मज दिन में सोने की आदत डालते हैं, पंगत लगने पर साथ साथ ही भोजन करते और विवाह होने पर ही (आदर्श व्यवहार) मैथुन क्रिया में संलग्न होते है सामाजिकता जैविक आवश्यकता एवं उसकी पूर्ति में व्यवधान पैदा कर देती है

और यह व्यवधान ही वास्तव में वासना एवं फलासक्ति का सबसे बड़ा कारण है। आवश्यकता और उसकी पूर्ति के बीच अंतराल का कारण सभ्यता, संस्कृति एवं सामाजिकता है। और, वास्तव में देखा जाये तो सभ्यता एवं संस्कृति इसी अंतराल की उपज हैं। इस अंतराल को कम करने के प्रयास में कला, धर्म, दर्शन साहित्य, संस्कृति एवं आध्यात्मिकता का प्रादुर्भाव होता है।

आवश्यकता (किसी भी स्तर की हो) एवं उसकी पूर्ति के बीच का अंतराल हमारी इच्छा एवं फलासक्ति का अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र है। लेकिन इच्छापूर्ति का साधन कर्म है, इसलिए कर्म करते वक्त यदि एक ओर इच्छा और दूसरी ओर फल प्राप्ति की व्यग्रता हो तो कर्म का श्रेष्ठ होना असंभव है। कर्म में भी एकतानता (Concentration) की आवश्यकता है। बटे हुए ध्यान से किया गया काम असफल होता है। अत: कर्म के दो छोरों—इच्छा एवं फलासक्ति— का अधिकाधिक एकाकार होना कर्म की सफलता के लिये अनिवार्य है।

~~कर्मयोग का अर्थ कर्म की सफलता~~ है। सफल कर्म वांछनीय हो सकते हैं और अवांछनीय भी। सामाजिक जीवन में कर्म के दो रूप होते है, नैतिक और अनैतिक। अनैतिक कर्म भी एकतानता से किया जाये, तो सफल होगा। चोरी करना या जेब काटना सफल कर्म हो सकता है यदि चोरी करके या जेब काटकर पकड़ में न आये। साथ ही ऐसा करते हुए किसी प्रकार की दुविधा, संशय और भय की स्थिति न हो। चोर, डाकू कुछ वारदातें करने के बाद इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे निर्भीक होकर बिना किसी नैतिक संकट के बड़ी सफाई से जेब काटते हैं व चोरी करते हैं, यहाँ तक कि हत्या भी कर डालते हैं।

लेकिन सफल जेब कतरों एवं चोरों-डाकूओं के समाज को किसी भी दृष्टि से अच्छा समाज नहीं कहा जा सकता। न ही हम ऐसे समाज की स्थापना की आकांक्षा करते हैं। क्योंकि यदि चोर के घर चोरी, जेबकतरे की जेब कटी और डाकुओं के घर डाका पड़ने लगे तो उन्हें समाज के नैतिक स्वरूप का आभास होने लगेगा। ऐसा होता इसलियें नहीं है कि ऐसे धंधों में लगे हुए लोगों का संगठन होता है और उनमें धंधे एवं उसमें लगे हुए लोगों के प्रति आश्चर्यजनक ईमानदारी होती है। कहा भी जाता है कि चोर-चोर मौसेरे भाई। सटोरिये लोग अपने वचन के पक्के होते हैं। सट्टा करते समय जो मुँह से निकल जाये वह पत्थर की लकीर होती है, फिर उसमें दिवाला ही क्यों न पिट जाये। किसी भी समाज का हजारों वर्षों का इतिहास टटोलने पर दिखाई देगा कि चोर और डाकू समाज की प्रत्येक सीढ़ी पर रहे हैं, और आज भी हैं। भविष्य में रहेंगे या

नहीं कहना कठिन है, लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि समाज में
अतीत से आज तक आर्थिक दृष्टि से असमानता रही है, और उसी तरह चो
डाकेजनी भी प्रचलित रही है। इसका अर्थ केवल यह है कि आर्थिक एवं सा
जिक असमानता में चोरी सरीखे अवांछनीय एवं अनैतिक कर्म पनपते हैं।

केवल धर्म और कर्म की सफलता वर्तमान के परिचायक हैं। समाज अ
एवं भविष्य का वर्तमान में संश्लिष्ट गतिशील जीवन है। केवल अतीत की
इतिहास की पुस्तकों में बंद रहती है और केवल भविष्य कोरी कल्पना है। अ
एवं भविष्य वर्तमान में जीवित रहकर अस्तित्व का परिचय देते हैं। अतः
और उसकी सफलता के लिये सामाजिक जीवन से जुड़े रहना अनिवार्य है।
सा भी अनैतिक कार्य व्यक्ति या समाज के लिये न वर्तमान में शुभ है न भ
के लिये शुभ होगा। जेबकतरे का वर्तमान संकटमय है, क्योंकि पकड़े जाने
सजा मिलने का भय बना रहता है, और उसका भविष्य अंधकारमय है, क
उसका विकास असामाजिक व्यक्ति की तरह हो रहा है।

(२)

उपर्युक्त चर्चा से विदित होता है कि चूंकि मनुष्य सामाजिक प्रा
अर्थात् पशु एवं मनुष्य की विभाजन रेखा सामाजिकता है। सामाजिकता का
व्यापकता में लेना चाहिये जिसमें, विज्ञान, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, अ
आदि सभी प्रकार की विचारधारा एवं आचार की परंपराएँ शामिल हैं।
जगत् में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिकता का अर्थ केवल एक ही
पर समूह बनाकर अपनी आत्म-रक्षा एवं जाति रक्षा में लगे रहना ही नहीं
यह तो पशुवर्ग की भी विशेषता है। चूंकि पशुवर्ग में बौद्धिकता एवं कल्पना
अभाव रहता है, इसलिये बाह्य परिवेश से केवल समायोजन ही प्रमुख
रहता है, जैसे भय के स्थान से भाग जाना, भूख लगने पर फल-फूल खोजक
लेना, घोंसला बना लेना इत्यादि। मनुष्य भी परिवेश से समायोजन कर
लेकिन उस समायोजन को अपनी बुद्धि एवं कल्पना के सहारे अधिक विवि
समृद्ध कर लेता है। वह भूख मिटाने के लिये केवल खाता नहीं है, खा
चुनाव करता है तथा उसे अधिकाधिक स्वादिष्ट बना लेता है। वह परिवे
पशु की तरह जैसा का तैसा स्वीकार नहीं करता, अपनी आवश्यकतानुसार
देता है। विज्ञान एवं तकनीकी इसी परिवेश-परिवर्तन की लम्बी कहानी
परिवेश मनुष्य को जैविक धरातल पर बदलता अवश्य है, लेकिन मनुष्य

आवश्यकतानुसार परिवेश में परिवर्तन कर सकता है। नदियाँ दो गावों को विभाजित करती हैं, लेकिन नैया की खोज ने गांवों को मिला दिया। दिक् (space) की दूरी को रेल व जहाज से पाट दिया, जान लेवीं ठण्ड या गर्मी से बचने के लिये कंडीशन का आविष्कार कर लिया। मनुष्य पशु की तरह प्रकृति का दास नहीं बना रहता, वह उसका स्वामी बने रहने का प्रयास करता रहता है। प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने के सफल प्रयासों का इतिहास सभ्यता कहलाता है।

इस चर्चा से एक बात स्पष्ट होती है कि सामाजिकता का अर्थ व्यक्ति एवं समूह के ऐसे कर्मों का अध्ययन है जो कि सतत गतिशील परिवेश में आत्म-रक्षा एवं जाति रक्षा के लिये किये जाते हैं। कला, विज्ञान, साहित्य, धर्म एवं दर्शन मनुष्य को जैविक इकाई से विराट् संभावनाओं तक की व्यापकता का दर्शन कराते हैं। मनुष्य की इन विराट् संभावनाओं की अभिव्यक्ति होती है व्यक्ति में, लेकिन उसके लिये पूरे समाज का कर्मठ सहयोग रहता है। रेगिस्तान की झुलसती गर्मी में भी अपने एयर्कण्डीशण्ड कमरे में बैठा हुआ दार्शनिक अपनी खोज में लगे रह सकता है। लेकिन ऐसी सुविधाजनक भौतिक परिस्थिति के निर्माण में हजारों मनुष्यों की कई वर्षों की वैज्ञानिक एवं तकनीकी साधना है। मनुष्य की अनंत संभावनाओं की अभिव्यक्ति होगी किसी व्यक्ति के माध्यम से ही, लेकिन इसके लिये सारे समाज के सहयोग की अपेक्षा रहती है। अतः आत्म-रक्षा या आत्मपूर्णता सामाजिक सहयोग के बिना असंभव है। जाति-रक्षा में ही आत्मरक्षा सुरक्षित है। इस तरह एक व्यक्ति एक ही साथ ऐसी संश्लिष्ट इकाई होता है जिसमें व्यक्ति और समष्टि का गतिशील समन्वय बना रहता हैं। केवल व्यक्ति या केवल जाति तार्किक अवधारणा या कोरी कल्पना है, यथार्थ नहीं।

इस तरह मनुष्य के प्रत्येक कर्म में दो पक्ष रहते हैं, व्यक्तिगत एवं सामाजिक, शुद्ध रूप से न कोई व्यक्तिगत कर्म है, न सामाजिक; दूसरे शब्दों में, स्वार्थ एवं परमार्थ का भेद काल्पनिक है। कर्म में स्वार्थ या परमार्थ पक्ष की सबलता से वह स्वार्थ या परमार्थ कहलाता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना होगा कि पड़ौसी की भूख मिटाने से पहिले अपनी भूख मिटाना मनुष्य का स्वभाव है। कोई विरला संत ही होता है जो स्वतः भूखा रहकर दूसरों की भूख मिटाता है। आदर्श सामाजिक-स्थिति संत बनना नहीं बाँट-चूट कर खाना है, अर्थात् समान-वितरण करना है। आज का विश्व असमान वितरण से ग्रस्त है न कि वस्तुओं के उत्पादन से। इससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्या उत्पादन की नहीं वितरण की है।

विषम वितरण के कारण, सामाजिक दृष्टि से, कर्म के साथ कर्तव्य की बात पैदा हो जाती है। आप सम्पन्न हैं, और सामने खड़ा व्यक्ति भिखारी है, आपको दया आती है, और आप अपना कर्तव्य समझते हैं कि उसकी सहायता की जाय। इस तरह दया एवं दान, जिसे हम सत्कर्म कहते हैं, का आधार विषम वितरण है। यह विषमता जैविक, आनुवंशिक एवं दुर्घटनाओं तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के कारण आती है। जन्मांध, लूला, लंगड़ा या बहरा दया के पात्र हैं तथा उनकी सहायता करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। 'शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अक्षम व्यक्ति भी सहायता के पात्र होते हैं। दुर्घटना के कारण किन्हीं शारीरिक अंगों की हानि भी विषमता उत्पन्न करती है। आदमी के गरीब एवं सम्पन्न होने कारण समाज की आर्थिक योजना है। राजा एवं रंक की भाग्यवादी व्याख्या आजकल साधारणतया स्वीकार नहीं की जाती। हमारे कर्तव्यों का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि ऐसे कर्तव्य जिनका समाज से किसी प्रकार का संबंध आता है, उनका कारण विषमता है। दान-धर्म, पुण्य, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सत्कर्मों का आधार जैविक (Biological, Hereditary) सामाजिक एवं आर्थिक विषमता है।

समाज के अस्तित्व में आने का कारण आत्मरक्षा एवं जाति रक्षा के लिए सामूहिक शक्ति को जाग्रत करके चुनौतियों का सामना करना है। व्यक्ति की शक्ति एवं बुद्धि मर्यादित होती है जबकि समूह में अनंत शक्ति एवं बुद्धि का अवतरण हो जाता है। लेकिन समाज के अस्तित्व में आते ही विषमता या असमानता की पहचान भी प्रारंभ हो जाती है। यह असमानता शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सामाजिक, रंग-भेद, जाति-भेद या आर्थिक (वर्गभेद, धनवान्, गरीब) कारणों से हो सकती है। समाज के अस्तित्व में आने पर एक ओर तो असमानता दिखाई देने लगती है, दूसरी ओर इस असमानता को दूर करने का प्रयास भी प्रारंभ हो जाता है। जिस तरह पानी का लेबल समान रहता है (गहराई या अंतस्तल की विविधता भले ही हो), उसी तरह समाज भी समान स्तर प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है, जैसे जाति के सभी लोग, बिना भेद भाव के एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करते हैं, एक ही धर्म के अनुयायी बिना ऊँच-नीच के भेद के एक ही मंदिर में एकत्रित होते हैं। मनुष्य स्वभाव की यह विचित्र बात है कि वह भेद किये बिना रह नहीं सकता, और दूसरी ओर भेद को मिटाने का भी अनवरत प्रयास करता रहता है। एक ओर सांसारिक दृष्टि काम करती है तो दूसरी ओर वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक। मानव समाज की अनेकता में एकता या भेद में

अभेद या विषमता में समता प्राप्त करने में विज्ञान एवं अध्यात्म सबसे बड़े सहयोगी रहे हैं ।

इस चर्चा से कर्म के कारणों (Motives) की व्यापकता एवं अनंतता तथा कर्म के द्वारा सामाजिक यथार्थ (समानता) की प्राप्ति प्रकट होती है । कर्म केवल आत्म-रक्षा या जाति-रक्षा के लिये नहीं होते । आदमी को जीवित रहते हुए अनवरत रूप से सामाजिकता को बनाये रखना पड़ता है । इस सामाजिकता के क्षेत्र में सभी कर्म आ जाते हैं जो साहित्य, कला, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आते हैं । लेकिन यह बात ध्यान में रखने लायक है कि साहित्य, कला एवं आध्यात्मिकता सामाजिक जीवन के आभूषण हैं, अनिवार्यताएँ नहीं । ऐसे आदिसमाज की खोज की जा सकती है जिसमें हमारी धारणाओं का साहित्य, कला एवं आध्यात्मिकता उपलब्ध न हो । क्योंकि सामाजिकता का बोध बढ़ने पर ही साहित्य एवं कला का विकास होता है । शांतिपूर्ण समाज, जैसे अशोक एवं गुप्तकाल तथा अकबर कालीन समाज में साहित्य, संगीत एवं कला का खूब विकास हुआ था ।

सामाजिक बोध एवं सामाजिक व्यवहार का आशय यह है कि समाज के घटक अपने आपसी बहु-विध संबंधों में एक दूसरे का न्यायोचित सन्मान करते हों । अपने गरीब पड़ोसी पर दया करके खाने के लिये कुछ दे देना न्यायोचित सन्मान नहीं है, क्योंकि सामाजिक उत्पादन में सभी का बराबरी का हिस्सा है । समाज में गरीब या भिखारी का होना आर्थिक दुर्व्यवस्था के कारण है । अर्जुन का युद्ध न करने के लिये तर्क कि पुरजन-परिजन की हिंसा की अपेक्षा भिक्षा का भी माँगना कल्याण कारक है (गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके । गीता II–५) कृष्ण स्वीकार नहीं करते, क्योंकि यह तो अपनी कायरता से वैषम्य को स्वीकार करना हुआ । विषमता दुःख की जननी है (अतः आदर्श व्यक्ति का श्रेय विषमता को दूर करना सामाजिक कर्म की विशेषता या स्वभाव होना चाहिये ।)

सामाजिक विषमता अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, राजा-प्रजा, मालिक-मजदूर इत्यादि का कारण समाज की गतिशीलता है । जीविका के साधन खोजने में धंधे के अनुसार जाति के रूप में संगठन बनते जाते हैं । थोड़े समय बाद में जातिवार समुदाय, जो एक समय संगठन की अनिवार्य आवश्यकता थे, रूढ़ होते जाते हैं और उनमें लचीलापन नहीं रहता । इन समुदायों में स्वरक्षा की भावना (Instinct for conservation) प्रबल होने के कारण अन्य समुदायों में अलगाव की

स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस तरह एकत्व के स्थान पर अनेकत्व की भावना प्रबल हो जाती है।

अनेकत्व की भावना समाज-विरोधी है, क्योंकि अनेकता में एकता का सूत्र ही सामाजिक संगठन का मूलाधार है। अनेकत्व के कारण अलगाव एवं ऊंचनीच का भान भी पनपने लगता है। लेकिन सामाजिक प्रतिभा इसे सहन नहीं करती और चली आ रही परंपरा से विद्रोह होता है। यह विद्रोह पुण्य कार्य है, इसलिये कर्तव्य है। यह विद्रोह समाज की प्रत्येक संगठित इकाई में होता है। उदाहरणार्थ परिवार में प्रेम-विवाह, उच्च वर्ग में विधवा-विवाह, अंतरजातीय-विवाह, महिलाओं का पुलिस एवं सेना में भर्ती होना, श्रमिक संघटनों की हड़ताल, फ्रांस एवं रूस की क्रांति, भारत में १८५७ एव १९४२ का विद्रोह, मूर्तिपूजा एवं देवनाद में अविश्वास, हिंदी साहित्य में इतिवृत्तात्मकता से छायावादी प्रवृत्ति, इत्यादि विद्रोह के नमूने हैं। सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर पर विद्रोह की यह प्रवृत्ति बनी रहती है, क्योंकि यही तो रूढ़ एवं यथास्थिति से मुक्ति दिलाने वाली है। लेकिन यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि विद्रोह अपने प्राकृतिक स्वरूप में वरेण्य नहीं है। जब तक उसका रूपान्तरण समाज हित में नहीं हो जाता, तब तक ऐसा कर्म निर्जीव, निरुद्देश्य एवं समाज के लिये घातक होता है। विद्रोह में समष्टिगत भावना व्यक्ति के माध्यम से प्रकट होती है। प्रेम-विवाह में विद्रोह व्यक्ति करता है, लेकिन भावना का स्वरूप समष्टिगत एवं समाज-हित में है।

अब हम अर्जुन की युद्ध-पूर्व की मानसिक स्थिति की चर्चा करें। युद्ध न करना उसका नितान्त व्यक्तिगत दृष्टिकोण था, यद्यपि उसका छद्म रूप पुरजन-परिजन की हत्या नहीं करना था। युद्ध न करना एक तो कर्म की अस्वीकृति है तथा उसमें सामाजिक हित भी निहित नहीं है। अर्जुन की दया, माया एवं प्रेम कर्म से बचने के नैतिक उपाय हैं। लेकिन कृष्ण प्रतिनिधित्व करते हैं समष्टि का, समग्र समाज के वर्तमान एवं भविष्य का। दया और माया वर्तमान में जीने के नैतिक उपाय हैं, व्यक्ति-सापेक्ष हैं, जबकि कृष्ण का आदेश (युद्ध करना) कर्मयोग है जो कि समग्र समाज के लिए कल्याणकारी है।

उपर्युक्त चिंतन का सार यह है कि कर्मयोग का पर्याय कर्तव्य-योग नहीं है। गीता का तत्त्व कर्मयोग है। प्रत्येक कर्म कर्तव्य नहीं होते। लेकिन प्रत्येक कर्तव्य कर्म होते हैं (हो सकने की संभावना है)। अत: यह जानना आवश्यक हो जाता है कि किन गुणों से कर्म कर्तव्य बन जाता है, या कौनसी परिस्थिति हैं जिनमें कर्तव्य-अकर्तव्य का भेद मिट जाता है और जो हम करते है वह केव

कर्म रह जाता है । इसका अर्थ यह भी है कि ~~जब कर्तव्य स्वभाव का अंग बन जाता है, तब वह केवल धर्म है~~ । ~~कर्तव्य सामाजिक अवधारणा है जिसमें व्यक्ति और समष्टि के पोषण की भावना निहित है~~ । ~~जब व्यक्ति के आदर्श एवं यथार्थ या व्यक्ति के यथार्थ एवं समाज के आदर्शों में खाई पैदा होती है, तब कर्तव्य पैदा होता है~~ । क्या ऐसी खाई पाटी जा सकती है जिससे कि कर्तव्य बोध न होकर केवल कर्मबोध हो ? **गीता** का कर्मयोग ऐसा ही मार्ग है जिस पर चलकर अर्जुन स्थूल रूप से या सांसारिक रूप में हिंसा करते हुए भी अहिंसक बना रहता है । **गीता** के शब्दों में "परित्राणाय साधूनाम्" एवं "विनाशाय दुष्कृताम्" में कर्तव्य का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि ये कृष्ण के स्वाभाविक कर्म हैं । अर्जुन व कृष्ण का मन द्वैत समाप्त होकर जब अर्जुन कृष्णमय हो जाता है तब युद्ध कर्तव्य नहीं रहता कर्म हो जाता हैं । जिस समाज में कर्तव्यों का बोझ कम से कम होता है उसे समुन्नत समाज कहा जा सकता है । इतिहास के कालक्रम में यही प्रयास रहा है कि सद्गुण हमारे कर्तव्य न होकर स्वभाव बन जायें ।

—ब्रजबिहारी निगम

९, तिवारी कालोनी
माधव नगर
उज्जैन—५५६००१
(म. प्र.)

भैषज्य-विज्ञान (फार्मेसी) और नैतिकता

भैषज्य-विज्ञान और नीतिविज्ञान[1] सर्वदा दो भिन्न प्रतीत होने वाले विज्ञान हैं, जिसमें उपरी तौर पर, कोई संबंध नहीं दिखाई देता। फार्मेसी[2] की विषय-वस्तु औषधि है और नीती-विज्ञान की विषय-वस्तु नैतिकता। परन्तु प्रश्न उठता है कि परस्पर भिन्न प्रतीत होने वाले इन विज्ञानों में भी संबंध की आवश्यकता का क्या कारण है ? क्यों एक फार्मेसिस्ट फार्मेसी के साथ नैतिकता का संबंध जोड़ता है और क्यों एक नीतिशास्त्री भी फार्मेसी में अपनी दखल को आवश्यक मानता है ? इस लेखमें मैंने फार्मेसी और नैतिकता का संबंध स्पष्ट करते हुए फार्मेसी में नैतिकता के महत्त्व को बताने का प्रयत्न किया है कि नैतिकता के बिना फार्मेसी अर्थहीन ही नहीं बल्कि अनिष्टकारी है।

यद्यपि फार्मेसी में औषधि-निर्माण का उद्देश्य स्वस्थ शरीर है और नीतिशास्त्र में नैतिकता का उद्देश्य श्रेष्ठ मानव मूल्यों की स्थापना है, परन्तु गहराई से देखा जाये तो दोनों का संबंध अंततः मानव से ही है। वस्तुतः केवल फार्मेसी ही नहीं बल्कि प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक विज्ञान या प्रत्येक कला किसी न किसी प्रकार मानव के ही इर्द-गिर्द घूमता है और नैतिकता प्रत्येक पहलू, प्रत्येक क्षेत्र में मानव मूल्यों की स्थापना करती है। जिस प्रकार एक बच्चा अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अपने अभिभावक कें बिना अनाथ हो जाता है और जीवन में उसके भटक जाने का डर होता है उसी प्रकार कोई भी ज्ञान, विज्ञान या कला नैतिकता के बिना पंगु होते हैं, और अपने उद्देश्य– मानव विकास– से भटक कर मानव विनाश का कारण बनते हैं। स्पष्ट रूप से फार्मेसी भी अपने आप में स्वतंत्र विज्ञान होतें हुए भी नैतिकता के बिना अपूर्ण है।

फार्मेसी ने नैतिकता के महत्त्व एवं उसकी आवश्यता को समझने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि फार्मेसी क्या है ?

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८ अंक २, मार्च, १९८७

सामान्य अर्थों में फार्मेसी औषधि-विज्ञान की एक शाखा है जो विशेषकर औषधि-निर्माण से संबंध रखती है। दूसरे शब्दों में, फार्मेसी औषधियों का विधिवत् अध्ययन है। औषधियों की सही पहचान, विभिन्न औषधियों का संग्रह, औषधियों की निर्माण प्रक्रिया, विभिन्न औषधियों का संयोग, विश्लेषण, स्तरीकरण, औषधियों का उचित असर या प्रभाव, विपरीत प्रभाव, औषधियों का सुरक्षित रस-रसाव, उचित रूप से संग्रह आदि कार्य फार्मेसी के ही अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार औषधियों की कच्ची सामग्री से औषधियों की निर्माण तक प्रत्येक अवस्था में फर्मेंसी अपना विशेष महत्त्व रखती है।

यह सब कार्य औषधि-निर्माण-विशेषज्ञ, जो फार्मेसिस्ट कहलाता है, की देखरेख में किया जाता है। फार्मेसिस्ट वह होता है जिसे फार्मेसी की डिग्री या डिप्लोमा प्राप्त हो, या कम से कम चार वर्ष का औषधि-निर्माण का अनुभव हो। फार्मेसिस्ट अपने व्यवसाय में प्राकृतिक और कृत्रिम साधनों से इस प्रकार की अनेक औषधियाँ बनाता है जो रोग के विश्लेषण में, रोग को दूर करने में एवं रोगों की रोकथाम में उपयोगी होती हैं। बहुत कम औषधियाँ ऐसी होती हैं जो अपने मूलभूत रूप में प्रयोग की जाती हैं। अधिकांश औषधियाँ विभिन्न पदार्थों के मिश्रण से इस प्रकार बनाई जाती है कि जो तुरन्त उपयोग के लायक होती हैं।

औषधि से संबंधित महत्त्वपूर्ण सत्ताएँ हैं– रोगी, चिकित्सक और फार्मेसिस्ट।

रोगी–	वह जिसे औषधि लेनी है।
चिकित्सक–	वह जिसे औषधि देनी है।
फार्मेसिस्ट–	वह जिसे औषधि बनानी है।

स्पष्ट रूप से इसमें फार्मेसिस्ट का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसे इस प्रकार की औषधियाँ बनानी हैं जो रोगी और चिकित्सक दोनों की अपेक्षाओं को पूरा करके उन्हें संतुष्ट कर सकें। दवा लेने में सुविधाजनक हो, जल्दी आराम देने वाली हो, अर्थात् तुरन्त असर करने वाली हो, रोग को पूर्णतः दूर करे, रोगी को कम से कम लेनी पड़े आदि। फार्मेसिस्ट का उत्तरदायित्व केवल औषधि निर्माण तक ही सीमित नहीं है वरन् वह उस औषधि के लिए तब तक उत्तरदायी है जब तक कि रोगी के द्वारा उसका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार एक फार्मेसिस्ट नैतिक, सामाजिक और कानूनी तौर पर अपनी औषधि के लिए उत्तरदायी होता है।

स्पष्ट रूप से फार्मेसिस्ट रोगी और चिकित्सक के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है, परन्तु यह फार्मेसी का दुर्भाग्य है कि अधिकांश सामान्य जनता फार्मेसी से अनभिज्ञ है । वह चिकित्सक को तो जानती है जो उसे दवा देता है पर उसे नहीं जानती जो उसके स्वास्थ्य के लिए, उसे निरोगी रखने के लिए दवा बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है ।

भारत में फार्मेसी, औषधियों के अध्ययन के रूप में अत्यन्त प्राचीन विज्ञान है। यदि हम इस विज्ञान के उद्भव एवं विकास पर एक दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि इसके उद्भव का मूल कारण लोकहित या लोक कल्याण ही है । इस प्रकार फार्मेसी या भैषज्य-विज्ञान का आधार ही नैतिकता है ।

अत्यन्त प्राचीन काल में, जब मनुष्य इस विश्व में आया, अपनी उस प्रारंभिक अवस्था में वह केवल उन्हीं वस्तुओं के संपर्क आता था जो प्रकृति से उसे मिलती थीं । किन्तु धीरे धीरे मनुष्य का विकास हुआ । उसने प्रकृति के साथ खेलना शुरू किया । प्रकृति से वस्तुओं को लेकर उनको परिवर्तन, संयोजन, विश्लेषण आदि के द्वारा उनको वह रूप देना प्रारंभ किया जो उसके लिए अधिक आरामदायक, अधिक सुविधाजनक, और अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी था । मानव-सभ्यता के आरंभ से ही मनुष्य ने दैनिक रोगों के उपचार के लिए स्वयं ही औषधियों का निर्माण शुरू कर दिया, यद्यपि अंशतः उसकी चिकित्सा निरीक्षण पर निर्भर करती थी । अधिकांश रूप से उसके विचार रूढ़ीवादी थे जैसे कि रोग पूर्व कर्मों का फल है । फिर भी रोगों के उपचार की दिशा में उसने प्रयास शुरू कर दिए थे।

हिंदू धर्म में **अथर्ववेद** से ही औषधियों का वर्णन मिलता है । इसी से आगे चल कर आयुर्वेद बना । इसमें हमें अनेक रोगों के संकेत चिन्ह और रोगों की तालिका मिलती है । आयुर्वेदिक की औषधियों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके बुरें या गलत प्रभाव बहुत कम होते हैं । कालांतर में इसकी प्रसिद्धि पश्चिमी देशों में भी पहुँची और आज भी आयुर्वेदिक औषधियाँ इसलिए सर्वोत्तम मानी जाती है ।

इसके पश्चात् औषधि निर्माण-विज्ञान या फार्मेसी विकास हम ऋग्वेद में पाते है । इसमें औषधि के रूप में लगभग एक हजार जड़ी बूटियों की तालिका मिलती है, जिसमें प्रायः सभी रोगों लिए जल को सर्वोत्तम औषधि बताया गया है ।

उस समय आज की तरह चिकित्सक और फार्मेसिस्ट अर्थात् दवा देने वाले और दवा बनाने वाले दो अलग व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति होता था

एक चिकित्सक स्वयं ही अपनी दवाओं की उपज एवं खोज करता था, स्वयं ही उसका संग्रह करता था और स्वयं ही अपनी विधियों से दवा बनाता था। इस कार्य में उसके परिवार के सदस्य ही उसके सहायक होते थे। उसे वैद्य कहा जाता था। इसमें आज भी कई विद्वानों के नाम उल्लेखनीय है। जैसे– चरक सुश्रुत, नागार्जुन आदि। यद्यपि एक विशेष क्षेत्र में विशेष रूप से विद्वत्ता के कारण चरक एक चिकित्सक के रूप में, सुश्रुत एक सर्जन के रूप में और नागार्जुन एक वैज्ञानिक या पहले औषधि-निर्माण-वैज्ञानिक अर्थात् फार्मेसिस्ट के रूप में प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार भारत में औषधि विज्ञान का प्रारंभ इन प्रमुख विद्वानों के द्वारा माना जाता है। आगे चलकर इन विद्वानों के वाद इनके आनुयायियों ने इनके ज्ञान और अनुभव को अपनाया। कुछ ने इन्हें अपनाकर इसे और विकसित किया। किन्तु कुछ ने इन्हें दूषित किया। दिन-प्रतिदिन बढ़ती भौतिक आवश्यकताओं को देखकर उन्होंने इसे मात्र आय का साधन समझा। इस प्रकार अनाड़ी और गलत हाथों में पड़कर यह व्यवसाय बदनाम हो गया। औषधि-विज्ञान का मूल उद्देश्य– लोकहित– ही लुप्त होने लगा।

१९ वी शताब्दी में अंग्रेज भारत आये और अंग्रेजों के साथ ऐंलोपेथिक दवाओं का विज्ञान भी भारत आया। अब औषधियों का कच्चा माल और निर्मित औषधियों का विदेशों से भारत में आयात होने लगा। सन १९११ में कलकत्ता में भारत की पहली दवा-विक्रेता की दुकान खुली। धीरे-धीरे ऐसी अनेक दुकानें खुलती गयीं। १९०१ में भारत में लघु औषधिक निर्माण उद्योग शुरू हुआ और इस प्रकार भारत में एलोपेथिक औषधियों के निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। किन्तु फिर प्रथम विश्व-युद्ध के साथ औषधि निर्माण के क्षेत्र में भारी उलट फेर हुआ। उस समय भारत में सीमित निर्माण के लघु उद्योग ही थे जबकि उसे लाखों घायलों और रोगियों की चिकित्सा करनी थी, जिसे वे पूर्ण करने में असमर्थ थे। अतः पुनः विदेशों से कम कीमतों पर औषधियों का आयात होने लगा। भारतीय कंपनियाँ विदेशी कंपनियों की कट्टर प्रतिद्वन्द्वी बन गयी। भारतीय कंपनियों नें अधिक से अधिक निर्माण कर विदेशी कंपनियों का बहिष्कार कर, नामोनिशान मिटा देना चाहा। दवाइयों की कीमत कम रखने के उददेश्य से दवाइयों के गुणों एवं प्रभाव से उनका वास्ता खत्म होता गया। इस तरह एक अस्वस्थ्य प्रतिद्वन्द्विता फैलने लगी और इसके दुष्परिणामों का शिकार बनी निर्दोष सामान्य जनता। परिस्थितियों की विषमता को देखते हुए सरकार का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया गया। परिणाम स्वरूप एक "ड्रग इन्क्वावायरी कमिटी" का गठन किया गया।

यहाँ एक प्रश्न सामने आता है कि औषधि–निर्माण के एक कल्याणका कार्य में कानून की आवश्यकता क्यों पड़ी ? उत्तर स्पष्ट और सरल है मानव उपने नैतिक मूल्यों से गिरने लगा था । उसकी नैतिक चेतना मर चुकी जो उसे गलत या अनैतिक कर्मों से रोक पाती । अतः आंतरिक अंकुश न हों के कारण उस पर कानून का बाह्य अंकुश आवश्यक हो गया था, जो उसे अनैतिकता के गर्त में गिरने से रोक सके ।

इस संदर्भ में नैतिकता की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है । नैतिक नीतिविज्ञान का विषय है । सामान्य अर्थों में नीतिविज्ञान आचरण का विज्ञान है नीतिविज्ञान उस चीज का अध्ययन है जो आचरण को उचित, अच्छा या शु बनाती है । पर उचित क्या है ? शुभ किसे कहते हैं ? उचित को अंग्रेजी "राईट" कहते हैं जो लॅटिन के "रेक्टस्" से बना है जिसका अर्थ है "सीधा या "नियमानुसार"। इस प्रकार किसी आचरण को उचित कहने का तात्पर्य है कि वह नियम के अनुसार है । किन्तु नियम किसी परिणाम से संबंधित होते हैं जो उसके अनुसार चलने से प्राप्त होते हैं । "शुभ" शब्द इसी ओर संकेत करता है । कोई भी कार्य या आचरण तब शुभ कहा जाता है जब किसी साध्य के लिए उसका महत्त्व है । जेसे एक विशेष प्रकार की दवा एक विशेष रोग के लिए शुभ या अच्छी कही जाती है । इस प्रकार नीति-विज्ञान मानव के कार्यों एवं प्रयोजनों में उचित और शुभ का अध्ययन करता है । इस प्रकार के अध्ययन को कभी-कभी मानकीय कहा जाता है । इसका प्रयोजन सही रास्ता दिखाने वाले सिद्धान्तों की जानकारी देना है ।

नीतिविज्ञान का संबंध मानवीय मूल्यों के मानकों से है । नैतिक अनैतिक का निर्णय किसी भी कार्य के लिए तभी किया जा सकता है जबकि वह कार्य अच्छे बुरे का भेद जानते हुए स्वतंत्रतापूर्वक किया गया हो । पशु भी स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते हैं किन्तु उन्हें अच्छे–बुरे, नैतिक–अनैतिक का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार नीतिविज्ञान मानवीय मूल्यों के मानकों से संबंधित है । नैतिकता सुन्दर रेशमी जाल की तरह पूरे मानव समाज में व्याप्त है जिसे समाज से अलग नहीं किया जा सकता । नैतिकता मानवता का आधार है । यदि नैतिकता को मानव समाज से अलग किया जाय तो मानवता भी समाप्त हो जावेगी । परिणाम स्वरूप मानव समाज का ही विनाश हो जायेगा । क्योंकि मानव समाज का आधार आपसी प्रेम, सहयोग और सुरक्षा है ।

मनुष्य के आचरण को एक ओर राज्य के कानून, समाज के नियम नियंत्रित करते हैं पर दूसरी ओर उसको कर्तव्य भावना, उसकी आंतरिक चेतना उस पर

अंकुश लगाती है। राज्य और समाज के बाहरी अंकुशों से आत्मिक चेतना का आंतरिक अंकुश अधिक बलवान् और अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बाह्य अंकुश बाह्य दृष्टि से छुपकर चोरी से तोडे भी जा सकते हैं। परंतु आंतरिक अंकुश स्वयं अपनी ही चेतना का अंकुश है। मानव अपने से छुपकर तो कहां जा नहीं सकता। ये अंकुश स्वयं उसके ही द्वारा स्वयं उसके ऊपर ही लगाये गए हैं। वस्तुतः यहां आंतरिक अंकुश मानव को श्रेष्ठ बनाते हैं। राज्य या समाज के बाह्य अंकुश मानव को किसी अन्य को चोट पहुंचाने से रोक सकते हैं, ऐसे किसी कार्य पर उसे दंड दे सकते हैं। पर ये बाहरी अंकुश मानव को मानव के प्रति प्रेम, सहानुभूति या परोपकार के लिए बाध्य नहीं कर सकते। मानव की आंतरिक चेतना या नैतिकता ही मुसीबत में किसी की मदद की ओर प्रेरित करती है, तड़पते रोगी को देखकर सेवा के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार नैतिकता हमारी आत्मिक चेतना से आती है, बाहर से लादी नहीं जा सकती।

इसी नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में अब यदि हम फार्मेसी का मूल्यांकन करें तो जीवनयापन का साधन होते हुए भी फार्मेसी व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रसित, तड़पते हुए रोगियों को रोगों से मुक्त करना है। उसका उद्देश्य सेवा ओर प्रेम की भावना से परिपूर्ण है। इस प्रकार फार्मेसी अपने आदर्शों में महान है और अपने कार्यों में पवित्र है।

प्राचीन काल की ओर लौटने पर हम फार्मेसी में नैतिकता को प्रारंभ से ही पाते हैं। **चरक संहिता** में स्पष्ट निर्देश है कि स्वयं के लिए नहीं, न ही किसी भौतिक सुखों की पूर्ति के लिए, वरन् विशुद्ध रूप से दुखी मानवता के कल्याण के लिए ही अपने रोगियों की चिकित्सा करो। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता फार्मेसी में चरक के समय से ही आधारशिला रही है।

अतः संपूर्ण मानवता की सेवा लिए फार्मेसिस्ट को फार्मेसी के व्यवसाय में अपने आदर्शों को महान् और अपने कार्यों को पवित्र बनाए रखना चाहिए। औषधि- निर्माण की प्रत्येक प्रक्रिया की उसे समुचित जानकारी रखनी चाहिए। विषैली और तेज असरकारक औषधियों का सावधानीपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। आकस्मिक सेवाओं के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। अस्वस्थ्य प्रतिद्वंद्विता से बच कर कार्य करना चाहिए। अनाड़ी एवं अज्ञानी हाथों से इस व्यवसाय को दूर रखने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

मिलावटी, नकली दवाएं, भ्रमित करने वाले विज्ञापन, आकर्षक या इनामी योजनाएँ आदि इस व्यवसाय को दूषित करती हैं। इनके कारण विश्वस्त दवाओं पर से भी जनता का विश्वास उठता जा रहा है। अतः फार्मेसिस्ट का आज सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि वह प्रकार की अस्वस्थ्य प्रतिद्वंद्विता से बचकर

रहे जो उसे आय का तो अच्छा साधन बन सकती है, किन्तु फार्मेसी को मूलभूत एवं महान् आदर्शों से गिराती है। कैसी भी विषम परिस्थितियों में अपने कर्तव्य के पथ पर अड़िग रहना चाहिए । यहां शेक्सपियर की एक का छोटा सा अंश उल्लेखनीय है , जिसका भावार्थ इस प्रकार है:–

एक व्यक्ति ने फार्मेसिस्ट से यह कहते हुए जहर मांगा कि हमारे दे भूखमरी फैली हुई है। खाने को कुछ नहीं है और हमारे देश में ऐसा कोई नहीं है जो एक गरीब को अमीर बना सके या उसे खाने को कुछ दे सके। इस अपने अस्तित्व को खत्म करने के लिए मुझे तुम जहर दे दो। लेकिन फार्मे ने अपने कर्तव्य को निभाते हुए यह कहा कि आपको जैसी अपनी गरीबी, है वैसे मुझे भी मेरी गरीबी, मेरी भूख है; फिर भी मेरी चेतना मुझे इसकी नहीं देती है।

इन नैतिक सिद्धान्तों बिना अपने बोध की चेतना को दबाकर कोई व्यक्ति फार्मेसी के व्यवसाय को अपना सकता है। उसके पास ऐसे अनुचित तरीके हो सकते हैं जिससे वह अपने जीवन को भौतिक दृष्टि से सुख बना सकता है, भले ही उसके अनुचित तरीके अनेक सीधे साधे व्यक्तियों के दुख या मृत्यु का कारण बने। किन्तु ये सुख उसे भी आत्मिक सुख या संवे नहीं दे सकते। ऐसा फार्मेसिस्ट एक क़साई के समान है जो उस बछड़े को ह करता है जिसने उसके प्रति कभी कोई गलती नहीं की।

यह सब क्या सिद्ध करता है ? यही कि नैतिकता के बिना फार्मेसी नि ही नहीं बल्कि विनाशकारी भी है।

— राज्यश्री अग्र

दर्शन विभाग
शासकीय हमीदिया महाविद्यालय
भोपाल (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. नीतिविज्ञान शब्द यद्यपि हमेशा ही विवाद का विषय रहा है कि शास्त्र क्या विज्ञान है, फिर भी नीतिविज्ञान शब्द का प्रयोग सारे विवादों को भूलकर मैंने नीतिशास्त्र के स्थान पर ही किया है

२. फार्मेसी के लिए हिन्दी शब्द भैषज्य-विज्ञान है किन्तु फार्मेसी शब्द सामान्य लोगों में अधिक प्रचलित है इसलिए फार्मेसी शब्द प्रयोग किया गया है।

समसामयिक कविता और विज्ञानी तेवर

चौकन्ने संवेदनशील एण्टेना की पकड़ में अनंत अनुभव-तरंगों से एक स्पर्श-सूत्र, आता है। गूंज अनुगूंज, इस श्रृंग पर, निज अवृत्ति से अनुनादित हो चुस्त परिधान में अवतरित होती है। 'कविता' के बाद के तीर (संकेत चिन्ह) से आगे की इबारत कुछ इसी तरह की है। यह एक वृहद् सन्निकटन है क्योंकि किसी सर्जक का मन स्थूल सूत्र से निर्धारित नहीं है। फिर भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि ऐसा ही आनुभविक-सूत्र सर्जनात्मक कृति का होता है। कृति से कृति में प्रमुख अंतर 'परिधान' से पूर्व प्रयुक्त विशेषण में आता है। प्रेरण-तत्त्व व्यापक से प्राप्त हुआ, फिर तो संप्रेषण से पहले उत्प्रेरक का काम रहा कि कथ्य में इच्छित पैनापन आये। व्यक्ति से व्यक्ति की अनुभव और प्रेरणा-ग्राहकता में जितनी भिन्नता है कदाचित् वही मात्रा प्रभाव-निष्पत्ति में है। कृतिकारों के शब्दकौशल में एक साम्य भी नजर आता है जो कि विद्यमान काल-प्रभाव और सर्वसम कार्य-कारण से है। युगीन भाषा यथार्थ की वाणी है और सौभाग्यवश वह तर्काधारित है। वस्तुतः, सच्चे प्रत्यक्ष यथार्थ से गढ़ी, विवेक चढ़ी विद्या विज्ञान है। बुद्धि को अधिक स्वीकार्य होने से इसी प्राकृतिक ज्ञान का प्रभाव सारी मानविकी विधाओं-व्यापारों में व्यापक तौर पर है।

कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महा विविर में
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में

ये शब्द सम्मोहन पैदा करते हैं। मगर निमग्नता ठगी तो यों रह जाती है—लो, प्रसादजी कहाँ पहुँच गये। समुचित शब्दों ने चैतन्य यथार्थ को वह संवेग प्रदान किया है कि वैचारिकता झूम उठी। बौद्धिक आनंद की यह पराकाष्ठा है। विज्ञान का पहला ध्येय व्यक्ति को आनंदित करना है। निश्चय ही विज्ञान-बोध ने हमें पूर्वकवियों, स्वप्नद्रष्टाओं से अधिक समृद्ध बनाया है क्योंकि विद्यमान कल्पनाशक्ति व्यापक हो गयी, कहीं अधिक तर्काश्रित हो गई। कुतूहल में तनिक

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

घाटा नहीं पड़ा, रहस्य बढ़कर विश्वसनीय हो चला। प्रचलित से भिन्नता सदैव ही मांग रही है, वह तो आनी ही थी। जो ठण्ड़क मनोहारी हुआ थी, सही पहचान पर उसके परिवर्तित स्वरूप में रूपक व्यंग्यार्थी हो चला।

चुरायी हुई रोशनी से रोशन
चांद की दर्प-भरी चाल पर
देखो तो सही ये सितारे कितने हंस रहे हैं।
इसमें सूरज का कोई दोष नहीं
क्योंकि हम जानते हैं
कि हर चारण की खुशामद ने
अपने मालिक का प्यार पाया है
(चुराई हुई रोशनी से रोशन : मुनि रूपचन्द)

न्यूटन जब कहते हैं कि अपनें बड़ेरों के कंधों पर खड़ें होकर देखने पर मैं आगे का देख पाया तो ये स्वर किसी मूर्ति-भंजक के नहीं है। विज्ञान ठरा वह अपनी छवि निरंतर निखारता रहता है– अधिक आकर्षक, निश्छल बुद्धिजन्य। वहाँ पुराने सुरों में नयें सुर जुड़ते रहते हैं, हालाँकि बीच बीच में नई रागनियाँ उद्घाटित होती रहती हैं। वैविध्य में एकता लाना उसका उद्देश्य रहा है। भूलबलों की एक ही उत्पत्ति का सिद्धान्त भविष्य में ताक है। देखते देखते दिक्-काल संबद्धता सुस्पष्ट हो चली, काल की चिरम्मतता-संतत का उल्लेख पुरानों की तरह नये तेवरों में प्रचुर है। यहाँ, द्रष्टव्य है बलदेव के 'आत्मदान' से दो अंश:

अतीत
वर्तमान
भविष्य
—त्रिकाल एक धारा है
सतत प्रवहमान......
और तत्त्व निर्माताओं का सतत नृत्य —
ये पेड़-पौधे
वन-उपवन
छाये लता-गुल्म
अणु-अणु प्रकम्पित
थर् थर् थर्

निश्चय ही नैसर्गिक का यह वास्तविक वर्णन कविता के अनुवर्ती प्रसंग की स्तरीय गतिकी देता है।

जमाने पर लद चले उपयोतावादी दृष्टिकोण ने विज्ञान को स्थूल और वस्तुपरक ही पाया है, जबकि बिन सराही यह है कि विज्ञान को विकसित विषयगतता ही करती है। प्रौद्योगिकी-तकनीकी का इरादा है – यथार्थ दुनिया को इस तरह टोहना कि वह मनुष्य के लिए लाभकारी हो, जबकि शुद्ध विज्ञान का लक्ष्य यथार्थ ब्रह्मांड का सच्चा तथ्यपरक स्वरूप जानना है। अन्तर-अनुशासनों से परिचित कवि अपनी रचनाशैली में यह भेद प्रायः नहीं करता। सच तो यह है, सामान्य वैज्ञानिक भी नहीं रखता यह पार्थक्य। यह समुचित भी है क्योंकि अभिव्यक्ति में नये माध्यम अपनाते हुए यह शुद्ध दार्शनिक सतर्कता अवरोध ही पैदा करती है। दरअसल, विषयों की अन्योन्य-आश्रितता और युगीन दबाव रचयिता को मुखर करते है। द्वंद्वाधृत ये सब कही में उपस्थित यह गड्डमड् त्वरण ही प्रदान करती है; हाँ अपेक्षित हैं अनुशासित प्रस्तुति हो बिना हड़बड़ी के। समसामयिक कविताओं में इसी पक्षधारिता से पाठक कहीं तो ठगा-सा और कहीं अनमना हो उठता है।

नीले द्वीप से जिस्म पर
एक पहिया चलता है
चुपचाप।
ऊपर नीचे
नीचे ऊपर
और मेरे अंदर एक चट्टान टूटने लगती है.
मैं एक मशहूर गुलाब को कुचलना शुरू कर देता हूँ।
सारा पानी पी लेने के बाद
जड़ें ऊपर चढ़ना शुरु कर देती हैं
और वृक्ष सूखने लगता है।
('लाल आसमान' : सतीश वर्मा).

मानवीय चेतना पर तकनीकी के विविध प्रभावों ने विचारों को आंतरिक ऊर्जा दी। यन्त्रयुग का वाशिंदा किस से तो सम्पृक्त होता चला और इस नव संस्कृति ने संस्कारित मन को कहाँ झिंझोड़ा, वह यौगिक ठण्डी-गर्म दोनों प्रकार की कविताओं का नाभिक और कवच बन चुका है। श्री भवानीप्रसाद मिश्र की

कविता 'जलवा चीजों का' विज्ञान-कथा सा रोमांच पैदा करती है। कविता के शुद्ध विज्ञान-आधृत होने की ओर इंगित भी हमें नजर आता है।

मगर वह यह नहीं जानता
कि किसी दिन यह
जलवा चीजों का
बदलकर
एक तरह का
मलवा हो जायेगा तब चीजें गायेंगी नहीं
आयेंगी नहीं
किसी काम में
सिर्फ फटेंगी
आसमान के छोरों से
धरती के छोरों तक
और आदमी तो
छार छार हो ही चुका है
चीजें भी
छार छार हो जायेंगी
रह जायेगा
चीजों का जलवा
हो कर मलवा।

ऊष्मागतिकी का द्वितीय नियम कहता है : दुनिया की चीजों की परि अव्यवस्था की ओर है। एकदिशता को समर्पित यह नियम एक ऐतिहा नियम है। इससे विपरीत गुरुत्वीय आकर्षक का नियम इतिहास से परे निश्चय ही प्रेम के बाद में ही संघर्ष आरम्भ हुआ होगा। प्रेम की स्वाभा अभिव्यक्ति पाने के हेतु यद्यपि आज की कविता में तलाश करनी पड़ती है फिर सौभाग्य से काफी तलाश करनी पड़ेगी वैसा जमाना अभी नहीं आया है। मौ की ओर, अनुत्तेंजित, व्यवस्थित से खींची मनःस्थिति की एक बानगी–

वह आगे बढ़ता है
गतिशील प्रकृति के नियंत्रण में
जीवन का नियमन करते

स्वयं बनते इतिहास को समर्पित
मुक्त छोड़ता है अगले चक्र के लिए
एक तेजवान् सक्रियता
उसकी चेतना को मूर्त बनाती
अर्थाधारित व्यवस्था के विरुद्ध
आवाज लगाती है !

('पुनर्वास का दण्ड': विनय)

तकनीकी विकास से उत्पन्न विरोधाभास कुछ ऐसा है कि बृहद् संवेदनशील प्रश्न उठता है, मैं यहाँ भला क्या हूँ ? यहाँ तो सब कुछ पादप-गृह (ग्रीन हाऊस) सा हो चुका जिसमें मृत, स्थाई और कृत्रिम पौधे संग्रहीत हैं। 'पौधा' प्रयोग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि वनस्पति और जीव का प्राकृतिक अंतर जो था वह नई व्यवस्था में वानस्पतिक सा हो चला। प्रगति इस ओर हो चली कि मनुष्य का आधारभूत स्नायुमण्डल ही छीन गया। प्लास्टिक शल्य क्रिया अनरुणी सलवटें कैसे हटा पायेंगी, भीतर विकृत लहरियां नित बढ़ती जा रही हैं। तर्काश्रित, बुद्धि-सम्पन्न, सचाई से रुबरू की तब रीढ़ तन जाती है– मुझे अब देवों से नहीं कहना, मैं इन्सान के लिए लिखने जा रहा हूँ। अन्धव्यवस्था होगी जिसे ईश्वर ने सुघड़ आकृति दी होगी, हमने निकट इतिहास में ही व्यवस्था का थोबड़ा फेर दिया।

जब मैं बाहर आया,
मेरे हाथों में
एक कविता थी और दिमाग में
आंतों का एक्स-रे

('पटकथा' : धूमिल)

तकनीकी पर अधिकार किसका हो चला ? तकनीकी विकास का मूल प्रयोजन क्या था ? मीठा बतियाती तकनीकी की अंतडियों में क्या है ? ऐसे परिणामों से उपजे कोलाहल ने व्याकुलता पैदा कर दी और–

विचारों तक में नहीं बची
गगनोन्मुख होने की इच्छा

न वाणी साफ है
न पानी साफ हैं
न कहीं प्रकाश है स्वच्छ
जब सब कुछ मैला हैं
आसमान
गंदगी बरसानेवाला
अछोर एक थैला है

समय का अर्थ
प्यार के लिए था
पाँव के नीचे ठोस
किसी आदर्श की
शक्ति से सम्पन्न
आधार के लिए था
साफ विचार के लिए था
नीले आसमान के लिए था
और तो और
लिपे पुते साफ सुथरे
छोटे मकान के लिए था ।
('वातावरण के रन में' : भवानीप्रसाद मिश्र)

भौतिक प्रदूषण (जिसमें मानसिक प्रदूषण भी शामिल है) सर्वत्र मैले लिए गरमागरम आकर्षण बिम्ब बन चुका है । हमारी दैनंदिन समस्याएं अर्थ जुड़ी हैं, और राजनीतिक दोगलापन बर्दाश्त से बाहर हो चुका है । आपाधापी गतिमान चक्र के अरे हम, अपना व्यष्टिपन खो चुके । वस्तुओं की तरह मनु को तौलने का मानक भी सांख्यिकी हो चला । आदमी (मरीज) की पहच संख्या (पलंग) हो चली । श्री आमटे टाइप के छोटें प्वाइंट के हकदार ही गये जबकि मिस्टर आतंकवादी इतने प्रमुख कि मोतियाबिंद वाला भी आसानी पढ़ ले । असुरक्षितता को महसूस करते ईमानदार परिश्रमी के पक्ष में जुझा स्वर-शब्द समकालीन कविता में रेखांकित हो रहे हैं । समष्टि-कुढ़न को व्यथ करता एक अंश देखें :

खाली हाथ और भरे मन
रेत के ऊपर
आकाश के नीचे
कुहरे की नदी में
चित लेटे हुए
मैं सूर्य माँगता हूँ
मुझे बर्फ मिलती है
('दीवारों पर खून से' : चन्द्रकान्त देवताले)

रॉयल सोसायटी को मान्यता देते समय यह आशा की गई थी कि संस्था के कार्यकलापों से शैली में अंतर आयेगा । तदनंतर, इंग्लैण्ड के गद्य-पद्य में वांछित परिवर्तन सर्वविदित है । हमारी कविता में, सपाटबयानी के साथ-साथ कई नई भंगिमाएँ इधर के तेवरों को स्पष्टतः पृथक् करती हैं । संघनीत प्रस्तुति, मूल-पाठ में संक्षेपण तथा भावजगत् से विचार जगत् को संक्रमित होने में नवशब्दावली (वैज्ञानिक शब्द) का विशिष्ट योगदान है । वैज्ञानिक शब्दावली इतनी लचीली नहीं नजर आती । इस कमजोरी से बड़ा लाभ है क्योंकि यहाँ यथातथ्यता सीधे प्रतिक्रिया पैदा करती है । मिसाइल अपने ठिकाने पर ही जाती है । कहीं बढ़कर ताजगी लाया है नया अलंकरण । स्पष्ट है कि यह इशारा फैशन की तरह चल पड़े शब्दों की ओर नहीं है बल्कि सुरुचिवान्-प्राणवान् शब्दों की ओर है जो स्वयं में संकेत से बढ़कर गहरे प्रतीक लिए हैं । आत्मालाप में नव शैली भिन्न ही कौतुक पैदा करती है । मोटे सारांश के लिए प्रस्तुत की बानगी में कुछ पंक्तियाँ देखें—

बशर्ते कि वेल्डिंग मशीन की तरह तुम
मुझे तुरंत पिघला दो
और बिना घबराये इस तरह जोड़ दो
कि संधि का कहीं पता न चले ।
('मुठभेड़' : विश्वंभरनाथ उपाध्याय)

अब भी, कवि का मन सूत पर नाचते नाचते, तल्लीनता की निष्पत्ति में बंधे बंधाये सूत्र से हट उन्मुक्त हो अनभिज्ञ उलझनों और अर्थों में रमता हुआ निराधार हो डोलने लगता है । यह खुलापन नैसर्गिक से गहन तादात्म्य का प्रतिफल है । भीड़ में अकेले होने का अहसास और समृद्ध की भी निस्सहाय स्थिति :

पृथ्वी भी उतनी
अकेली न होगी आकाश में
जितना अकेले का यह आना-जाना है
बर्फ कब बनी नदी वहीं कब विलीन हुई
सागर का बादलों में बदल जाना बता पाना
गुच्छा पहेली सुलझाना है

यहाँ किसी तरह का कोई दावा
अपने ही पैर का अंगूठा पकड़कर
खुद को उठाना
हवा में झुलाना है ।

('भवरोग' : कैलाश वाजपेयी)

निश्चय ही, वैज्ञानिक चेतना ने अनिश्चितता और क्षुद्रता के प्रति और कि हो जाना सिखाया है । जीव-विज्ञान ने ही तो अवगत कराया कि स्थाई तो कुछ भी नहीं, निश्चित तो मृत्यु है पुनर्जीवन के लिए । आश्चर्य, हजारों का केलरियां उदरस्थ कर जिव्हा ठण्डा कहती है !

आज के समय में, विज्ञान और कविता (साहित्य भी) ध्रुव विपरी हो नहीं सकते । माना, कविता अन्तर्जगत् में खोज है और विज्ञान प्रकटतः में अनुसंधान से संबंधित । मगर किसे तो ऊपरी कहें और किसे भीत अन्तर्ज्ञान, आरोहण, निरन्तर जूझते रहना...

कितने उभय फलन हैं किसी भी निमग्न लेखन में ।

कविता और शब्द का रिश्ता
समय और समुद्र का रिश्ता है—
मैं केवल एक मूर्त
क्षण-भंगुर संयोजन
लगातार लगते विरामों के बीच
स्वतन्त्रता खोजना
सीमित होने का विरोध करता हूँ ।

('अनाम होने से पहले' : विनय)

स्वतन्त्र, सीमित होने का विरोध विज्ञान-बोध की उपज है। संयोजन चाहे क्षण-भंगुर हो, शरीर-गठन-तत्त्वों का मूल्य नौ रुपये अस्सी पैसे मात्र हो, संकट कितना ही हावी हो फिर भी संदेह के लिए स्वतन्त्र आशावान् बौद्धिक मन ने मूलतः आनंदस्वरूप होने के कारण ही—

आदमी ने प्रकृति को
केवल अपने लिए ही नहीं
अपने और आदमी के सिवा भी
सब के लिए गाया है।
('बहुस्याम्' : भवानी प्रसाद मिश्र)

— धनराज चौधरी

भौतिकी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर — ३०२००४
(राजस्थान)

विज्ञान–बोध और वैचारिकता

जब भी हम 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं, हमारे सामने उस का तकनीकी पक्ष उभर कर आता है और इस प्रकार हम विज्ञान-बोध को एक सीमित अर्थ प्रदान करते हैं। बर्ट्राण्ड रसेल ने विज्ञान के इस पक्ष को शक्ति-मूल्य की संज्ञा दी है जो एक ओर आदमी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो दूसरी ओर राजतन्त्र को निरंकुशता की ओर ले जाता है। विज्ञान का यह शक्तिपक्ष वैचारिकता से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना शक्ति अर्जन से। विज्ञान-बोध हमें एक ऐसे आयाम की ओर ले जाता है जिस के बारे में हम कम ही सोचते हैं। यह क्षेत्र है विज्ञान का वैचारिक पक्ष या चिन्तन पक्ष।

विज्ञान के इस पक्ष ने उस के उस रूप को स्पष्ट किया है जिसने न केवल मानव, ब्रह्मांड और सृष्टि से सम्बन्धित मान्यताओं और अवधारणाओं में ही परिवर्तन किया है, बल्कि हमें नये ढंग से सोचने पर भी विवश किया है। इस दृष्टि से विज्ञान-बोध हमारे वैचारिक क्षितिज को विस्तार प्रदान करता है और अनेक दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं और प्रत्ययों को एक नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। धर्म और दर्शन के अनेक प्रत्ययों और विचारों को वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा नये प्रकार से विवेचित किया जा सकता है और इस प्रकार. ज्ञान के अन्तर-अनुशासनीय 'संवाद' का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। एक प्रकार से यह 'संवाद' हमें नये सन्दर्भों से जोड़ता है। उदाहरणस्वरूप, त्रिमूर्ति की धारणा को लिया जा सकता है, जो एक वैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन करती है। ब्रह्मा सृष्टि का प्रतीक (सृजनशक्ति), विष्णु समरसता का और शिव विलय का प्रतीक है। त्रिमूर्ति की धारणा में सृजन और विलय का एक नित्य चक्र स्पष्ट होता है और यह क्रम निरन्तर चला करता है। प्रकृति के ये तीन नियम इस वैज्ञानिक सत्य को भी स्पष्ट करते हैं कि समस्त सृष्टि निरन्तर सृजन और विलय और फिर विलय से सृजन की ओर गतिशील रहती है और इस क्रम में 'पदार्थ'

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

का विलय होता है, विनाश नहीं। इसी प्रकार उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। 'ब्रह्म' शब्द की संरचना 'बृह्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है फैलना या 'विस्तरणशील होना। आधुनिक विज्ञान विस्तरणशील विश्व (एक्सपाण्डिग युनिवर्स) की धारणा को मानता है जिस में दिक् सदैव फैल रहा है और समस्त घटनाएँ इसी 'दिक्' में सम्पन्न हो रहीं हैं। दिक् की यह विराट्ता ब्रह्म की विराट्ता है। ब्रह्म को जब सृष्टि करने की इच्छा हुई, तब उसने 'माया' को जन्म दिया और उसकी सहायता से सृष्टि-कार्य सम्पन्न किया। यह तथ्य इस जीवशास्त्रीय सत्य की ओर संकेत करता है कि अकेला व्यक्ति प्रजन नहीं कर सकता, उसके लिए 'दो' की आवश्यकता है, जो सृजन में सेक्स या यौन के महत्त्व पर प्रकाश डालता है। इन उदाहरणों से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि किसी भी ज्ञान-क्षेत्र के प्रतीकों का महत्त्व और औचित्य उनके 'विवेचन' में है जो उस 'प्रतीक' के अर्थ को नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं।

विज्ञान-बोध के उपर्युक्त स्तर के साथ एक अन्य तत्व है, 'मनोभावों' का। विज्ञान का विकास इधर एक आन्तरिक विकास की ओर गतिशील है। वस्तुत: 'ज्ञान' के जिस प्रेम की देन यह विज्ञान है, वह एक व्यवस्थित एवं अभिज्ञान-परक ज्ञान है। विज्ञान-बोध का यह मनोभाव है जो किसी 'वस्तु' या प्रत्यय के प्रति ज्ञान इस लिए प्राप्त करना चाहता है कि उसके प्रति उसका एक तटस्थ प्रेमभाव है। ज्ञान की यह कामना एक भिन्न मनोभाव से सम्बन्धित है जो हमें रहस्यवादियों, कवियों तथा दार्शनिकों में प्राप्त होती है। ये सभी सत्यान्वेषी होते हैं, केवल उन में पद्धति का अन्तर हो सकता है। प्रेम और ज्ञान के प्रत्येक स्वरूप के द्वारा हम 'प्रिय' के ज्ञान का साक्षात्कार करते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान-बोध ज्ञान के स्तरों का साक्षात्कार करता है और साथ ही विश्व, ब्रह्माण्ड तथा मानव जीवन के रहस्यों का उद्घाटन भी करता है, जिससे हमारी वैचारिकता नवीन दिशाओं की ओर प्रेरित होती है।

विज्ञान-बोध से सम्बन्धित वैचारिकता ने दो महत्त्वपूर्ण क्रान्तियाँ की हैं—एक मानव के स्वरूप से सम्बन्धित है और दूसरी ब्रह्माण्ड के स्वरूप तथा रहस्य से। इन दोनों वैचारिक क्रान्तियों ने हमारी पारम्परिक मूल्य-अवधारणा को भी एक प्रकार से संशोधित किया है, तथा दूसरी ओर, मानव तथा ब्रह्मांड से सम्बन्धित नवीन प्रस्थापनाओं को प्रस्तुत किया है, जिसने दार्शनिक एवं धार्मिक उपपत्तियों को भी प्रभावित किया है।

विकासवादी सिद्धान्त की दृष्टि से मानव का सम्बन्ध मानवेतर प्राणियों है, क्योंकि वाह्य एवं आन्तरिक संरचना और संगठन की दृष्टि से मानव औ मानवेतर प्राणियों में अनेक समानताएँ हैं। ली काम्टे डू न्यूं ने अपनी प्रसि पुस्तक ह्यूमन डेस्टिनी में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि शारीरि संरचना की दृष्टि से मानव विकास-क्रम का सब से विशेषीकृत प्राणी है और इस क्षेत्र में अब उस का विकास सम्भव नहीं हैं। विकास का यह नियम है कि जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे-वैसे जीव की संरचना जटिल से जटिलतर होती जाती है और संरचना की दृष्टि से मानव सब से अधिक जटिल प्राणी है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मानव ईश्वर का अंश न होकर, विकास की चर परिणति है और उसका अवतरण अनायास न होकर 'क्रमिक रूप' में हुआ है।

अब प्रश्न है मानव का भावी विकास किस दिशा में सम्भव है? इस क उत्तर जीवविज्ञान के अनेक विचारकों ने यह दिया है कि इस चरम शारीरि संरचना के बाद मानव की भावी विकास-सम्भावनाएँ मानसिक एवं आध्यात्मि स्तरों पर ही घटित हो सकती है। मानसिक और आध्यात्मिक विकास का क अर्थ है, इसे समझने के लिए सबसे पहले मानव की स्वातन्त्र्य-भावना को हृदयं-गम करना आवश्यक है। विकासवादी परम्परा के अनुसार जीवधारियों की स्वातन्त्र्य-भावना का विकास उनकी चयन-शक्ति पर आश्रित है और मानव तक आते-आते यह 'चयन-शक्ति' अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है। चयन की भावना दो (या अधिक) विपरीत स्थितियों के मध्य सन्तुलन भी करती है, और कभी-कभी वह दो प्रत्ययों के बीच एक प्रत्यय या वस्तु का निर्वाचन भी कर है, जो बौद्धिक विकास का वह बिन्दु है जो मानव को अन्य मानवेतर प्राणियों भिन्न कर देता है। दूसरे शब्दों में, कुछ करने या न करने की प्रतिबद्धता, ज अस्तित्व का एक आवश्यक तत्त्व है, मानव की इसी इच्छा या चयन-शक्ति द्योतक है। वस्तुतः यह प्रतिबद्धता मानवीय जीवन के विकास-क्रम के साथ जु हुई है। यही कारण है कि मानवीय बुद्धि कुछ-न-कुछ चयन करती है और उ के अनुसार व्यवहार या आचरण करती है। इस प्रकार मानव किसी-न-कि प्रतिबद्धता की ओर अग्रसर होता हैं। अतः नैतिक आचरण और प्रतिबद्धता दो का एक सापेक्ष महत्त्व है जो कार्य-कारण की श्रृंखला से बंधा हुआ है। विक की परम्परा में नैतिकता की धारणा एक सापेक्ष धारणा है न कि निरपेक्ष औ यह सापेक्ष-दर्शन विज्ञान-बोध का एक ऐसा तत्त्व है जो चिन्तन के नवीन आया को उद्घाटित करता है। होमोसैपियन्स (मानव का आदिम रूप) में विवेक नैतिकता का आदिम रूप प्राप्त होता है क्योंकि होमोसैपियन्स का अर्थ

विवेकशील प्राणी है। यह वह जीवशास्त्रीय स्तर है जिस का अतिक्रमण कर मानव मनोवैज्ञानिक स्तर में प्रवेश करता है। मानव का यह मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण उस की 'दिव्यता' का ही रूप है। जब तक हम स्वातन्त्र्य, चयन-शक्ति और नैतिक प्रतिबद्धता को इस परिप्रेक्ष्य में नहीं समझेंगे तब तक हम विकासवादी दृष्टि से मानव की 'दिव्यता' के सही अर्थ को नहीं समझ सकेंगे। इस दृष्टि से स्वातन्त्र्य-शक्ति मानव के लिए एक वरदान होते हुए भी उस की परीक्षा का विषय है। श्री अरविन्द का दर्शन भी विकासवादी दर्शन है जो चेतना के क्रमिक विकास को आधार मान कर 'अतिचेतना' के स्तर तक मानव के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यहाँ पर एक व्यापक अर्थ में अध्यात्म के परस्पर संवाद और समन्वय से मानव-नियति के प्रति एक 'दृष्टि' प्राप्त होती है।

मानव-विकास का यह रूप सृष्टि-विकास का एक प्रमुख अंग है क्योंकि आधुनिक विज्ञान अनेक अज्ञात सृष्टियों की कल्पना करता है, और हमारा सौर मण्डल सृष्टि का केवल एक सौर मण्डल नहीं है, बल्कि इस प्रकार के अनेक सौर-मंडल हैं जो हमारी दृष्टि से परे हैं। ब्रह्माण्ड की इस आगाधता और विराट्ता को विश्लेषणात्मक रूप से विवेचित करने का प्रयत्न विज्ञान ने किया है जो दार्शनिक एवं धार्मिक उपपत्तियों को नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है तो दूसरी ओर विज्ञान के दार्शनिक और वैचारिक पक्ष को भी उद्घाटित करता है।

ब्रह्मांड की विराटता और उस के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए विज्ञान द्वारा प्रतिपादित दिक् और काल की धारणाओं को समझना आवश्यक है। न्यूटन के समय से इन दो प्रत्ययों को लेकर ब्रह्मांड के स्वरूप को समझने का प्रयत्न आरंभ हुआ जो आइन्स्टाइन और एडिंग्टन के समय तक अनेक संशोधनों से गुजरा जिस ने विश्व-संरचना पर अपने तरीके से प्रकाश डाला। न्यूटन एक आस्थावादी वैज्ञानिक था और दिक् और काल को उसने निरपेक्ष और अनन्त माना जो दर्शन के क्षेत्र में भी युगों से मान्य रहा। दिक् और काल को निरपेक्ष मानने से उसकी सापेक्ष स्थिति के प्रति न्यूटन के सामने कोई समस्या नहीं थी क्योंकि इससे यह निर्णय किया गया कि कोई निरपेक्ष 'सत्ता' विश्व का संचालन करती है और वह 'सत्ता' विश्व से परे है।

आइन्स्टाइन ने सापेक्षवादी सिद्धान्त के द्वारा दिक् और काल की सापेक्षता स्वीकार की तथा उनके निरपेक्ष अस्तित्व के प्रति शंका प्रकट की। दिक् और काल निरपेक्ष न होकर सापेक्ष 'प्रत्यय' हैं और उनका अस्तित्व दर्शक की सापेक्षता में

है। अपने इस सिद्धान्त को समझने के लिए आइन्स्टाइन ने एक उदाहरण प्रस्तु किया। दो रेलें विपरीत दिशाओं में जा रही हैं और दोनों एक दूसरे को एक स्था पर क्रॉस करती हैं। इस समय यात्री को ऐसा लगेगा कि वह जिस गतिवा गाडी पर बैठा हुआ है, वह तो स्थिर है और दूसरी गाडी गतिशील है, जबकि दोनों गाड़ियाँ निरंतर चल रही हैं। यह स्थिरता एवं गतिशीलता दर्शक की सापेक्षता से प्राप्त होती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि दिक् और काल का अलगाव विषयीगत है जो द्रष्टा की सापेक्षता पर आश्रित है। आइन्स्टाइन की यह प्रस्थापना सापेक्षदर्शन की भूमिका प्रस्तुत करती है और विज्ञान एवं विषयीगत क्रिया है, इस तथ्य को एक तात्त्विक भावभूमि प्रदान करती है। दिक् और काल की सापेक्ष स्थिति विश्व और ब्रह्माण्ड की संरचना तक उसके स्वरूप पर प्रकाश डालती है। दिक् के तीन आयाम होते हैं– लंबाई, चौडाई तथा ऊंचाई और काल का एक आयाम लम्बाई। अतः यह ब्रह्माण्ड दिक् और काल के चतुरायामिक विस्तार में अवस्थित है और सृजन तथा विलय की समस्त प्रक्रियाएं इसी में घटित होती हैं। यहाँ पर आइन्स्टाइन एक तात्त्विक भावभूमि प्रस्तुत करते हैं– दिक् और काल सीमित एवं सापेक्ष हैं, पर वे अनाबद्ध हैं। यह कथन एक तात्त्विक कथन है जो विज्ञान और दर्शन के आपसी संवाद को रेखांकित करता है। सापेक्ष दर्शन का दूसरा तथ्य यह है कि हम सम्बन्धों के विश्व में रह रहे हैं और सम्बन्धों के द्वारा ही अनुभव प्राप्त करते हैं। क्वाण्टम सिद्धान्त इस का उत्तर यह देता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह केवल अनिश्चितता ही देखते एवं अनुभव करते हैं। नई भौतिकी का यह सिद्धान्त विश्व की प्रत्येक घटना के प्रति सत्य नहीं है और यह प्रस्थापना ऊर्जा, विद्युत् और पदार्थ को आण्विक रूप में स्वीकार करती है। ऊर्जा-सृजन एक निरन्तर प्रक्रिया नहीं है। उसका सृजन और बहिर्गमन निरन्तर न हो कर प्रमात्रा (क्वाण्टम) से होता है। यही कारण है कि ऊर्जा का स्वरूप प्रमात्रामूलक है और दूसरी ओर पदार्थ का स्वरूप भी आण्विक है। अतः पदार्थ और ऊर्जा का सापेक्ष सम्बन्ध है और ऊर्जा का रूपान्तरण पदार्थ में और पदार्थ का ऊर्जा में इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि पदार्थ नष्ट नहीं होता, उसका रूपान्तरण होता है। आधुनिक विज्ञान में पदार्थ की अवधारणा तात्त्विक होती जा रही है, वह केवल मात्र भौतिक प्रत्यय नहीं है। रसेल ने पदार्थ की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर कहा है कि "पदार्थ भौतिक नहीं है बल्कि वह ऐसा प्रत्यय है जिस तक मन पहुँचना चाहता है, पर अन्तिम रूप से पहुँच नहीं पाता। पदार्थ के प्रति यह कथन पदार्थ के आधिभौतिक एवं तात्त्विक रूप की ओर संकेत करता है जिससे पदार्थ को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है।

अतः पदार्थ ही वह तत्त्व है, जिससे सब कुछ का सृजन हुआ है और इस अर्थ में फ्रेड हॉयल ने 'पृष्ठभूमि पदार्थ' (बेकग्राउंड मेटिरियल) की कल्पना की है जिससे दिक्, काल, घटनाएँ एवं वस्तुओं की रचना हुई है। कण-भौतिकी (पार्टिकल फिजिक्स) की यह प्रस्थापना है कि दिक् और काल भी पदार्थ के रूपान्तरण हैं। जैन-दर्शन में भी द्रव्य (पदार्थ) के अनेक रूपान्तरों में दिक् और काल को भी द्रव्य का रूप माना गया है। पदार्थ का उपर्युक्त स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि विश्व केवल मात्र भौतिक नहीं है, बल्कि उसकी संरचना अ-भौतिक तथा अयान्त्रिक है। विश्व का यह अयान्त्रिक रूप विज्ञान द्वारा मान्य यांत्रिक रूप से एक भिन्न अवधारणा है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः भौतिक से 'अभौतिक' और स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील है। विज्ञान का यह पक्ष उस के वैचारिक क्षेत्र को व्यापक बनाता है और विज्ञान का सम्बन्ध केवल कार्यकारण से है, इस बात को नकारता है। यहाँ पर विज्ञान को एक दार्शनिक एवं तात्त्विक भावभूमि प्राप्त होती है। इस सम्पूर्ण स्थिति को यदि दार्शनिक शब्दावली में कहा जाये तो विज्ञान द्वैतवाद को मानते हुए भी अद्वैत तत्त्व को प्रधानता देता है। दिक् और काल, पदार्थ और ऊर्जा, मन और पदार्थ—ये सभी द्वैत विरोधाभास से लगते हैं, पर मूलतः इनका सापेक्ष सम्बन्ध है। कोई भी 'अस्तित्व' निरपेक्ष नहीं है, इसका अस्तित्व सम्बन्धगत है। इसी सापेक्ष-दर्शन के प्रकाश में ईश्वर का अस्तित्व निरपेक्ष न होकर सृष्टि-सापेक्ष है, अर्थात् ईश्वर की अवधारणा का विकास जगत् के साथ हुआ है और 'उसका' सम्बन्ध इस दृश्यमान जगत् और विश्व में है।

उपर्युक्त विवेचन से एक अन्य बात यह भी स्पष्ट होती है कि आधुनिक विज्ञान 'आदर्शवाद' की ओर उन्मुख है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान का आदर्शवाद यथार्थवाद का नकार है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो वैचारिकता में ये दोनों प्रवृत्तियां समानान्तर विकसित हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सत्य' एक सापेक्ष 'पूर्णता' है जिसमें 'आदर्श' और यथार्थ के घटक अन्तर्निहित रहते हैं। सर जेम्स जीन्स, एडिंग्टन, फ्रेड हायल, रसेल तथा आइंस्टाइन आदि विज्ञान–दार्शनिकों ने 'सत्य' का यही सापेक्ष और समन्वित रूप माना है। इनका आदर्शवाद यथार्थ की सही पहचान है और इनका यथार्थवाद, आदर्श की भंगिमा से अनुप्रेरित है। यहाँ पर कुछ वैज्ञानिकों के आदर्शवाद का विवेचन अपेक्षित है जो तात्त्विक वैचारिकता का परिचय देते हैं। इस दृष्टि से रसेल तथा एडिंगटन के विचारों का विवेचन आवश्यक है।

एडिंगटन का आदर्शवाद विषयीगत है और उसकी प्रमुख स्थापना है कि आधुनिक भौतिकी ब्रह्मांड का आदर्शमूलक विवेचन प्रस्तुत करती है। वाह् संसार से उद्भूत मानसिक बिम्बों का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और विज्ञान का संसार इन्ही अमूर्तनों से निर्मित होता है। वैज्ञानिक इन्ही अमूर्तनों से प्रकृति और विश्व के सत्यों का उद्घाटन करता है। गणित और भौतिकी इन्ही अमूर्तनों के द्वारा 'यथार्थ' की ओर उन्मुख होते हैं। इसके अतिरिक्त एडिंग्टन ने 'सत्य' को सापेक्ष माना है और विषयीगत। सत्य का यह रूप वैज्ञानिक ज्ञान और एन्द्रि अनुभव की प्रतीकात्मक परिधि से पूरे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य अयान्त्रि है और विश्व को केवल यन्त्र मान लेना, उसके प्रति अधूरी दृष्टि है।

एडिंग्टन के उपर्युक्त विचारों से एक दार्शनिक भावभूमि के दर्शन होते हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एडिंग्टन ने वैज्ञानिक विषय को प्रतीकात्मक माना है जो पूर्णरूप से सत्य नहीं है। असल, में यह वैज्ञानिक ज्ञान है जो प्रतीकात्मक होता है। वस्तुत: 'वस्तु' और प्रतीकात्मक सन्दर्भ का सम्बन्ध एक प्रक्रिया में ढल जाता है जिसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु ही प्रतीक हो जाती है। एडिंग्टन के मन में 'आदर्श' के प्रति इतनी आस्था प्रतीत होती है कि उनके मस्तिष्क में वस्तु या विषय का सही स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया जो उनकी चिन्तन–प्रणाली में वस्तु के उचित स्थान का निर्धारण करने में समर्थ होती।

रसेल का आदर्शवाद एडिंगटन के आदर्शवाद से कहीं अधिक यथार्थमूलक है क्योंकि रसेल ने ज्ञान और पदार्थ के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है, वह मूलत: उनके गणितीय मस्तिष्क की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। उनका तटस्थ अद्वैत–दर्शन मन और बाह्य जगत के सम्बन्ध को रेखांकित करता है। बाह्य जगत् का ज्ञान इन्द्रिय अनुभव पर आधारित है और हम बाहरी संसार में जो कुछ भी देखते हैं, वे मूलत: हमारे मस्तिष्क की अनुभव–घटनाए हैं। वे घटनाएं हमारी 'देखने' की प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। यहां पर रसेल ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना प्रस्तुत की है। उनकी मान्यता है कि ये प्रीसेप्ट्स या घटनाएं न तो मानसिक हैं और न भौतिक, क्योंकि यह धारणा ही गलत है कि मन और मस्तिष्क दो अलग–अलग सत्ताएं हैं। इसको एक सन्दर्भ में लेने पर यह स्पष्ट होता है कि एक अनुभव घटना ही संवेदना है और दूसरे सन्दर्भ में यह प्रीसेप्ट संवेदना की वस्तु है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संवेदना और उसकी वस्तु दो भिन्न घटनाएं नहीं हैं पर इन का अस्तित्व विभिन्न सम्बन्धों के प्रकाश में माना

गया है। इन दोनों प्रत्ययों की एकरूपता ही तटस्थ अद्वैत–दर्शन की पीठिका है। संवेदना और उसकी वस्तु की समस्त प्रक्रियाएं एक 'व्यवस्था' या संयोजना के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

ब्रह्मांड और प्रकृति की व्यवस्था को समझने के लिए विज्ञान–दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों का विवेचन आवश्यक है। ये प्रत्यय हैं विश्लेषण की भावना और सौन्दर्य–बोध।

विज्ञान–बोध का आवश्यक तत्त्व विलेषण की भावना है जिस का सम्बन्ध आधुनिक भावबोध से है। विज्ञान–बोध में विश्लेषण वह 'पूर्णता' है जिसका विभाजन 'अंशों' में हो सके। एडिंग्टन का कहना है कि 'संसार के समस्त रूप–प्रकार जो दृष्टिगत होते हैं, उनका अस्तित्व विभिन्न 'अंशों' के आपसी सम्बन्ध पर आश्रित है।' दूसरे शब्दों में, विश्लेषण–प्रक्रिया में अंश का, क्षण का और घटना का महत्त्व इसी दृष्टि से है कि इनके द्वारा पूर्ण की व्यंजना कहां तक हो सकी है। इस आण्विक युग में एक सेकेंड का सौवाँ हिस्सा मूलतः 'अनन्तता' (इन्फिनिटी) का द्योतक है। यही कारण है कि कला और साहित्य में क्षण, पल और घटना का महत्त्व बढता जा रहा है, जिसे हम विज्ञान–बोध के द्वारा गहराई से समझ सकते हैं। यदि इसे तथ्य को हम ब्रह्मांड के संदर्भ में लें, तो स्पष्ट होता है कि परमाणु की संरचना वही है जो सौर मंडल की है, जो इस सत्य को प्रकट करता है कि अंश ही 'पूर्ण' का प्रतीक है। विश्लेषण के इस व्यापक अर्थ के प्रकाश में 'सौन्दर्यबोध' को एक नया आयाम प्राप्त होता है कि आज का सौंदर्य-बोध अंश और पल की अर्थवत्ता में है जो 'पूर्ण' के महत्त्व तथा अर्थगौरव को प्रकट कर सके। विज्ञान का सौन्दर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता में समाहित है। वह, आन्इस्टाइन के शब्दों में, "विश्व के अन्तराल में 'पूर्वस्थापित सामरस्य' के सौन्दर्य को देखता है। यह सौन्दर्य–बोध विश्लेषण पर आधारित एक व्यवस्था अथवा नियम की अनुभूति को प्रकट करता है। मैक्सवेल का विद्युत् चुम्बकीय सिद्धांत, आन्इस्टाइन का सापेक्षवादी सिद्धान्त, डार्विन का विकासवाद तथा नक्षत्र-विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व-रहस्य–ये सभी क्षेत्र इस सौन्दर्यानुभूति को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं जो रचनाकार को भी नये सौन्दर्य–क्षितिजों की ओर उन्मुख कर सर्जनात्मकता को गति दे सकते हैं और जहां भी सर्जनात्मकता है, वहां सौन्दर्य–बोध का कोई न कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है। इस सर्जनात्मक तत्त्व के कारण गणित, भौतिकी, रसायन तथा

प्राणिशास्त्र– ये सभी ज्ञान–क्षेत्र सौन्दर्य–बोध के विभिन्न स्तरों का उद्घा करते हैं।

इसप्रकार, विज्ञान–बोध हमें क्रमशः वैचारिकता और चिन्तन के नये आयामों की ओर अग्रसर करता है और साथ ही, सौन्दर्य–बोध को एक व्या एवं अर्थवान् परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। विज्ञान–वोध एक तात्त्विक और आ भौतिक अर्थ को भी प्रकट करता है जो विज्ञान के दार्शनिक पक्ष का एक मह पूर्ण प्रत्यय है। विज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान–प्रक्रिया है जो हमें 'विश्लेषण' अर्थवत्ता की ओर ले जाती है। ये सभी क्षेत्र विज्ञान–दर्शन की भूमिका प्र करते हैं।

– वीरेन्द्र

५ झ, १५ जवाहरनगर
जयपुर– ३०२००४ (राजस्थान)

ईश्वर-मीमांसा के सन्दर्भ में आस्था, तथ्य और तर्क

युगों से दार्शनिकों की ओर से ईश्वर के अस्तित्व को लेकर तरह-तरह के प्रश्न उठाये जाते रहे हैं। ईश्वर-मीमांसा के सम्बन्ध में प्रायः यह आपत्ति मुख्य रूप से उठायी जाती है कि "प्रथमतः तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। किन्तु दुर्जन-तोष न्याय के आधार पर यदि यह मान भी लिया जाये तो भी तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि का क्या लाभ? ईश्वर अनुभूति का ही विषय हो सकता है। पुनः अनुभूति-गम्य विषय को तर्कशास्त्र के जिम्मे छोड़ कर क्या कोई परिणाम निकल सकता है? इत्यादि"। इस आपत्ति के निराकरण में हमारा विनम्र मत यह है कि यदि तर्क के आधार पर ईश्वर-सत्ता को नकारने का प्रयत्न किया जाता है तो ईश्वर-मीमांसा सर्वथा आवश्यक ही है और यदि ईश्वर के अस्तित्व पर किसी ओर से प्रश्न चिन्ह न भी लगाया जाये, तब भी ईश्वर का अस्तित्व तथा उसके स्वरूप सम्बन्धी अपनी धारणाओं को तर्क-संगत बनाने के लिये जिज्ञासु को तर्कीय आयोजन करना ही चाहिए। जिज्ञासु मानव-मन स्वभावतः तार्किक होता है। विभिन्न सन्देहों का निवारण केवल इधर-उधर से सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही तो नहीं किया जा सकता। शंका-समाधान तथा सन्देहों की निवृत्ति तो नाना तर्कों तथा तथ्यों की संगत व्याख्या के आधार पर ही सम्भव है। इसलिए भी ईश्वर-मीमांसा अनिवार्य है।

पुनः अपने क्षुद्र स्वार्थों तथा तौर-तरीकों में परिवर्तन क्या गुरु-वाक्य के श्रवण मात्र से सम्भव है? यह सब कर सकने के लिए जिज्ञासु को इससे पूर्व महती तैयारी करनी होती है। जिस दुनियाँ को हमने बड़े परिश्रम, लगन और तत्परता तथा विशेष चाव से बसाया है और जिस जीवन-स्तर को हमने अनेकों अवसरों की प्रतीक्षा करते-करते पाया है, उसे छोड़ देने के लिये उन सबसे बड़ा जीवन, इस दुनियाँ से कही अधिक महान्, अनश्वर, आकर्षक दुनियाँ की रूपरेखा जब तक हमारे मन में नहीं होगी, तब तक कोई भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। इन सबके लिए परम-सत्ता के स्वरूप की हमारे सम्मुख एक संगत धारणा होनी

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

चाहिए और उस धारणा को जीवन-लक्ष्य बनाने के लिए बौद्धिक दृष्टि से को तैयार करना चाहिए, यदि मन को विकल्पों से रहित बनाना है, जो इ अनुभूति के मार्ग में अपेक्षित ही है, तो भी ईश्वर-मीमाँसा अनिवार्य है।

जहाँ तक अनीश्वर-वादियों की इस धारणा का प्रश्न है कि "तर्क आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता" इस धारणा ऊपर जरा सचेत होकर दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह प्रश्न "क्या तर्कों के द्वारा ईश्वर का अ सिद्ध किया जा सकता है ? " मूलतः त्रुटि पूर्ण है। तर्क का कार्य किसी व सत्ता का अस्तित्व सिद्ध करना नहीं है। क्योंकि "सद्वस्तु" तर्क का विषय होती। सत्ता का सीधे-सीधे निषेध या प्रतिपादन करना तर्क का विषय न हो सत्ता विषयक हमारी धारणाओं की परीक्षा करना होता है। कोई धारणा तक संगत है इसी की जांच तर्क द्वारा की जाती है और वह कहाँ तक स इसका पता हमें अनुभव द्वारा चलता है। (अनुभव शब्द अत्यन्त व्यापक अ प्रयुक्त होता है। इसकें अन्तर्गत वैज्ञानिक निरीक्षण, परीक्षण और निर्वा प्रयोगों को लेकर दैनिक जीवन, मानसिक चेतना तथा अन्तःप्रज्ञा सम्ब अनुभूतियाँ तक आ जाती हैं) हमारी धारणा जिस स्वरूप तथा स्तर के अ से सम्बन्धित होती है उसका सत्यापन भी उसी स्तर तथा स्वरूप के अ किया जा सकता है। यह विसंगति-पूर्ण ही है कि हम अन्तःप्रज्ञा सम्ब अनुभूति का सत्यापन इन्द्रिय प्रत्यक्षों द्वारा करने की चेष्टा करें। अथवा इन्द्रि प्रत्यक्षों के औचित्य का अंतःप्रज्ञा द्वारा निर्णय करें।

अस्तु, सत्ता विषयक कोई भी धारणा तर्क-वाक्यों के रूप में प्रस्तुत की सकती है। किंतु किसी भी तर्क-वाक्य को सद्-वस्तु की सिद्धि अथवा असिद्धि रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वह तर्क-वाक्य हो ही नहीं सक उदाहरणतः "ईश्वर का अस्तित्व है" यह कथन सिद्ध अथवा असिद्ध कुछ नहीं किया जा सकता। इसें किस प्रकार सिद्ध किया जायेगा ? मान लीं प्रमाण क, ख और ग ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये एक पक्ष ओर से प्रस्तुत किये जाते हैं किंतु प्रमाण च, छ और ज ईश्वर के अस्तित्व निषेध करने के लिये दूसरे पक्ष की ओर से नानाविध तर्क के रूप में प्रस्तुत किये जाते तब क्या ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध हुआ मानें अथवा असिद्ध या दोनों अथवा फिर दोनों नहीं ? सत्ता प्रमाण-निरपेक्ष होती है। प्रमाणों के आधार उसके अस्तित्व को सिद्ध अथवा असिद्ध करना जिज्ञासु तार्किक का कार्य होता, अपितु सत्ता के विषय में स्वयं अपनी और दूसरे लोगों की धारणाओं

परीक्षा करनी होती है । ~~ससीम प्रयासों के आधार पर प्राय: हम निस्सीम निष्कर्ष निकालने की गलती करते~~ हैं। मान लिजिए परम सत्ता विषयक अपनी धारणाओं को तर्क-गम्य बनाने कें लिये आप ईश्वर के अस्तित्व की ओर निर्देश करने वाले प्रमाणों को एकत्रित करते हैं । उन एकत्रित प्रमाणों की निर्दोषता को दूसरे लोग स्वीकार कर लेते हैं, तो उन प्रमाणों के आधार आप क्या निष्कर्ष निकालेंगे ? क्या यही कि - ईश्वर का अस्तित्व है (संसार में) ।

क्योंकि प्रमाण अ, ब, स और द उसके अस्तित्व की ओर निर्देश करते हैं।

उक्त प्रमाण निर्दोष हैं ।
अत: ईश्वर का अस्तित्व है ।

यदि आप यह निष्कर्ष निकालते हैं, तो मैं आपसे सहमत नहीं हो सकूंगा । यहाँ मेरा स्पष्ट कहना है कि आपका यह निष्कर्ष पूर्णत: संगत नहीं हैं । सीमित प्रमाणों के आधार पर आप निस्सीम की सिद्धि नहीं कर सकते । प्रमाणों का स्वरूप ही ऐसा है कि वे परिस्थति-जन्य, पराश्रित, सीमित और देश तथा काल की सीमाओं में बंधे होते हैं। इसलिये उनके आधार पर आप देश-काल की सीमाओं से परे, निस्सीम, स्वतंत्र सत्ता के स्वरूप का अंतिमत: निर्णय नहीं कर सकते । सीमित प्रमाणों के आधार पर आप सीमित निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं ।

तार्किक ऊहापोह के अति उत्साह में हम अपने वास्तविक अभिप्राय से कहीं दूर न चले जायें और अपनी धारणा का औचित्य जांचने के स्थान पर परमसत्ता के अस्तित्व का औचित्य अथवा अनौचित्य स्थापित न करने लग जायें, इस बात का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिये । अन्यथा फिर हमारी स्थिति उस मकड़ी से अधिक भिन्न न रह जायेगी, जो अपने बनाये हुये जाल में स्वयं उलझ कर रह जाती है । एक व्यक्तिगत धारणा की परीक्षा कें स्थान पर सर्वव्यापी निष्कर्ष स्थापित करने का परिणाम यह सामने आता है कि अन्य व्यक्ति, जिनकी धारणा (उस सम्बन्ध में) हमसे भिन्न होती है वे उसका खण्डन करने के लिये भिन्न स्रोतों से प्रमाणों को एकत्र करने का प्रयास करते हैं । ऐसा करते समय हमारा उद्देश्य और परिप्रेक्ष्य अन्य लोगों के सामनें नहीं होता । उनका अपना उद्देश्य और परिप्रेक्ष्य भिन्न होता है । पुनः खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया के पीछे जिज्ञासा वृत्ति कम, प्रतिपक्षी को पराजित करने की लालसा अधिक होती है । अन्तत: वह जल्प, वितण्डा और अन्य गर्हित साधनों का उपयोग करने की ओर व्यक्ति को प्रेरित करती है । इस प्रक्रिया का आरम्भ होने पर जिज्ञासु अपने अभीष्ट मार्ग से भटक जाता है। जिज्ञासु परम तत्त्व के साक्षात्कार कें स्थान पर तर्क की

ऐसी भयानक दल-दल में जा फंसता है, जहाँ से निकल पाना उसके लिये संभव नहीं रह जाता।

किन्तु यदि अपने वास्तविक उद्देश्य से हमें पथ-विमुख न होने की सुनि तता करनी है तो हमें प्रमाणों के आधार पर अपनी धारणाओं की ही परी करने का प्रयत्न करना चाहिए। सर्वव्यापी निष्कर्ष स्थापित करने का मि मोह त्याग देना चाहियें।

हमारे तर्क–वाक्यों का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिये–

संसार में ईश्वर का अस्तित्व है।– यह मेरी धारणा है।

क्योंकि प्रमाण अ, ब, स और द ईश्वर के अस्तित्व की ओर निर्देश करते

उक्त प्रमाण निर्दोष हैं।

अतएंव संसार में ईश्वर का अस्तित्व है। मेरी यह धारणा प्रमाणों आधारित है।

संसार में ईश्वर के अस्तित्व की धारणा को व्यक्त करने वाले वाक्यों अलावा अन्य कई प्रकार के कथन भी दैनिक जीवन में प्रायः सुनाई पडते हैं। उदा रणतः जब इस कथन का उच्चारण किया जाता है कि "ईश्वर के अस्तित्व मेरी आस्था है।" तब उच्चारण–कर्ता का इससे क्या अभिप्राय होता है स्पष्ट है इस वाक्य के द्वारा वह ईश्वर से अपनी तादात्म्य-विषयक अनुभूति को प्रकट करता है। या फिर प्रकारान्तर से ईश्वर विषयक अपने विश्वास की पु मात्र कर रहा होता है। स्पष्ट है इस प्रकार के कथनों का उच्चारण न तो कि अन्य व्यक्ति को प्रभावित करने के लिये किया जाता है और न ईश्वर के अस्ति त्व को सिद्ध करने के लिये। इसे तर्क के रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा अपितु प्रकारान्तर से ईश्वर विषयक अपनी अस्पष्ट अनुभूति को ही यहाँ व्य किया जा रहा है।

जब इस प्रकार दूसरी श्रेणी के वाक्यों का हम उच्चार करते हैं तब उनसे हमारा क्या अभिप्राय होता है? उदाहरणतः, "ईश्वर अस्तित्व में मेरी पूर्ण आस्था है।" जिसे कभी-कभी इस रूप में भी अभिव्य किया जाता है कि "ईश्वर के अस्तित्व में मेरा पूर्ण विश्वास है"। वैसे विश्वास श का प्रयोग यहाँ अधिक प्रचलित है किंतु अर्थ-बोधकता उतनी स्पष्ट नहीं है जि 'आस्था' शब्द की है। तो इससे हमारा अभिप्राय यह होता है कि ईश्वर विष हमारी अनुभूति निर्भ्रान्त है। इस कथन द्वारा ईश्वर से सम्बन्धित अपने विश् की अन्तिमतः पुष्टि मात्र की जा रही है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर–साक्षात्कार बाद किसी प्रकार के संदेह के लिये कोई स्थान फिर शेष नहीं रह जाता।

वाक्य के द्वारा भी पहले कथन की भाँति ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। वरन् ईश्वर विषयक अपनी अनुभूति को अधिक स्पष्ट, सशक्त शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा रहा है।

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में यह वाक्य भी प्रायः सुनाई पडता है "में मानता हूं कि ईश्वर का अस्तित्व है।" प्रश्न उठता है कि इसका क्या अभिप्राय है? क्या यह तर्क–वाक्य है ? स्पष्ट है इस मिश्रित वाक्य के दो घटक हैं: (१) में मानता हूँ (२) ईश्वर का अस्तित्व है। यहां मेरा मानना अथवा न मानना इस अर्थ में तर्क का विषय हो सकता है अगर वह मान्यता प्रमाणों पर आधारित हो। किन्तु ईश्वर का अस्तित्व है, यह वाक्य कोई प्रमाण नहीं है, अधिक से अधिक यह स्वीकारोक्ति है, जिसे पूर्व-मान्यता भी माना जा सकता है। अतएव यह वाक्य भी कोई तर्क-वाक्य न होकर दूसरी श्रेणी का वाक्य है। (आस्था) और अध्यात्म-शास्त्र के सन्दर्भ में इस वाक्य को प्राक्कल्पनात्मक वाक्य कहा जा जा सकता है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि ईश्वर के अस्तित्व को उच्चारण कर्ता ने सम्भाव्य रूप में स्वीकार कर लिया है और उसे अपनी तद्-विषयक खोज का विषय बना लिया है।

अभी तक हमने ईश्वर-अस्तित्व परक इन तीन प्रकार के वाक्यों के ऊपर विचार किया है :–

(१) में मानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है– प्राक्कल्पनात्मक वाक्य।

(२) ईश्वर के अस्तित्व में मेरी आस्था है – ईश्वर के सम्बन्ध में अस्पष्ट अनुभूति का वर्णन करने वाला वाक्य।

(३) ईश्वर के अस्तित्व में मेरी पूर्ण आस्था है – ईश्वर के सम्बन्ध में निभ्रान्ति अनुभूति का वर्णन करने वाला वाक्य।

उपरोक्त वाक्यों के अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कभी कभी यह कथन भी सुनाई पडता है –

(४) "मै जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है।" इस मिश्रित वाक्य का क्या अभिप्राय है ? क्या यह पुनरुक्ति मात्र है ? यह वाक्य मात्र पुनरुक्ति नहीं है। उदाहरणतः, जब हम कहते हैं कि "मै जानता हूँ कि 'क कार्य का ख कारण है।' तब इस का अभिप्राय यह होता है कि दो भिन्न घटनाओं, परिस्थितिओं अथवा वस्तुओं में परिवर्तन की जो प्रक्रिया निहित होती है, उन दोनों में जो अन्तस्सम्बन्ध पाया जाता है उसका हमें ज्ञान है। अपने ज्ञान के विषय में अभिकथन का तात्पर्य यह होता है कि अभिकथनकर्ता अपने ज्ञान को, उस प्रक्रिया और अन्तस्सम्बन्ध को अन्य व्यक्तियों को भी बताने के लिये प्रस्तुत है (पूछने पर)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अपने ज्ञान को, अनुभूति को अन्य व्यक्तियों के लिये कै उपलब्ध कराया जा सकता है? ईश्वर विषयक जो अनुभूति हमें प्राप्त हुयी है नितान्त व्यक्तिगत अनुभव होता है। अन्य व्यक्तियों के उपयोग के हेतु आत्म अनुभूति को वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। किन्तु यह सम्भ नहीं होता। यहां यह समस्या विचारणीय है। जब हम कहते हैं कि "अ" का का "ब" कारण है तब हमारे सामने न तो "अ" कार्य होता है न उसका "ब कारण होता है। यहां सहज प्रश्न उठता है कि कार्य-कारण की मीमांसा कर समय तब हमारे सम्मुख क्या होता है? स्पष्ट है कार्य-कारण की मीमांसा कर समय हमारे सम्मुख निश्चित स्पष्ट पद्धति होती है जिसकी हम बात करते हैं इस पद्धति के द्वारा ही हम कार्य-कारण की अलग-अलग पहचान करते हैं, त इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाया जाता है। कार्य-कारण की चर्चा करते समय हमारे सामने कार्य-कारण को खोजने, जाँचने और परखने वाल पद्धति ही होती है

पूर्व-मान्यताओं के साथ ही तर्क-मीमाँसा आरम्भ हो जाती है संसार रहते हुये हम नाना संस्कारों, कुसंस्कारों के कारण भटक जाते हैं, भ्रमित हो जा हैं। इन संस्कार-जन्य भ्रमों का निवारण युक्ति या तर्क द्वारा ही सम्भव हो है। प्रत्येक पूर्व-मान्यता को तर्क की कसौटी पर रखकर परखना जरूरी हो जा है। बार-बार मनन करना होता है क्योंकि तरह–तरह की धारणायें और विक मन में उठा करते हैं। अनुभवी विद्वान् के सान्निध्य में बैठकर उन धारणाओं त विकल्पों के औचित्य की जाँच करनी होती है, उनके मूल कारणों का विश्लेष करके एक संगत दृष्टिकोण का निर्माण करना होता है। प्रश्न उठता है: तर्क उद्देश्य क्या है? इसकी कार्य शक्ति कहाँ तक जाती है? उत्तर स्पष्ट है - ह मानसिक तौर पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेवें। आत्मा की अमर और कर्म-फल के अटल नियम को तर्क-ग्राहय बनाकर अपने मन में बैठा लें विपरीत धारणाओं और विकल्पों को तर्कीय मीमाँसा द्वारा मस्तिष्क से निकाल बाहर कर देवें। इत्यादि।

इस प्रकार नैतिक और दार्शनिक अर्हतायें पूर्ण कर लेने के पश्चात् हम धरातल पर पहुँच जाते हैं जहां से ईश्वर-अस्तित्व विषयक अपनी खोज-या को हमें आरम्भ करना होता है। ईश्वर-साक्षात्कार की अनेक प्रविधियां हैं, ना मार्ग हैं "उस" तक पहुँचने के, जो संसार के विभिन्न सन्तों, ऋषि-मुनियों ने खो निकाले हैं। किन्तु उन समस्त मार्गों की, उन तमाम प्रविधियों की आत्मा एक है। शास्त्रीय दृष्टि से विधि केवल एक ही है जिसे योग-शास्त्र कार ने अष्ट

योग बतलाया है जिसमें तप, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, कर्म इत्यादि तमाम प्रविधियाँ समाहित हो जाती हैं। सत्संग, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान, चिंतन, मनन, निदिध्यासन इत्यादि सभी स्तरों का समावेश रहता है। जैसा कि भौतिक और सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत अपने अनुसंन्धान का प्रारम्भ कभी वैज्ञानिक विधि से नहीं करते, वरन् किसी एक या एक से अधिक प्रविधियों के द्वारा करते हैं तब कहीं जाकर हम विधि पर पहुँचते हैं, ठीक उसी भाँति अध्यात्म-विज्ञान में भी परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए किसी एक प्रविधि का आरम्भ में प्रयोग करते हैं जिसका निर्णय अन्वेषक की प्रवृत्ति, उसकी अपनी मानसिक योग्यता तथा आध्यात्मिक क्षमता के आधार पर अनुभवी विद्वान् द्वारा किया जाता है। प्रविधि से आरम्भ किया गया अनुसन्धान व्यक्ति को क्रमशः विधि पर पहुँचा देता है।

यूँ तो अनुसन्धान का रास्ता ही ऐसा है कि वह नाना कठिनाईयों, बाधाओं और जटिलताओं से घिरा होता है, जिन्हें पार करके अन्वेषक को अपनी मंजिल तय करनी पड़ती हैं। किन्तु अध्यात्म-विज्ञान-वेत्ता के सामने कहीं अधिक कठिनाईयाँ और पेचीदगियाँ उपस्थित रहती हैं। विज्ञान-विशेष के अन्वेषक को दुनियाँ के किसी एक सीमित भाग पर अनुसन्धान करना होता है, किन्तु अध्यात्म-विज्ञान के शोध-कर्ता को अपने अन्दर-बाहर की समूची दुनियाँ पर सचेष्ट दृष्टि रखनी होता है। विशिष्ट विज्ञानों की अपेक्षा इसके अन्वेषक का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक होता है। उसका लक्ष्य कहीं अधिक सूक्ष्म होता है। यहाँ विज्ञानों को समस्त सूक्ष्म मापक यान्त्रिकी अपर्याप्त सिद्ध होती है। ज्ञान की भी एक ऐसी सीमा-रेखा इस विज्ञान के अध्येता के सामने आकर उपस्थित हो जाती है जहाँ से आत्मगत और वस्तुगत ज्ञान का अंतर लुप्त होता दिखाई देता है। प्राकृतिक विज्ञानों के विपरीत इस विज्ञान के अध्येयता को 'स्वयं' अपने से ही अनुसन्धान कार्य आरम्भ करना होता है। 'मैं कौन हूँ? यह संसार क्या है? मेरा और इस दुनियाँ का परस्पर कोई सम्बन्ध भी है? यदि हाँ, तो वह कब तक के लिए है? और यदि नहीं, तो फिर इस संसार का क्या कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है? क्या संसार से अलग मेरा कोई स्वतंन्त्र अस्तित्व है इत्यादि। इन अनेकों प्रश्नों का समाधान करते हुये जिज्ञासु परम-तत्त्व के अस्तित्व पर पहुँचता है। साक्षात्कार की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ ही अध्यात्म-दर्शन का अन्त हो जाता है और इसके विज्ञान की सीमा आरम्भ हो जाती है।

अध्यात्म-तत्त्व के अन्वेषक की कठिनाईयाँ, बाधायें और उलझने कहीं अधिक जटिल, कहीं अधिक ऊँचे स्तर की होती हैं, जिन्हें लक्ष्य के प्रति अनन्य निष्ठा, अनवरत प्रयत्नशीलता, धैर्य और ईश्वर कृपा से अन्वेषक पार कर ही लेगा।

यदि वर्तमान जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति नहीं भी हो पाती और हम गन्तव्य प पहुँचने से पूर्व ही इस संसार से चल बसते हैं, तो भी निराशा, हतोत्साह जै कोई बात नहीं होनी चाहिये । इस जीवन में न सही, आगामी जीवन-यात्रा हम गन्तव्य तक अवश्य ही पहुँच जायेगें । पुनर्जन्म और कर्म-फल-सम्बन्धी अध्या विज्ञान की पूर्व मान्यताओं से यही निष्कर्ष निकलता है । आशा और सफलता लिये यही सन्देश मिलता है ।

अब, ईश्वर के अस्तित्व में आस्था को व्यक्त करने वाले कथनों की मीमां के पश्चात् यहाँ हमें ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने वाले कुछेक महत्त्वपू कथनों की ओर भी ध्यान देना चाहिये । ईश्वर-अस्तित्व का निषेंध करने वा कथनों की व्याख्या भी पूर्व-विश्लेषण के प्रकाश में करनी चाहिये । इस प्रका निषेध वाचक कथनों को यहाँ चार वाक्यों में रखा जा सकता है ।

५) ईश्वर के अस्तित्व में मेरी आस्था नहीं है ।
६) ईश्वर के अस्तित्व में मेरी कतई भी आस्था नहीं है ।
७) मैं नहीं मानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है ।
८) मैं नहीं जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है ।

ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाले वाक्य (१) (अर्थात् ईश्व के अस्तित्व में मेरी आस्था है) के प्रकाश में यदि उपरोक्त वाक्य (५) व्याख्या की जाये तो यह अर्थ ध्वनित होता है कि "मैंने ईश्वर के अस्तित्व जानने के लिये, उससे तादात्म्य बनाने के लिये प्रयत्न किया, किन्तु ईश्वर अस्तित्व सम्बन्धी कोई अनुभूति मुझे नहीं हो पायी ।" परन्तु इस बात को ह भली-भाँति जानते हैं कि जिन लोगों ने ईश्वर के अस्तित्व में जरा भी सन्देह प्रक किया है, उनमें से कोई भी नियम पूर्वक अध्यात्म-विद्या का अधिकारी नहीं था अनीश्वरवादियों के इस प्रकार के कथन विधिवत् खोज के उपरान्त पाये हुए नहीं जाते । अपितु, जिन गुणों, लक्षणों और शक्तियों तथा कार्यों का ईश्वर के सा सम्बन्ध जोड़ा जाता है (ईश्वर अस्तित्व के समर्थकों द्वारा) उनकी किसी विशे देश या काल में अविद्यमानता को पाकर ही ये विचारक ईश्वर के अस्तित्व अनास्था प्रकट करने लगते हैं । उदाहरणतः, ईश्वर को सर्व-व्यापक और न्यायकारी सत्ता माना जाता है, किन्तु देश या काल-विशेष में कोई अन्यायकारी व्यक्ति वर्ग जनसामान्य (समाज) को नियन्त्रित करने के अपने प्रयास में यदि वह सफ हो जाता है, तब ऐसी परिस्थिति में सहज ही यह प्रश्न उठ खडा होता है कि यदि संसार में ईश्वर का अस्तित्व है और वह सर्व-व्यापक है तथा साथ-साथ न्यायकारी भी

तो अन्यायी को उसके अन्याय का फल तुरन्त मिल जाना चाहिये। अन्यायकारी सत्ता क्यों क्रमशः शक्ति-शालि होती चली जाती है? इन प्रश्नों की गम्भीरता ही चिंतन-शील व्यक्ति को ईश्वर के अस्तित्व में अनास्था प्रकट करने की ओर प्रेरित करती है। किन्तु यदि अन्यायकारी व्यक्ति या तंत्र अपने अन्यायपूर्ण कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिये ईश्वर की दुहाई देने लग जाय और उन्हें ईश्वर की आज्ञा, प्रेरणा या सन्देश बतलाने लग जाय, तो अन्याय के विरुद्ध उठ खडे हुये चिंतकों की ईश्वर के बारे में उत्पन्न हुयी अनास्था पूर्णतः निषेध में बदल जाती है। उत्तेजना की अधिकता के कारण सम्पूर्ण परिस्थिति का वस्तु-परक, तर्क-संगत विश्लेषण कर सकना उस समय प्रायः सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु यदि ऐसी किसी सीमित परिस्थिति के ऊपर तनिक देखेंगे और शान्ति से विचार कर लिया जाय तो हम से अन्यायियों को उनके कृत्य के लिये फल मिलने की प्रक्रिया तो अचेतन रूप से उसी समय शुरू हो जाती है जब किसी चिंतक के मस्तिष्क में उन अन्यायियों को उनके अन्यायी कृत्यों के लिये दण्ड दिलाये जाने का विचार उत्पन्न हो जाता है। अन्यायी को उसके कृत्यों के लिये दण्ड दिये जाने का वह विचार जब सामाजिक रूप ले लेता हैं तब दण्ड दिये जाने की प्रक्रिया में चेतना आ जाती है। इससे ईश्वर के अनस्तित्व की नहीं, अपितु उसके अस्तित्व की धारणा की ही पुष्टि होती है।

अब अगले वाक्य (६) पर विचार कीजिये—ईश्वर के अस्तित्व में मेरी कतई आस्था नहीं है। इस वाक्य से भी यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वर्षों तक ईश्वर-साक्षात्कार के लिये प्रयत्न के उपरान्त ही वक्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचा हो। ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने वाले व्यक्तियों का इस कथन को उच्चारित करते समय यह अभिप्राय नहीं होता है कि ईश्वर-सम्बन्धी अनुभूतियाँ उन्हें नहीं होती। एक अनीश्वरवादी जिन कारणों से ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने का प्रयत्न करता है, वह इससे पहले कथन का ही अधिक स्पष्ट, और निखरा हुआ रूप होता है। ईश्वर-अस्तित्व में जो सन्देह इससे पहले कथन द्वारा व्यक्त होता है वह सन्देह इस कथन की अभिव्यक्ति में परिपूर्णता प्राप्त करता है। पूर्ण रूप से उसकी सत्ता को अस्वीकार कर दिया जाता है। इस प्रकार सन्देह वाली धारणा पूर्णतः निषेध में बदल जाती है। तद्विषयक अनुसंधान के लिये कोई स्थान शेष नहीं रह जाता।

कार्ल मार्क्स तथा अन्य कम्युनिस्ट चिंतकों का अनीश्वरवाद कुछ इसी प्रकार के कारणों की उपज कहा जा सकता है जिनमें पूंजीवाद के अमानवीय वर्ग-शोषण, उत्पीड़न तथा अन्याय का मूलोच्छेद तत्कालीन ईसाइयत आस्तिकता के आधार

पर किया जा सकना सम्भव नहीं था। इसके साथ मजहबी मान्यताओं से वर्ग-शोषण को प्रोत्साहन ही मिल रहा था। यह परिस्थिति थी, जिसमें मार्क्स तथा उनके सहयोगियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के ऊपर प्रश्न चिन्ह लगाया गया। ईश्वर के अस्तित्व का पूर्णतः निषेध करने वाला कथन पहली बार प्रबलता से उठाया गया। ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने वाली मार्क्सवादी चिंतन धारा आज अनीश्वर वादियों में सबसे प्रबल है।

यह भली भाँति स्पष्ट है कि पाश्चात्य धर्म-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्रमुख विचार धाराओं में यह उल्लेखनीय कमी पायी जाती है कि उनके दायरे में वर्ग-शोषण, उत्पीडन और अन्याय का उन्मूलन करने की प्रेरणा नहीं पायी जाती है। क्रान्तिकारी दर्शन के विकास के लिये उन सबके वांछित सम्भावनायें दिखलाई नहीं देती। ईश्वर और जगत् के मध्य परस्पर सम्बन्धों की भिन्न व्याख्या करने वाले ये दृष्टिकोण (यथा, ईश्वरवाद, निमित्तेश्वर वाद, उपादानेश्वर वाद, निमित्तउपादानेश्वर वाद) जगत् में आमूल परिवर्तन करने के प्रश्न के सामने घुटने टेक देते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि ईश्वर के अस्तित्व को पोषित करने वाले अन्य दृष्टिकोण भी इसी प्रकार की दुर्बलता के शिकार होंगे। इस गम्भीर और गहन प्रश्न पर बडे संयम और सावधानी से विचार करना चाहिये। ईश्वर के स्वरूप के बारे में मतवादी आग्रह को छोड़कर इस गुरु-गम्भीर समस्या पर ठहर कर पुनर्विचार किया जाना चाहिये। ईश्वर के अस्तित्व का पूर्णतः निषेध करने वाली इस धारणा की परीक्षा का जहाँ तक प्रश्न है, ईश्वर विषयक ऋषि दयानन्द की धारणा में वे दोष नहीं पाये जाते, जिन कारणों से मार्क्सवाद में ईश्वर के अस्तित्व की मनाही की जाती है। उनका त्रित्ववादी तत्त्वदर्शन (ईश्वर, जीवन, प्रकृति की नित्यता का सिद्धांत) पुनर्जन्मवाद, कर्मफल का वैदिक सिद्धान्त और जीव का कर्ता व भोक्ता तथा ईश्वर की सर्वव्यापकता, जगत्नियन्ता तथा कर्मफल व्यवस्थापक विषयक धारणाओं का इस इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है।

अब इनसे अगले वाक्य (७) को लीजिये– "मैं नहीं जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है।" इस कथन से क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि "मैं ईश्वर के अस्तित्व को साक्षात् करने के लिये कोई भी प्रयास करने के लिये तैयार नहीं हूँ? या फिर ईश्वर के अस्तित्व की खोज करने के लिये प्राक्कल्पना के तौर पर भी यह मानने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ? अधिक स्पष्ट तौर पर इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय

या समस्या नहीं है, जिसके लिये हम उसे अपने अनुसन्धान का विषय बनायें, अपना बहुमूल्य समय इसके लिये व्यय करें।" इत्यादि।

इस दृष्टिकोण के ऊपर तनिक ठहर कर विचार किये जाने की आवश्यकता अनुभव होती है। (हमें किसी विषय के बारे में समुचित जाँच-पड़ताल लिये बगैर केवल इधर उधर से सुनी सुनाई बातों के आधार पर उसकी महत्ता, उपयोगिता को कम करके या घटाकर आंकने का अधिकार नहीं है।) यही बात ईश्वर के अस्तित्व के बारे में भी लागू होती है। विधिवत् खोज किये बगैर ईश्वर के अस्तित्व को किसी भी तर्क द्वारा खण्डित नहीं किया जा सकता। यह बहुत सम्भव है कि हम अपना सारा ध्यान दुनिया के उस विषय या समस्या पर केन्द्रित करना आवश्यक समझें जो उस युग की प्रबलतम माँग हो। किन्तु इससे यह अभिप्राय तो नहीं निकलता कि जिन विषयों की ओर हम ध्यान नहीं दे पा रहे हैं अथवा जिन समस्याओं के समाधान के लिये हम उनकी विषय-वस्तु को अपने अनुसन्धान का विषय बनाने में असमर्थ रहे हैं, वे सब अर्थहीन विषय मात्र हों, उन विषय-सत्ताओं का अपना कोई अस्तित्व ही न हो? नहीं, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार की सोच तो व्यक्ति के अहम्मात्रवाद के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। अहम्-मात्र-वाद को स्वस्थ मानसिकता कदापि नहीं माना जा सकता। इसके साथ-साथ इस बात की बहुत काफी सम्भावना रहती है कि किसी विषय को जटिलता और विस्तृतता के कारण जिन बहुत सी बातों को हम नहीं बतला पाते उन आपाततः असम्बद्ध तथ्यों में कोई संगतता भी नहीं दिखला पाते। तथापि इसकी अपेक्षा तो रखी जा सकती है कि बाद में आने वाली प्रतिभायें उन गुत्थियों को सुलझा दें।

अब वाक्य-विवेचन क्रम में अगले इस वाक्य पर विचार करें: "मैं नहीं जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है।" इस कथन से वक्ता की यथा-स्थिति का बोध होता है। इस वाक्य से ईश्वर का अस्त्वित्व या अनस्तित्व कुछ भी सिद्ध नहीं होता और न इसे दार्शनिक वाक्य ही कहा जा सकता है। इस यथा-स्थिति-बोधक वाक्य की संरचना में थोड़ा परिवर्तन करके इसे दार्शनिक वाक्य का रूप दिया जा सकता है यथा – मैं नहीं जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है अथवा नहीं। यही दार्शनिक वाक्य है। इसी प्रकार के वैचारिक धरातल से दार्शनिक जिज्ञासा शुरू होती है, जो अध्यात्म-विज्ञान में कदम रखने से पूर्व की स्थिती का परिचायक है। वह अगले चरण के रूप में पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के लिये व्यक्ति को तार्किक आयोजन करने की आवश्यकता की ओर इंगित करती है।

ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने वाले इन पूर्वोक्त कथनों के अलावा वाक्य यह भी प्रायः सुनाई पडता है। "मैं जानता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व है।" क्या यह कथन इस निष्कर्ष को व्यक्त करता है कि वक्ता ईश्वर के अस्ति के सम्बन्ध में गहन अनुसंधान करने के उपरान्त इस बारे में निराश होकर नतीजे पर पहुँचा हो? नहीं, ऐसा नहीं देखा जाता। पुनश्च प्रश्न उठता है ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करने वाला यह कथन कब या किस परिस्थिति उच्चारित किया जाता है? स्पष्ट है – ईश्वर साक्षात्कार के सन्दर्भ से यह जुड़ा नहीं होता। पुनः, इस वाक्य से वक्ता का यह आशय तो कदापि नहीं हो कि वह विधि-पूर्वक ईश्वर-साक्षात्कार के लिये वर्षों तक प्रयत्नशील रहा हो वर्षों के परिश्रम के उपरान्त भी ईश्वर-अस्तित्व-विषयक कोई अनुभूति उसे हुयी हो। हम देखते हैं कि इस प्रकार के वाक्य में जिज्ञासावृत्ति के लिये स्थान नहीं रह जाता। यह भी स्पष्ट है कि ईश्वर-अस्तित्व का अन्तिमतः नि करने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म-विज्ञान का विधि-पूर्वक अन्वेषक नहीं होता इस प्रकार का मन्तव्य प्रकट करने वाले चिंतक ओखाम्ह रेजर (लाघव न्याय) नाम पर ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं की व्याख्या करने के लिये अलग-अ परिकल्पनायें प्रस्तुत करते हैं। परम-सत्ता के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य मनोवि षण-वाद के आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। सि. फ्रायड इस वै रिक परम्परा के प्रवर्धक कहे जाते हैं। उन्होंने तमाम मानवीय व्यवहार की व्या को काम की प्रवृत्ति पर आधारित करने का प्रयत्न किया और ईश्वर अस्ति सम्बन्धी धारणा को मानव की आदिम असुरक्षा और भय के परिणाम स्वरूप उ जी धारणा बतलाया है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि फायड का मनोविश्लेषणवाद भी क्या उनकी प्र रान्तर से काम-वासना की तृप्ति मात्र नहीं थी? पुनश्च, अपनी यौन-पिपासा तृप्ति के लियें मानव जाति के तमाम व्यवहार को साधन के रूप में इस्तेमा करने का उसने प्रयत्न नहीं किया? यदि हाँ, तो उसने मानवीय व्यवहार से अप इच्छा-पूर्ति के लियें जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे पूर्वाग्रहयुक्त होने के कारण वै निक निष्कर्ष के रूप में स्वीकृत नहीं किये जा सकते। और यदि नहीं, तो फ्राय का मत स्वतः खण्डित हो जाता है। ईश्वर-अस्तित्व विषयक धारणा को मानव आदिम असुरक्षा और भय की उपज बतलाना – प्रकारान्त से संरक्षक विष ईश्वर सम्बन्धी धारणा की पुष्टिमात्र नहीं है। पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य ईश्वरवादी मत को छोड़कर उपादानेश्वरवाद, निमित्तेश्वरवाद और निमित्तोपा नेश्वरवाद आदि अन्य मतों पर फायड की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या लागू न

होती । पुनश्च, फायड का ईश्वर सम्बन्धी विश्लेषण उन मतों पर तो लागू हो सकता है जिनमें चमत्कारवाद, द्वितीय आत्मा का अवतरण, पाप-क्षमा, जगद् मिथ्यात्व और अन्ध-श्रद्धा तथा शून्य से ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि आदि विचार पाये जाते हैं । सेमैटिक तथा अन्य भक्ति-प्रधान, अवतार-वादी पश्चिमी सम्प्रदाय इसी श्रेणी में आते हैं । किन्तु आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, कर्मफल का सिद्धान्त' संकल्प की स्वतंन्त्रता और मुक्ति इत्यादि सिद्धान्तों को आधार के रूप में स्वीकार करने वाले धर्मों के ईश्वर पर यह व्याख्या अपर्याप्त सिद्ध होगी । न्यायकारी' सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और आनन्द स्वरूप सत्ता किस अर्थ में असुरक्षा की उपज ही सकती है ? पुनश्च, ऐसे अनेकों सन्तों-योगियों और ऋषि मुनियों के नामों का उल्लेख किया जा लकता है जिन्हें भय, असुरक्षा इत्यादि संवेग स्पर्श भी नहीं कर पाये । ईश्वरउपासक में निर्भयता के क्रमिक समावेश से फायड की ईश्वर सम्बन्धी व्यख्या गलत सिद्ध होती है ।

फ्रायड ने बतलाया था कि जैसे जैसे विज्ञान की प्रगति होती चली जायेगी, धार्मिक आस्थाओं के ऊपर से लोगों का विश्वास क्रमशः उठता चला जायेगा । किन्तु आज हम क्या देख रहे हैं ? विदित हो, साम्प्रदायिक अन्ध-विश्वास और आध्यात्मिक अनुभूतियों में अंतर क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है । वैज्ञानिक प्रगति के साथ साथ धर्मों के आवरण में जो मिथ्या विश्वास, भ्रान्त धारणायें और रुढियां छिपी पडी थीं और शताब्दियों से धर्म के दायरे में पनप रही थीं उन सबकी वास्तविकता एक एक करके समाज के सामने आती जा रही है । विज्ञान की प्रगति ने धर्म के ऊपर से विश्वास कम करने के स्थान पर मानव जाति के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लगा दिया है । एक युग-संकट खडा कर दिया है । इस युग से मानव जाति को उबारने के लियें अकेले विज्ञान के पास कोई मार्ग शेष नहीं रह गया है । वास्तव में विश्व के प्रख्यात विचारकों ने मानव जाति को पुनः आध्यात्मिकता की और लौटने की जो सलाह दी है, वह इस सन्दर्भ में प्रासंगिक ही है । आस्था और धर्म के सम्वन्ध में बात करते समय एक बडी भ्रान्ति प्रायः हो जाया करती है । धार्मिक अनुभूतियाँ और धार्मिक ढाँचा यें दोनों अलग-अलग चीजें होती हैं । दोनों में साध्य और साधन का सम्वन्ध होता है । ~~धार्मिक ढाँचे पर जोर देने पर वह सम्प्रदाय बन जाता~~ है, जबकि ~~आध्यात्मिक अनुभूतियों पर ध्यान केन्द्रित करने पर वह अध्यात्म-विज्ञान बन जाता है~~ । ~~अनुभूति और ढाँचे को सहज रूप~~

में ग्रहण करने पर वह धर्म कहलाता है। दोनों को अपनी-अपनी प्रांसगिक है, किन्तु एक दूसरे के सन्दर्भ से ही।

अधिकांशतः धर्म तथा ईश्वर-सम्बन्धी किसी मान्यता पर वैज्ञानिक परिप्रे में जब विचार किया जाता है तब प्रायः हमारे सामने धार्मिक ढाँचा और वादी विश्वास होता है। धार्मिक अनुभूतियां प्रायः नहीं होती। फायड का और ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विश्लेषण इसी श्रेणी में आता है। धार्मिक अनुभूतियों की ओर गहराई से दृष्टिपात करने का प्रयत्न नहीं कि अपितु धार्मिक ढाँचे, रीतिरिवाजें और विश्वासों को अपने मनोवैज्ञानिक वि षण में आधार बनाया है। धार्मिक अनुभूतियों के अभाव में ये सबके सब निष्प्र होते हैं। मानव की आस्था का विषय आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं। या तंत्र द्वारा इन अनुभूतियों का जनता में प्रचार प्रसार करने में सहायता मिल है। किन्तु जहाँ अनुभूतियाँ नहीं होती अथवा जिस ढाँचे द्वारा आध्यात्मिक अ भूतियों को गहन और व्यापक बनाने में कोई मदद नहीं मिलती उसका देर-स से टूटना अनिवार्य है।

विज्ञान के प्रचार प्रसार के साथ-साथ जो धार्मिक तंत्र परोपकार, मानव सत्य, समता, न्याय और स्वतन्त्रता इत्यादि नैसर्गिक मानवीय गुणों के पो नहीं रहे हैं और निहित स्वार्थ, शोषण, अन्ध-विश्वास, अन्याय तथा विषम इत्यादि गैर मानवीय प्रवृत्तियों को पनपाने में सहायक रहे हैं, उनका विघ अनिवार्य है। यदि फायड (और मार्क्स) के ईश्वर और धर्म सम्बन्धी विश्ले का आधार इस प्रकार के धार्मिक तन्त्र रहे हैं तब तो ठीक ही है, किन्तु उनका विश्लेषण आध्यात्मिक अनुभूतियों पर भी लागू करने का प्रयत्न कि जाता है तो उनके अनुयाइयों को फायड की मनोविश्लेषणवादी मान्यताओं ऊपर पुनर्विचार करना चाहिये। और यदि सम्भव हो सके तो आध्यात्मि अनुभूतियों को स्वयं अपने जीवन में अनुभव करके देखना चाहिये।

संसार में ईश्वर के अस्तित्व को लेकर कभी-कभी यह कथन भी सुन पडता है कि "ईश्वर के अस्तित्व को मानने की क्या आवश्यकता है"? विदि हो कि दैनिक जीवन में उपयोगिता के आधार पर विलियम जेम्स ने इस तरह धारणा का प्रैग्मेटिज्म नामक अपने अमर ग्रन्थ में भली भाँति निराकरण दिया है। इसी आशय से मिलता-जुलता तनिक भिन्न वाक्य भी कभी-कभी

दैनिक जीवन में सुनाई देता है– “ जब ईश्वर के अस्तित्व को बिना माने मजे से काम चल सकता है तो उसे मानने की क्या आवश्यकता है ? ” इस सम्बन्ध में केवल यह समझ लेना हमारे लिए पर्याप्त होगा कि संसार में बहुत सी वस्तुओं के अस्तित्व को बिना माने और बिना जाने आम आदमी का जीवन निस्सन्देह आराम से व्यतीत हो जाता है । किन्तु इससे यह अर्थ तो नहीं निकाला जा सकता कि उन वस्तुओं का कोई अस्तित्व ही न हो। फिर मानव जीवन अनेकों चक्करदार मोडों से गुजरता है । कई एक उतार-चढाव मानव जीवन में आते हैं । एक व्यक्ति आज जिस धारणाओं को स्वीकार नहीं करता, सम्भव है– कालान्तर अथवा अवस्थान्तर में वह उसे स्वीकार करने लग जाये । पुन: जीवन के लक्ष्य के बारे में जिन लोगों का दृष्टिकोण इन्द्रिय सुखोपभोगवादी होता है वे परम–तत्त्व के साक्षात्कार के लिये नियम पूर्वक अधिकारी नहीं माने जा सकते । तब इस प्रकार के व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व के बारे में कोई टिप्पणी कर सकने के लिये अधिकारी कैसे हो सकते हैं ? याने जिन व्यक्तियों ने परम-तत्त्व के साक्षात्कार को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है, उनके मुख से इस प्रकार का कथन कभी सुनाई नहीं पडता । वैसे इन्द्रिय सुखोपभोग का जीवन जीने वाले कुछेक प्रबुद्ध जनों के जीवन में कई बार ऐसे परिवर्तन देखने में आते हैं कि जिनसे उसके जीवन की धारा ही बदल जाती है । ऐसे व्यक्ति सांसारिक आकर्षणों को ठुकरा कर, आध्यात्मिक अनुभूतियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को पार कर अनवरत गति से अपने गन्तव्य की ओर जाते हुये देखें जा सकते हैं ।

संक्षेप में, इस प्रकार के कथनों के अलावा आस्था तथा ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित अन्य कथनों का अर्थ-निरूपण भी इसी परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है ।

अंत में यह एक अतीव महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है कि हम आस्थागत विषयों की तथ्यात्मकता और तर्क-गम्यता के विवेचन से किस परिणाम की अपेक्षा रख सकते हैं और अन्तत: क्या इस प्रयास की अपनी कोई प्रांसगिकता भी है अथवा नहीं ? स्पष्टता के तौर पर इन प्रश्नों के सम्बन्ध में हमारे लिये केवल इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि “ ईश्वर समर्थकों अथवा विरोधियों के अति उत्साह-पूर्ण आवेगों के कारण जो भ्रामक मान्यतायें, विसंगत धारणायें और पूर्वाग्रह हमारे भीतर जाने-अनजाने घर कर गये हैं, उन्हें यथातथ्य विश्लेषण और अर्थ-निरूपण के जरिये दूर किया जाये तथा आध्यात्म-विज्ञान के अध्येता के रूप व्यक्ति को तैयार किया जाये । इसलिये यह प्रयास मात्र प्रस्तावना के रूप

में पाठकों के सामने प्रस्तुत हैं। इसके अधिक इस प्रयास का कुछ भी मूल्य न
है। जब अध्यात्म-विज्ञान का अन्वेषक इसी प्रारम्भिक मंजिल को पार कर अ
संधान के लिये अगला कदम उठा लेता है तो उसके लिये यह प्रयास विट्गे
इन के तर्क-वाक्यों की भांति अर्थहीन होकर रह जाता है। इसके अधिक इस
न कोई मूल्य है और न इसके अधिक कोई प्रांसगिकता ही। *

—सोहनपाल सिंह

फुगाना, मु. नगर
पिन– २४७७७६
(उत्तर प्रदेश)

टिप्पणी

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के गुरुकुल कांगडी विश्वविद्याल आयोजित अधिवेशन में भाषा और व्याकरण दर्शन संगोष्ठी में प्रस्तुत कि गया निबन्ध।

नयी संस्कृति : एक टिप्पणी

आजकल कई लोग 'नयी संस्कृति' का नारा लगाते हैं। लेकिन मैं अपनी बात इस प्रश्न के प्रारम्भ करता हूँ कि 'नयी संकृति' ने हमें क्या दिया? मेरी जानकारी में संकृति का शाब्दिक अर्थ होता है– ~~संस्कार करना, सुधारना, परि~~ष्कार करना। किन्तु प्रश्न यह है कि 'नयी संस्कृति' के नाम से जो कुछ हमारे बीच प्रचलित है, क्या यह परिष्कार है? और, अगर है तो किस अपरिष्कृत दृष्टि अथवा मूल्य का वह परिष्कार है? वस्तुतः आज जो कुछ हमारे बीच है, वह परिष्कार की अपरिवर्तित अर्थवत्ता में संकृति है ही नहीं। वह तो प्राचीन मूल्यों का खण्डित और नवीन का असंतुलित, अविकसित एवं विघटित रूप है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि सम्प्रति विज्ञान, शिक्षा, अर्थ, समाज, राजनीति, कला, चिकित्सा आदि के क्षेत्रों में परिष्कार एवं विकास हुए हैं। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार उक्त क्षेत्रों में जितनी प्रगति हुई है, उस से मानव के लिए नये-पुराने– खतरे भी कम उपस्थित नहीं हुए हैं। स्थितियाँ ऐसी "उलझ गयी हैं कि व्यक्ति चाह कर भी उन से मुक्त नहीं हो पाता। वह उन्हें झेलने के लिए विवश होता है। हालात ऐसी है ~~मानव-कल्याण से सम्बद्ध प्रायः सभी मूल्यों में गिरावट आयी~~ है। अगर वृद्धि हुई है तो वस्तु-मूल्यों (अथवा भौतिक मूल्यों) में। अतः कल्याणकारी मूल्यों में गिरावट और वस्तु-मूल्यों (या-भौतिक मूल्यों) में वृद्धि से इनसान को जो मिलता है, वह मूख्य रूप से आज मिल रहा है। वह है– निराशा, घृणा, असंगति, कुण्ठा, खीज, टूटन, हीनता, असंतोष, क्रोध, विद्रोह, आक्रोश, क्षणिक, उफान, मूल्यहीनता आदि।

यहाँ एक सवाल उठता है कि आखिर यह सब हुआ कैसे? क्योंकि मानव-व्यापार के केन्द्र में मनुष्य है। अतएव उस की सारी प्रगतियाँ मानवीय सुख-सुविधाओं से सम्बद्ध हैं। ध्यान से विचारने पर इस सम्बत्ध में दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो आज की भौतिकवादी चमक से लोक शौक ले दिखावेके लिए, कुछ नया करना चाहते हैं। पर आचरण और दृष्टि की वामनता के कारण ऐसा

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

कुछ (कालजयी' कल्याणकारी, नया) कर नहीं पाते । परिणामत: प्राचीन मूल्
को पीट कर कुछ नया करने का शोक पूरा करते हैं और उसे नया के नाम
बाजार में भुनना चाहते हैं। दूसरे, व्यक्तियों के खोखले अहमू और स्वा
कदम ने स्थितियों को विघटित कर दिया है वे (अपने खोखले अहम् औ
स्वार्थपूर्ण कदम के कारण) मानव कल्याण के लिए विपरीत स्थितियों में अनि
नहीं चाहते, उन का अधिकाधिक विषमतापूर्ण खण्ड या (तुकड़ा) चाहते हैं
ऐसी स्थिति में मानवीय दृष्टियाँ सदोप होती हैं, पर उन का वैयक्तिक मह
बढ़ता है ये ही कारण हैं, जिन से स्थितियाँ उलझ सी गयी और व्यक्ति अ
ही व्यापारों के बीच घिरता गया । फलस्वरूप आज सम्पूर्ण मानव-व्यापार-उ
क्षेत्र एवं विषय--जैसे--कला, विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति, नैतिकता, धर्म, द
एवं उन की प्रतिक्रियाओं– से एक अजीब-सी अपरिपक्वता तथा सन्दिग्ध
का अहसास होता है। यहाँ तक कि दैनन्दिन जीवन में भी अपने आस-पा
का वातावरण तनाव, अविश्वास और बे-ईमानी से भरा लगता है। पड़ो
अनजान-सा दीखता है। कुछ संदर्भों में परिवार के सदस्य भी अपरिचित ल
हैं। प्रायः हर अनजान चेहरा संदिग्ध प्रतीत होता है। मानवीय मजबूरियों प
उपेक्षा, घृणा और तीखे व्यंग्य के बौछार किये जाते हैं। मुख्यतः ये ही आज
अहसास हैं। उन्हें किस परिष्कार (अथवा संस्कृति) की संज्ञा के अभिहित कि
जाए ?

वस्तुतः संस्कृति में परिष्कार के साथ-साथ मानव-कल्याण की भावना निहि
होती है। कारण यह है कि सांस्कृति चेतना में मानव केन्द्रस्थ रहता है। सम
नुसार सांस्कृतिक पुनरुत्थान हर देश में होता रहा है। भारत में भी आजादी
पूर्व हुआ था। इतिहास के अनुसार सन् १८२० ते १९०० ई. तक का
सांस्कृतिक पुनर्जागरण का काल था। इस अवधि में 'ब्रह्म समाज' 'आर्यसमाज
'प्रार्थना समाज', 'थियोसोफिकल सोसाइटी' आदि संस्थाओं की स्थापना
थी' जिन का उद्देश्य धार्मिक एवं सामाजिक अंधविश्वासों को दूर कर एके
बाद, सर्वधर्म समन्वय, तथा विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार करना था।
काल में रामकृष्ण परहँस एवं विनेकानंद जैसे मनीषियों ने समाज की भ्र
धारणाओं को दूर कर जन जागरण एवं जन-कल्याण के लिए क्रमशः ब्रह्म
एकता और कर्मयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग के समन्वय पर जोर दिया था
तात्पर्य यह है कि उन दिनों भारत के गौरवमय अतीत के आधार पर सांस्कृ
चेतना का व्यावहारिक दृष्टि से प्रचार किया गया था। किन्तु ऐसी चेत
आजादी के प्रारम्भ तक विद्यमान रही। तत्पश्चात् (व्यवित के खोखले
दुराग्रह और स्वार्थपूर्ण कदम के कारण) सांकृतिक जीवन्तता उत्तरोत्तर क्षीण हो

गयी और सम्प्रति इस की क्षीणता इस हद तक पहुँच गयी है कि देश के संचालक और प्रहरी भी शायद यह ठीक तरह से नहीं जानते कि हमारी सांस्कृतिक एकात्मता, अस्मिता तथा अनन्यता की आत्मा क्या है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यही हमारी नियति है, अथवा इस में सुधार सम्भव है? यहाँ सुधार की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ~~'नयी संस्कृति' के नाम से जो कुछ दिखायी पड़ता है, वह समाज की ऊपरी सतह पर है, यद्यपि बहुसंख्य उसमें खोये हुए हैं~~। तथापि उसकी भीतरी तह में, एक शाश्वत, कल्याणकामी साँस्कृतिक चेतना का स्रोत प्रवाहित होता रहा है। वह क्षीण-सा प्रतीत होता है, यद्यपि वह कठिन परिस्थितियों में भी पूर्णतः नामशेष हुआ नहीं दिखता। यही कारण है कि भारत की लम्बी पराधीनता के अन्तराल में भी वह नहीं सूखा और आज भी लोग उसकी महत्ता की ओर मुखातिब हो रहे हैं। आज विश्व के फलक पर, सच्चे मानवीय हितों को केन्द्रस्थ कर, मानवीय व्यापारों पर विचार किया जा रहा है। अणु-अस्त्रों की होड़ बन्द करने की बात चल रही है। आपसी मतभेद, युद्ध के द्वारा नहीं, बातचीत के द्वारा सुलझाने पर जोर दिया जा रहा है। लेकिन इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सवाल पैदा होता है कि अगर हमें अपने को 'नयी संस्कृति' पर हावी होने से बचाना है और अगर हमारी सांस्कृतिक अस्मिता, एकात्मता तथा अनन्यता नष्ट न हो इसलिये हमें सतर्क तथा प्रयत्नशील रहना है, तो हमारी सांस्कृतिक एकात्मता, अस्मिता तथा अनन्यता के यथायोग्य निकष हमें तय करने होंगे, और उनका स्रोत हमारे जीवन से नष्ट न हो जाय इसके लिये भरसक प्रयास करने होंगे। बुद्धिमान तथा मनीषी लोगों से अपेक्षा है कि वे हमें इस प्रकार का मार्गदर्शन करें कि हम अपने को 'नयी संस्कृति' से चकाचौंध न हो कर अपने सांस्कृतिक नाश से बचा सकें।

–सुरेश प्रसाद सिन्हा

२४/रोशन मंजिल, दमण,
वापा-वापी,
दमण,–३९६२१०

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२)

नव्यन्याय का परिभाषा-विषयक दृष्टिकोण

पिछले अंश में नव्यन्याय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पाठकों के सामने रखी। इस लेख में नव्यन्याय का परिभाषा-विषयक दृष्टिकोण संक्षिप्त रूप से प्रस्तु करना चाहते हैं।

भाषा या शब्द मानव को प्रकृति की अनुपम देन है। शब्द से मनुष्य वस्तु ओं के विषय में परिचय प्राप्त करता है तथा विचारों का सम्प्रेषण करता है माता-पिता, गुरुजनों आदि के शब्द-प्रयोग के आधार पर ही मानव प्राणि सांसा रिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उनका व्यवहार करता है। यदि भाषा न हों तो भाषिक बोध के न होने से अन्धे के समान मानव लोक-व्यवहार में असमर्थ ह जाता। इसलिये दण्डि ने कहा है —

> इदमन्धं तमःकृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाव्हयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। [१]

विचार करने पर दण्डि की उपर्युक्त उक्ति यथार्थ प्रतीत होती है। सर्वप्र बाल्यावस्था में माता-पिता के शब्द प्रयोग से वस्तुओं का परिचय प्राप्त होता है उसके अनन्तर विद्यालय, महाविद्यालय में गुरुओं के अध्यापन से अनेक विषयों ज्ञान प्राप्त होता है। शब्द-प्रयोग से ही अपने अज्ञान तथा संशय को व्यक्त कर ज्ञान-सम्पादन का रास्ता प्रशस्त किया जाता है। गुरुओं के अध्यापन तथा ग्र के अध्ययन से मानव ज्ञान की गरिमा को आत्मसात् कर के लौकिक विषयों निष्णात बनता है। शब्दमय ज्ञानराशि से प्राप्त सदसद्विवेक के फलस्वरूप मनु हेयोपादेय तत्त्वों को समझ कर अनुकूल के प्रति आग्रही तथा प्रतिकूल के प्र विद्वेषी बनता है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

इस प्रकार मानवीय जगत् का बहुत सारा लौकिक और अलौकिक व्यवहार शब्द पर आधारित है। जैसा कि आचार्य दण्डि ने कहा है –

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ [2]

शब्द से होनेवाले अर्थ के अन्वय के ज्ञान को ही शाब्दबोध कहते हैं। प्रात्यक्षिक, आनुमानिक, मानस आदि बोध के अनेक प्रकार होते हैं। जिसमें शब्द बोध का प्रधान रूप से माध्यम बनता है या जो बोध मुख्यत: शब्द से उद्भूत होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शब्द को मात्र सुनने से शाब्दबोध नहीं होता। उसकी एक शास्त्रीय प्रक्रिया होती है। सबसे पहले व्यक्ति किसी भी भाषा के शब्द को सुनता है। तदनन्तर शब्द उससे सम्बन्धित अर्थ को सुननेवाले व्यक्ति के मानस-पटल पर उपस्थित करता है और उसके बाद उपस्थित अर्थों के परस्पर अन्वय या सम्बन्ध का उस व्यक्ति को ज्ञान होता है। इसी प्रकार के सम्बन्ध या अन्वय के ज्ञान को शाब्द बोध या अन्वय-बोध कहा जाता है। किसी भी वाक्य को सुनने पर उस वाक्य में कथित पदार्थ हमारे लिये वाक्य सुनने के पहले पूर्वज्ञात ही होते हैं, या होने चाहिये। केवल उन पदार्थों का अन्वय नूतन होता है, जो कि हमें नये रूप में ज्ञात होता है। परन्तु जो भाषा हमें आती है उसी के पदों को या शब्दों को सुनने पर हमें शाब्दबोध होता है, और जो भाषा हमें नहीं आती उसके शब्दों को सुनने पर शाब्दबोध नहीं होता। इसका कारण यह है कि शब्द में अपने अर्थ का बोध कराने का एक सामर्थ्य होता है। इस सामर्थ्य से युक्त शब्द सार्थक तथा उससे रहित शब्द निरर्थक माने जाते हैं। उस सामर्थ्य का ज्ञान रहने से अज्ञात होनेवाली भाषा के शब्दप्रयोग सुनने के बावजूद उनसे शाब्दबोध नहीं होता। शब्द के अर्थविषयक बोध के इसी सामर्थ्य को नैयायिक वृत्ति [3] कहते हैं। तथा उस वृत्ति को वे संकेत (शक्ति) और लक्षणा के दो रूपों में स्वीकार करते हैं।

साहित्यिक वर्ग [4] के लोग उपर्युक्त और नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत संकेत (शक्ति) और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी शब्द की स्वतन्त्र वृत्ति मानते हैं। नैयायिक व्यञ्जना से होनेवाले बोध को शब्दज्ञान से होनेवाला अन्वय-बोध न मानकर उसे आनुमानिक बोध मानते हैं।

पद-वृत्ति पदार्थ-बोध को उत्पन्न करनेवाली शक्ति होते हुए भी यह अग्नि में रहनेवाली दाहकता शक्ति से भिन्न स्वभाव की है। अग्नि में ज्वलनशक्ति या ज्वलन का सामर्थ्य हमें अज्ञात रहने पर भी अग्नि अपने सम्पर्क में आनेवाले किसी

भी ज्वलनशील पदार्थ को भस्मसात् करता है। परन्तु पद की वृत्तिरूप शक्ति यदि हमें अज्ञात है, तो उससे होनेवाला पदार्थ-बोध भी अज्ञात ही हुआ करता है। अतः जो व्यक्ति पद की पदार्थ-स्मारक शक्ति को जानता है उसे ही उक्त पद के श्रवण के बाद पदार्थ का स्मरण होकर पदार्थों के अन्वय का बोध होता है।

नैयायिकों के द्वारा पद-संकेत भी दो मुख्य प्रकार का माना गया है-आजा-विक और आधुनिक।[५] आजाविक संकेत से तात्पर्य उस संकेत से है जो लौकि पुरुष से कल्पित न होकर परमेश्वर द्वारा कल्पित या अनादि है। इसी आजावि संकेत को नैयायिक प्रधानतः शक्ति कहते हैं[६] आधुनिक संकेत तथा लक्षणा श की इस प्रकार की शक्ति से भिन्न वृत्तियाँ हैं।

मीमांसकों के मत में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचक-भा सम्बध के रूप में ग्रहण किया जाता है तथा यह सम्बन्ध या शक्ति-रूप पदार्थ ए स्वतंत्र पदार्थ है ऐसा भी माना जाता है।

आलंकारिक अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों को ही शक्ति क हैं, जबकि नैयायिक केवल अभिधा-वृत्ति को ही शक्ति कहते हैं।

संकेत (शक्ति) को समझने के अनेक उपाय या साधन बतलाये गये हैं ‘

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यायहारातश्च।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

इनके उदाहरण **न्यायसिद्धान्त मुक्तावली** आदि ग्रन्थों में स्पष्टतया प्रतिप दित हैं और जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि उनका अध्ययन वे उक्त ग्रन्थों से क

संकेत दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है– “इस शब्द से इस अर्थ बोध हो” तथा ‘यह अर्थ इस शब्द वे होनेवाले बोध का विषय हो’ याने, विशि शब्द से विशिष्ट अर्थ का ही बोध होगा तथा विशिष्ट अर्थ का बोध कराने लिये विशिष्ट शब्द का ही उपयोग करना होगा। उदादरणार्थ, ‘गौ’ शब्द गाय (सास्नादि से युक्त पशु) ज्ञान हो, तथा उपर्युक्त सास्नादि से युक्त पशु शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का विषय हो। इस प्रकार की ईश्वर-इच्छा को अभाधि संकेत को नैयायिक आजाविक संकेत मानते हैं। अतः आजाविक संके जो शब्द जिस अर्थ के बोध को उत्पन्न करता है वह शब्द उस अर्थ का वा माना जाता है। जैसे, मनुष्य शब्द मनुष्यरूप बुद्धिमान् प्राणि रूप अर्थ को प्र करता है, अतः मनुष्य शब्द उक्त अर्थ का वाचक होता है। क्योंकि ईश्वर-सं शक्ति है तथा शक्ति के द्वारा ही अर्थ-बोधक पद को न्याय में वाचक माना जा

है। इसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य गदाधर [९] ने किया है। पारिभाषिक पद पारिभाषिक ही होता है। उसे नैयायिक वाचक नहीं मानते।

अनेक अवसरों पर शक्त पदों के प्रयोग से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है, अथवा प्रयुक्त शक्त पदों से व्यक्त किये गये पदार्थों का परस्पर सम्बध स्थापित नहीं होता है। परंतु वक्ता के तात्पर्य को समझकर वहाँ शक्यार्थ सम्बन्ध रूप लक्षणा [१०] नामक वृत्ति के आधार पर लक्ष्यार्थ की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है। लाक्षणिक अर्थ के बोधक शब्द को लक्षक तथा उससे बोध्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते है। उदाहणार्थ, लक्षणा को व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण अनेक वार दिया जाता है – "गंगायां घोषः" (गंगा (जी) पर अहीर का घर है)। इस वाक्य के 'गंगा' पद से उसके शक्यार्थ गंगा-प्रवाह का बोध होने पर उस प्रवाह का घोष पदार्थ (अहीर के घर) के साथ आसानी से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। अतः गंगा पद से लक्षणा के आधार पर गंगा से सम्बन्धित उसके तट का ग्रहण करके 'गंगा' के तट पर अहीर का घर है यह अन्वय-बोध किया जाता है। यहाँ 'गंगा' लक्षक तथा गंगा-तट लक्ष्यार्थ माना जाता है।

दूसरे प्रकार का संकेत परमेश्वर से भिन्न किसी भी व्यक्ति के द्वारा कल्पित होता है, या वह अनादि नहीं हुवा करता। वह किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा के द्वारा प्रयुक्त किया हुआ होता है और इसी प्रकार के संकेत को 'परिभाषा' [११] कहते हैं। इस संकेत के द्वारा जो पद जिस अर्थ-विशेष को व्यक्त करता है उस पद को पारिभाषिक अर्थात् परिभाषा से सम्बन्धित पद तथा उससे अभिव्यक्त पदार्थ को, वह परिभाषा से सम्बन्धित होने की वजह से, पारिभाषिक पदार्थ कहा जाता है। संक्षेपतः, पारिभाषिक पदार्थ माने पारिभाषिक पद से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ है।

नैयायिक पद चार प्रकार के होते हैं ऐसा मानते हैं [१२] – योग, रूढ, योगरूढ तथा यौगिकरूढ। इनमें से योग की अपेक्षा न रखने वाले संकेत वाले पद को पारिभाषिक कहते हैं [१३] 'मण्डप' पद योग है क्योंकि यह पद 'मण्ड' और 'पाति' इन दो भिन्न शब्दों के योग से बना है। इस शब्द के संकेत को समझने के लिये इस शब्द के घटक-शब्दों के संकेतों को समझना आवश्यक होता है उपर्युक्त 'मण्डप' पद का संकेत योग के संकेत की अपेक्षा रखता है। अतः वह 'योगानपेक्ष्य संकेत' नहीं है और इसलिए वह पारिभाषिक भी नहीं है। पारिभाषिक पद रूढ पद का ही एक प्रकार है। रूढ-पद [१४] नैमित्तिक, पारिभाषिक

तथा औपाधिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। याने हरेक पारिभाषिक पद रूढ-पद होता है, किन्तु हरेक रूढ-पद पारिभाषिक नहीं होता।

परिभाषा (योगानपेक्ष्य संकेत) दो प्रकार की होती हैं– लौकिक तथा शास्त्रीय। लौकिक परिभाषा वह है जो किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा लोकव्यवहार के लिये कल्पित होती है या प्रयुक्त की जाती है, जैसे, 'रामनगर', 'सह्याद्रि', 'हरिजन' आदि। शास्त्रीय परिभाषा वह है जो किसी शास्त्रकारों के द्वारा शास्त्रीय नियमों या तथ्यों के स्पष्टीकणार्थ संकेतित की हुई होती है, जैसे, विख्यात वैयाकरण पाणिनी के द्वारा प्रयुक्त 'नदी', 'वृद्धि', 'गुण' आदि।

आचार्य गदाधर[१५] के अनुसार आधुनिक संकेत ही परिभाषा का लक्षण है। अतः परिभाषा एक ही प्रकार की होती है, चाहे वह शास्त्रकारों के द्वारा संकेतित हो या सामान्य व्यक्ति के द्वारा। उसका लौकिक और शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार का वर्गीकरण अनावश्यक तथा गौरवोत्पादक है। वे परिभाषा को ईश्वर-संकेत से भिन्न संकेत के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार की भिन्नता शास्त्रीय तथा लौकिक परिभाषाओं में समान रूप से विद्यमान होने के कारण उनके मतानुसार उसका द्वैविध्य अनावश्यक है।

'नदी', 'वृद्धि' 'गुण' आदि पाणिनी के द्वारा संकेतित पारिभाषिक पद हैं। पाणिनीय व्याकरण में 'नदी' पद दीर्घ एकारान्त, ओकारान्त स्त्रीलिंगी शब्द का संकेत करता है, तथा 'वृद्धि' पद आ, आर् ऐ, औ को संकेतित करता है। इस प्रकार के पारिभाषिक पदों की कल्पना करके जहाँ दीर्घ एकारान्त या ओकारान्त स्त्रीलिंगी शब्द को कहना हो वहाँ उसके प्रतीक के रूप में वे 'नदी' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार लगभग सभी शास्त्रकारों के द्वारा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग स्पष्टीकरण की सरलता की दृष्टि से तत्-तत् शास्त्रों में किया जाता है।

इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी लाघव की दृष्टि से 'गाँव', 'नगर', 'नदी', 'पर्वत', 'जाति', आदि विशेष परिभाषाओं की कल्पना करके उन पारिभाषिक पदों का यथास्थान प्रयोग करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय तथा लौकिक इन दोनों प्रकार के व्यवहारों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि गाँव, नगर, नदी, आदि (के) नाम पारिभाषिक होते हुए भी व्यक्तियों के उनके पिता के द्वारा रखे गये राम, श्याम, देवदत्त

आदि नाम पारिभाषिक नहीं माने जाते। उन्हें कुछ नैयायिक वाचक ही मानते हैं। क्योंकि 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' यह ईश्वर-संकेत होने से वह नाम ईश्वर-सांकेतिक पद ही माना जाता है और उसे पारिभाषिक नहीं गिना जाता। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर वेदकर्ता होने से सभी वैदिक आदेश ईश्वरीय आदेश हैं। 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' इस वैदिक वाक्य में आया हुआ 'नाम' शब्द नाममात्र का वाचक है जिसमें राम, श्याम, गोविन्द आदि सभी नाम समाविष्ट हैं। इसलिए राम, श्याम, गोविन्द आदि सभी नामों के पीछे परमेश्वर की इच्छा रहने से वे सभी पद वाचक माने जाते हैं। परंतु गांधीजी जैसे आधुनिक व्यक्ति-विशेष के द्वारा कल्पित 'हरिजन' इत्यादि संज्ञायें ईश्वरेच्छारूप शक्ति-युक्त न होने से उन्हें पारिभाषिक सज्ञा ही माना जाता है। एक ही पद एक अर्थ में वाचक और दूसरे अर्थ में पारिभाषिक हो सकता है। जिस अर्थ में वह ईश्वर-संकेतित हो उस अर्थ में वह वाचक होता है तथा जिस अर्थ में वह किसी आधुनिक (याने ईश्वर से भिन्न) व्यक्ति-विशेष के द्वारा संकेतित हो उस अर्थ में वह पारिभाषिक होता है। उदाहरणार्थ, 'पक्षता' पद या 'हरिजन' पद। 'पक्षता' पद पक्ष के स्वभाव के अर्थ में वाचक है परन्तु साध्य-संशय या सिषाधयिषा के अभाव से युक्त (साध्य की) सिद्धि के अभाव के अर्थ में पारिभाषिक है। वैसे ही 'हरिजन' पद वैष्णवजन के अर्थ में वाचक है तथा तथाकथित असवर्ण व्यक्ति के अर्थ में पारिभाषिक है।

एक मत के अनुसार यह कहा जाता है कि 'बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' इस साधारण इच्छा के आधार पर पिता के द्वारा रखे गये सभी नाम– राम, श्याम, गोविंद आदि– यदि उक्त ईश्वर-ईच्छा के विषय होने से वाचक माने जाय तो 'शब्द से अर्थबोध हो' इस साधारण इच्छा के विषय सार्थक शब्दमात्र होने से सभी सार्थक शब्दों में भिन्न-भिन्न अर्थों की वाचकता स्वीकार करने पर सभी सार्थक शब्द वाचक ही मानने होंगे, और परिणामतः कोई शब्द पारिभाषिक या लाक्षणिक नहीं होगा। अतः शब्द-विशेष की आनुपूर्वि के के आधार पर विशिष्ट प्रकार का ईश्वर-सङ्केत ही सार्वत्रिकतया स्वीकार करना होगा। इस प्रकार किसी भी भाषा में पारिभाषिक पद ही नहीं होंगे। इसलिये पारिभाषिक संज्ञाओं को इस प्रकार पूर्णतः हटा देने के बजाय यह स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर है कि पिता के द्वारा रखे गये राम, श्याम, देवदत्त इत्यादि नामों में पिता का ही संकेत होता है और इसके कारण पिता के द्वारा रखे गये पुत्र आदि के नाम वाचक न होकर पारिभाषिक हैं।

परन्तु गदाधर भट्टाचार्य[१६] को यह मत मान्य नहीं है। क्योंकि शक्तिवा में विशिष्टबोध की ईच्छा से ईश्वर-उच्चरित पद को वाचक कहनेवाले के मत के खण्डन में जो वाचकता के लक्षण की अव्याप्ति उन्होंने प्रदर्शित की है उससे य स्पष्ट है कि उक्त नामों में गदाधर को वाचकता ही अभीष्ट है, पारिभाषिकता नहीं।

जगदीश तर्कालंकार[१७] ने दो वस्तुओं में न रहनेवाले विशेषण के आश्र की पारिभाषिक संज्ञा स्वीकार की है। उनके मतानुसार जिस प्रकार आकाश डित्थ आदि पद पारिभाषिक हैं, परन्तु देवदत्तत्व, रामत्व, श्यामत्व आदि जाति के आश्रयों–देवदत्त राम, श्याम आदि–में संकेतित देवदत्त, राम, श्याम आदि प भी पारिभाषिक ही हैं, क्योंकि ये सभी आधुनिक व्यक्ति (पिता) के द्वा संकेतित हैं। आधुनिक संकेत शक्ति नहीं है, मात्र नित्य संकेत ह शक्ति है। या यूं कहें, अपरिवर्तनीय संकेत शक्ति है, परिवर्तनीय संके परिभाषा है। पिता के द्वारा रखे गये देवदत्त आदि नामों के पीछे ईश्वर-संकेत ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। "बारहवे दिन पिता पुत्र का नामकरण करे" य वैदिक वाक्य पितृकर्तव्यता का निर्देशक माना गया है। किसी भी पद को शक पद बनने के लिये उसे उसके पूर्व भी उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ होना चाहिये पुत्र-जन्म के अनन्तर पुत्र के लिये तत्काल-प्रयुक्त नाम उसके पूर्व उसके लिये प्रयुक नहीं होता और अतः वह वाचक नहीं है, अपितु पारिभाषिक है। इसलिये पित के द्वारा रखे गये या शास्त्रकारों के द्वारा दिये गये नदी, वृद्धि आदि नामों म सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। इस प्रकार आधुनिक व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्रवर्ति नामों के समान शास्त्रकारों के द्वारा कल्पित विशेष अर्थ के प्रतिपादक शब्द समा रीति से पारिभाषिक शब्द हैं।

कहीं-कहीं एक ही शब्द विभिन्न अर्थों में भिन्न भिन्न शास्त्रकारों के द्वा प्रयुक्त होता है। वह शब्द उक्त अर्थ में उस शास्त्र का पारिभाषिक शब्द मान जाता है। जैसे, एक ही 'प्रकृति' शब्द सांख्य दर्शन में मूल प्रकृति अर्थात् सत रज और तम इन त्रिगुणों की साम्यावस्था के अर्थ में, वेदान्त में माया के अर्थ मे न्याय-वैशेषिक में अदृष्ट के अर्थ में, साहित्यशास्त्र में वस्तु के स्वभाव के अर्थ मे

प्रयुक्त होता है। अथवा एक ही 'सत्त्व' शब्द बौद्धदर्शन में अर्थक्रियासामर्थ्य, सांख्य दर्शन में सत्त्वगुण, न्याय में द्रव्य, गुण और कर्म में रहनेवाली सत्ता जाति के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं जो भिन्न भिन्न शास्त्रों में अलग अलग अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सभी शास्त्रों में उन-उन शास्त्रों की संकल्पनाओं को प्रस्तुत तथा स्पष्ट करने में होता है। हरेक शास्त्र की परिभाषा सामान्यतः उस शास्त्र के सांकल्पनिक ढाँचे में ढली हुई होती है। सभी शास्त्रों में एक ही प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि सभी शास्त्रों का सांकल्पनिक ढाँचा एक ही प्रकार का नहीं होता। साथ-साथ उनके प्रतिपाद्य विषय तथा प्रतिपादन के मार्ग भिन्न होते हैं। यदि सभी शास्त्र एक ही प्रकार की संकल्पनाएँ तथा पारिभाषिक शब्दावली को स्वीकार कर लें तो उन्हें शायद एक ही प्रकार का सांकल्पनिक ढाँचा अपनाना पड़ेगा और दूसरी ओर उनके बौद्धिक विकास के सारे रास्ते अवरुद्ध हो जायेंगे। यह एक आत्मघाती प्रयास होगा और उसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति तथा विकास के अन्यान्य मार्ग भी अवरुद्ध हो जायेंगे। विचार-भिन्नता ही ज्ञान के विकास का आधार है। उसके लिये विभिन्न सांकल्पनिक ढाँचों को अपनाया जाना तथा विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया जाना आवश्यक है।

जहाँ तक नव्यन्याय की पारिभाषिक पदावली का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि नव्यनैयायिकों के ये विशिष्ट शब्द विशिष्ट अर्थों के ही प्रतिपादक हैं। उनके बीच नैयायिकों के द्वारा जिस प्रकार के संकेत को स्वीकार किया गया उसके आधार पर न्याय या अन्य किसी भी दर्शन की संकल्पनाओं का सुस्पष्ट रूप सामने रखा जा सकता है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत परिभाषा को भी उसके सांकल्पनिक ढाँचे की पृष्ठभूमि का आधार मिला है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत परिभाषा का उसके द्वारा स्वीकृत सांकल्पनिक ढाँचे से पूर्णतः अलगाव किया जा सकता है या नहीं इस प्रश्न की चर्चा हम इस लेखमाला में नहीं करेंगे। यहाँ हमारा मन्तव्य नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक पदार्थों के विवेचन तक ही सीमित है। लेकिन संभवतः यह स्वीकार किया गया कि नव्यन्याय के द्वारा प्रव-

तित परिभाषा अन्यान्य दार्शनिक तथा वैचारिक परंपराओं से समदूरस्थ शायद यही कारण है कि नव्यन्याय के विकास के साथ उसकी उत्तरोत्तर वि हुई पदावली का स्वीकार तथा प्रयोग प्रायः सभी भारतीय विद्याओं के विद्वा द्वारा लिखित अन्यान्य ग्रन्थों में किया गया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि भी शास्त्र के सिद्धान्तों का यथोचित स्पष्टीकरण करने के लिये नैयायिकों के स्वीकृत पदावली का प्रयोग करना ही सर्वथा उचित तथा उपयुक्त है। दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों से नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्द स्वभावतः कुल भिन्न हैं। इस प्रकार की स्वाभाविक भिन्नता के बावजूद सामान्यतः स्वीकार किया गया कि नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किसी शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों को हानि या क्षति पहुँचाये बिना उन्हें उनका सूक्ष्मता से अध्ययन तथा चिन्तन किये जाने की ओर अग्रसारित करता है। कारण पर अब संक्षेप में विचार करेंगे।

वैशेषिक जैसे अन्य शास्त्रों में स्वीकृत ‘सामान्य’, ‘समवाय’ आदि भाषिक शब्दों के अलावा प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, पर्याप्ति अनेक विचित्र तथा विलक्षण शब्द नव्यन्याय की विशिष्ट देन है। नव्यन्या पद-पद पर प्रयुक्त किये गये ये पारिभाषिक शब्द उसकी विलक्षणता को करते हैं तथा इसकी परिपक्वता को सुदृढ आधार प्रदान करते हैं। नव्यनैया की इसके पीछे की दृष्टि सार्वभौमिकता की रही है। उनका मन्तव्य संभवत रहा कि उनके द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक पदार्थ सम्प्रदाय-निरपेक्ष हैं, ज सांख्य आदि अन्य दर्शनों के द्वारा स्वीकृत ‘प्रकृति’, ‘सत्त्व’ आदि सम्प्रदाय-निरपेक्ष नहीं हैं। जैसे पाणिनी के द्वारा प्रणीत पारिभाषिक शब्द (संस्कृत जैसी किसी भी) भाषा के व्याकरण का स्पष्टीकरण करने के लिये शास्त्रकारों के द्वारा अपनायी गयी, उसी तरह वैचारिक व्याकरण के नव्यन्याय के द्वारा प्रवर्तित पारिभाषिक शब्दावली अन्यान्य शास्त्रकारों के तत्-तत् शास्त्रों में प्रयुक्त संकल्पनायें तथा विचारों के स्पष्टीकरण के प्रयुक्त की गयी। यही शायद कारण है कि आयुर्वेद से लेकर तन्त्र तक वैचारिक तथा दार्शनिक परंपराओं ने इसे आत्मसात् करके अपने-अपने शास्त्रों सुदृढ आधार प्रदान किया।

नव्यन्याय के द्वारा प्रवर्तित परिभाषा के स्वरूप का और उसके पीछे उसके रहे दृष्टिकोण का हमने ऊपर संक्षिप्त परिचय पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। इस पृष्ठभूमि पर अब अगले अंश से 'प्रतियोगिता' तथा 'अनुयोगिता' नामक पारिभाषिक पदार्थों से नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत अन्यान्य पारिभाषिक पदार्थों की चर्चा का आरम्भ करेंगे।

(क्रमशः)

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणें–४११००७

–बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. काव्यादर्श

२. वही

३. गदाधर; संकेतोलक्षणाचार्थे पदवृत्तिः। शक्तिवादे

४. जगदीश; स्यादेतत्, मुखं विकासितस्मितमित्यत्र विकासित पदेन......
तस्य लक्षणामूलव्यञ्जनया वृत्त्या बोध्यत इति रूढादिवद् व्यञ्जकमपि
शब्दान्तरमास्थेयम् – शब्दशक्तिप्रकाशिका

५. भर्तृहरि; आजाविकश्चाधुनिकः सङ्केतो द्विविधो मतः।
नित्य आजाविकस्तत्र (च) या शक्तिरिति गीयते॥
वाक्यपदीये

६. विश्वनाथ पञ्चानन; शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः।
साचास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा रूपः।
न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, शब्दखण्डे

७. जयन्त भट्ट; न्यायमञ्जरी, आन्हिक ५.

८. विश्वनाथ पञ्चानन; तत्रैव

९. गदाधर; तत्रैव

१०. जगदीश; तत्रैव

११. गदाधर; तत्रैव

१२. जगदीश; शब्दशक्तिप्रकाशिका, १६.

१३. जगदीश; पारिभाषिकत्वं योगानपेक्ष्य सङ्केतशालित्वम् ।– जागदी
व्यधिकरण परिच्छेदे, उसके ऊपर शिवदत्त मिश्र की टिप्पणी

१४. जगदीश; शब्दशक्तिप्रकाशिका

१५. गदाधर; शक्तिवाद

१६. वही

१७. जगदीश; शब्दशक्तिप्रकाशिका, नाम प्रकरणे

वैज्ञानिक प्रणाली, साम्य और साम्यानुमान

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य यह विचार करना है कि वैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक अनुसंधान में 'साम्यानुमान', 'सरल गणना' और 'साम्य' में कौन तार्किक दृष्टि से उपयोगी और कौन अनुपयोगी है। क्योंकि कुछ तर्कशास्त्रियों[1] ने 'गणना' और 'साम्यानुमान' पर बल देते हुए दोनों के समतुल्य महत्त्व को वैज्ञानिक प्रणाली और अनुसंधान में स्वीकार किया है, जो मेरी दृष्टि से असंगत है।

वैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक अनुसंधान में साम्य के महत्त्व पर प्रकाश डालने के पूर्व कुछ बातों की चर्चा करना आवश्यक है। 'साम्य' (रीजेम्ब्लेंस) शब्द अनेकार्थक है।[2] इसके लिए कुछ तर्कशास्त्रियों ने 'एनालोजी' शब्द का प्रयोग भी किया है (हम यहाँ इसका प्रयोग रीजेंब्लेंस के अलावे 'सिमिलॅरिटी' के अर्थ में करेंगे।) परन्तु इसकी अनेकार्थता का कारण शब्द का स्वरूप नहीं, बल्कि विचारकों द्वारा किया गया अर्थ-निरूपण और विश्लेषण है। शब्द 'सांम्य' का शाब्दिक अर्थ है 'देखने में समान' (सिमिलर टु सी)। परन्तु 'समान' शब्द भी अनेकार्थक है, क्योंकि कभी-कभी इसका प्रयोग साधारण भाषा में 'तुल्यता' के लिए भी किया जाता है। लेकिन यहां हम 'समान' या 'साम्य' का अर्थ समरूप (सिमिलर) लेंगे। 'समरूपता' और 'समानता' में वास्तविक रूप से भी अन्तर है। मान लिया जाय कि एक त्रिभुज की दो भुजायें प्रत्येक पाँच इंच लंबी और तीसरी भुजा तीन इंच लंबी है तथा दूसरे त्रिभुज की दो भुजायें प्रत्येक तीन इंच लंघी और तीसरी भुजा दो इंच लंबी है तो दोनों त्रिभुज समरूप हैं। क्योंकि दोनों ही त्रिभुजों के आधार पर के कोण बराबर हैं और हरेक त्रिभुज समद्विबाहु है। परन्तु दोनों त्रिभुज समान नहीं हैं। क्योंकि 'समान' शब्द अपने में 'तुल्यता' और 'एकरूपता' दोनों को आवेष्टित (इनक्लूड) करता है, जबकि 'समरूप' का अर्थ है– केवल और केवल गुणों में

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

समान होना । दो त्रिभुज को समान होने के लिए गुण और क्षेत्र दोनों में बरा होना पड़ेगा, जबकि समरूप वस्तुओं आपस में कई प्रकार की हो सकती है। तीनों कोण में एकरूपता होने पर भी त्रिभुज समरूप होंगे, दो भुजा और कोण के एकरूप होने पर भी त्रिभुज समरूप होंगे, दो कोण और आधार बरा होने पर भी त्रिभुज समरूप होंगे।[2] अतः 'समरूप' को 'समान' का पर्यायवा नहीं माना जा सकता है। (यहां ग्रुप और क्लास पर विचार करना समीचे नहीं है, यद्यपि इसके अभाव में थोड़ी उलझन स्वाभाविक है। परन्तु यदि अ रसेल के वर्ग और ग्रुप की अवधारणा को सामने रखें तो कोई उलझन नहीं है अतः जो तर्कशास्त्री 'समान' और 'समरूप' को पर्यायवाची मानते हैं, वे भ में हैं।

अब हम इसकी समीक्षा करें कि 'साम्य' होने का क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य उदाहरणों की संख्या (कुछ) में एकरूप होना है या वस्तु में जाने वाले केवल गुणों की समरूपता है? विश्लेषण करने पर हमें यह मा पड़ता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से साम्य प्रधानतः 'गुणों की समरूपता' है, क्यों विज्ञान एक निरीक्षण प्रधान प्रक्रिया को अपनाता है, जहाँ पांचों ज्ञानेन्द्रियां रहती हैं। गणना मात्र स्पर्श की देन है, जबकि साम्य की स्थापना में पाँचों ज्ञा न्द्रियाँ संलग्न रहती हैं, क्योंकि साम्य में मात्र उदाहरणों की संख्या का ही वि नहीं किया जाता है, बल्कि अन्यान्य तथ्यों का भी ख्याल रखा जाता है। चूना, पत्थर और संगमरमर मूल्य (कॉस्ट) की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी में समरूप हैं (रसायनिक दृष्टि से)। अतः 'गणना' से 'साम्य' अधिक महत्व और तार्किक दृष्टि से उपयोगी शब्द है। हम जब कभी भी किसी चीज की ग कर रहे होते हैं तो उसका आधार साम्य ही होता है, क्योंकि 'गिनने' का ही है 'किसी वस्तु-विशेष को अन्य वस्तु-विशेष, जो उससे गुणों में भिन्न हो' अलग करना।[3] अतः गणना वस्तुओं या चीजों की नहीं, बल्कि उनमें नि गुणों के साम्य की जाती है। उदाहरण के लिए, जब हम बगुले को गिन रहे हैं तो वहाँ गणना वस्तु 'बगुला' की नहीं, वरन् उसमें निहित कुछ निश्चित के साम्य की कर रहे होते हैं, क्योंकि वस्तु के रूप में बगुला मात्र पक्षी है 'बगुला' को बगुला बनाने वाले जो संघटक तत्त्व हैं – वे हैं उसके गुण। हमें यहाँ यह परखना चाहिए कि गणना का आधार कौन सा गुण है? 'बगुला' को गिनने का आधार मात्र उसका 'उजलापन' और उसका 'वि आकार प्रकार' ही है? कदापि नहीं। क्योंकि आकार-प्रकार में छोटा होने भी और रंग में थोड़ी हेर फेर होने पर भी उसे हम बगुला नहीं कहेंगे।

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री विट्गेन्स्टीन का भी मत है, हम खेल शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि खेल अनेक प्रकार के होते हैं और वे परस्पर भिन्न भी होते हैं। जैसे फुटबाल, क्रिकेट, शतरंज, ताश आदि। ऐसे प्रयोग हम इसलिए नहीं करते है कि उनके बीच कुछ 'सामान्य' है, बल्कि इसलिए करते हैं, क्योंकि उनके बीच कुछ गुणों की समरूपता और संबंधों की विशेषता है।[4] अतः गणना का आधार मात्र प्रधान या गौण गुण नहीं हो सकता, बल्कि कुछ और है। वह 'और कुछ' क्या है, यही अबतक स्पष्ट नहीं है। वैसे काम चलाने के लिए हम उसे बगुले का सार एवं सामान्य गुण भी कह सकते हैं। क्योंकि एक बगुले को दूसरे बगुले के सदृश कहने के पूर्व हमारे लिए बगुले को पहचानना आवश्यक है। जबतक हम बगुले को पहचान नहीं लेते हैं तबतक उसकी गणना कैसे संभव हो सकती है। पुनः, गणना के लिए सदृश होना अनिवार्य है और सदृश या समरूप होने के लिए बगुले से बगुले के बीच विशेष संबंध का होना अनिवार्य है, जिसकी अपेक्षा अबतक 'सरल गणना' के समर्थक करते रहे हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सरल गणना' का आधार वस्तुओं की संख्या नहीं, बल्कि उनमें निहित 'गुण' है और गुण को जानने के लिए 'गणना' (सिम्पल एनुमरेशन) अनिवार्य घटक नहीं है। क्योंकि गुण का ज्ञान तो साम्य या समरूपता की देन है। जहाँ तक बगुले के इस खास गुण को जानने का प्रश्न है तो इसके लिए हमें 'वर्ग' और 'ग्रुप' के सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ेगा, जो यहाँ अपेक्षित नहीं है।[5] यहाँ कहा जा सकता है कि 'समरूपता' की स्थापना में हम इस बात का सहारा लेते हैं कि कितने गुणों में एक वस्तु दूसरे के समरूप है। परन्तु ऐसा मानना एक गलत धारणा है, क्योंकि समरूपता का प्रतिपादन प्रथमतः किसी एक मुख्य गुण को देखकर कर किया जाता है और बाद में अन्य गुणों की खोज की जाती है। यदि ऊपर वर्णित 'वर्ग' और 'ग्रुप' के ऊपर रसेल के विचारों को दृष्टि में रखा जाय तो आप सहज ही देखेंगे कि कैसे एक वस्तु को वर्ग और उसके एलीमेंट के आधार पर सहज ही जाना जा सकता है। इसी के आधार पर सेट थ्योरी की रचना संभव हो पायी है। इस प्रकार 'ग्रुप' का अध्ययन गणना से स्वतंत्र है और एक प्रकार से गणना को भी गुण के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जा सकता है। जो तर्कशास्त्री यह मानते हैं कि वैज्ञानिक प्रणाली की स्थापना में 'सरल गणना' और 'साम्यानुमान' दोनों समानरूप से आवश्यक हैं, वे भ्रम में हैं।[6] क्योंकि संख्या स्वतः भी एक गुण ही है। आप गणित की किसी भी संख्या को लें। आप पायेंगे कि आदि संरचना के आधार पर वे एक दूसरे से मात्र आकार में ही भिन्न हैं। क्योंकि संख्या वस्तुतः 'वर्ग-सदस्य-संबंध' समस्या से ग्रसित है। इसके अलावे रेखागणितीय दृष्टि से वे मात्र बिन्दु की विभिन्न सजावटें हैं। अतः

विभिन्न संख्याओं का द्रव्य वही बिन्दु ही है, जिसे हमने एक विशेष क्रम दे कि है। इस प्रकार गणित की इस आदि संरचना के आधार पर भी हम पाते हैं कि गुणों की समरूपता में ही निहित है। (यहाँ संख्या का अंकगणितीय मूल्य नहीं बल्कि रसेल की तरह तार्किक दृष्टि से विचार करें।)

अब हम 'साम्य' और 'अनुमान' (रीजनिंग) के संबंध की समीक्षा क यहाँ हमें प्रथमतः इन दोनों के अर्थों की भिन्नता पर विचार करना चाहिए, कि कुछ तर्कशास्त्री एक साथ मिला देने की भूल कर बैठे हैं। (देखें स्टेबिंग) हमें प्रथमतः 'साम्य' के आधार पर किए गए अनुमान और 'अनुमान (कन्क्लू में साम्य के योगदान' में अन्तर करना चाहिए। 'अनुमान में सादृश्यता योगदान' का तात्पर्य है किसी निष्कर्ष में साम्य का कितना अंशदाय है 'साम्य के आधार पर किये अनुमान' का तात्पर्य है दो वस्तुओं में साम्य देखे आधार पर कितनी दूर तक उनमें से किसी एक में किसी नवीन गुण को देख दूसरी में भी उसके होने का निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है या नहीं उदाहरण के लिए, जब हम किसी भी वैज्ञानिक समस्या का सामान्यीकरण रहे होते हैं तो उसके लिए हमें 'कुछ' गुणों का निरीक्षण करना पड़ता है। 'कुछ' संख्यात्मक दृष्टि से नगण्य है ऐसा स्टेबिंग भी मानती हैं। ऐसा मानने कारण यह भी है कि वस्तु के गुणों की संख्या अनेक है; जबकि दृष्टांत में कुछ आ पाते हैं। फिर वह कौन सा तथ्य है जो हमें अनुमान प्राप्त करने में करता है? क्या यह मात्र प्रकृतिसमरूपता नियम और कार्य-कारण नियम है यदि हां कहा जाय तो सत्यता से मुँह मोड़ना होगा। हम कुछ देर के बाद तत् ही देखेंगे कि किस तरह प्रकृति समरूपता नियम और कार्य-कारण नियम वस्तुतः साम्य की ही देन है। फिलहाल हम 'साम्य के आधार पर अनुमान' ही विचार करें। साम्यानुमान में गुणों की संख्या और उसमें महत्त्वपूर्ण गुणों साम्य दोनों को आधार बनाने की बात की जाती है[७] परन्तु यह हम तत्क्ष अनुभव करेंगे कि इस सन्दर्भ में संख्या एक महत्त्वहीन तथ्य है और अनु मुख्यतया महत्त्वपूर्ण गुणों की समरूपता पर आकर टिक जाता है। इस साम्यानुमान अनुमान का कोई प्रकार न होकर मात्र 'महत्त्वपूर्ण गुणों की स पता' पर आधारित अंदाज कहा जा सकता है और यह कहना बराबर है कहने के कि 'अनुमान में साम्य का योगदान है। पृथ्वी और मंगल के बा मंगल पर जीव पाये जाने का जो अनुमान (रीजनींग) किया जाता है, क्या वस्तुतः अनुमान है? नहीं। यह तो मात्र दोनों का एक और गुण में समरू की पुष्टि करने का प्रयास है, जो हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता

परन्तु यहाँ यदि 'गुणों के साम्य या समरूपता' के अलावे कुछ और चीजों को आधार बनाया जाता है जैसे, परिस्थिति की समरूपता, तथ्यों का संग्रह और उन तथ्यों में आपसी संबंध एवं उस संबंध के परिणाम स्वरूप होने वाले परिवर्तन आदि तो वह अनुमान होता और उसकी यथार्थता की संभावना भी होती। वैसी अवस्था में यह 'अनुमान (कनक्लूजन) में साम्य का योगदान' कहलाता, न कि साम्यानुमान। यहाँ तथ्यों के आपसी संबंध पर विचार संभव संभव नहीं है। (इसके लिए एच. एन. ल्वी. की पुस्तक सिम्बोलिक लॉजिक, पृ. ३१–४४ देखें।) यद्यपि इस प्रकार के अनुमान यदाकदा यथार्थ भी हो जाते हैं, परन्तु इस 'यदा कदा' के आधार पर इसे स्वतंत्र प्रकार नहीं माना जा सकता है। (यथार्थ का शाब्दिक अर्थ लें, ज्ञान-मीमांसीय नहीं।) इन दोनों भिन्न तथ्यों में उलझन का कारण तर्कशास्त्रियों द्वारा तथ्यों (अनुमान में साम्य का योगदान और साम्य के आधार पर अनुमान) को एक समझ लेना है–जो कि असंगत है। पुनः प्राक्कल्पना वैज्ञानिक अनुसंधान की एक अनिवार्य शर्त है। यदि साम्यानुमान को स्वीकार कर लिया जाय तो वैसी अवस्था में प्राक्कल्पना एक निरर्थक प्रयास होगी और हम दो वस्तुओं के बीच संबंध (जो कि वैज्ञानिक अनुसधान की अनिवार्य शर्त है) की खोज न करके-सीधे प्राप्त अनुमान की यथार्थता सिद्ध करने में लग जायेंगे–जो बेवकूफी से अधिक कुछ भी नहीं होगा। दोनों के बीच एक अन्तर यह भी है कि जहाँ 'साम्य के आधार पर अनुमान' में 'निष्कर्ष' को पूर्णतः साम्य पर ही आधारित कर देते हैं, वहीं 'साम्य का निष्कर्ष' में योगदान' में अन्य तथ्यों को भी महत्त्व देते हैं। इस प्रकार 'सरल गणना' और 'साम्यानुमान' की धारणा वैज्ञानिक प्रणाली और अनुसंधान में कोई महत्त्व नहीं रखते है।

अब हमें वैज्ञानिक प्रणाली और अनुसंधान में प्रकृति समरूपता नियम एवं कार्य-कारण संबन्ध पर विचार करना चाहिए। मिल जैसे तर्कशास्त्री ने भी यह भ्रम पाल रखा है कि कार्य-कारण के आधार पर निश्चित निष्कर्ष की ओर बढ़ा जा सकता है। परन्तु हम तत्क्षण ही देखेंगे कि यह एक मिथ्या धारणा है। प्रथमतः हम यदि विज्ञान से उदाहरण लें तो देखेंगे कि वहाँ न तो प्रकृति-समरूपता नियम और न ही कारण-कार्य नियम की कोई उपयोगिता है। उदाहरण के लिए 'हाइड्रोजन सोडियम के समरूप है' और 'ऑरगन' 'नियॉन' के समरूप है कहने में इन दोनों की कोई उपयोगिता नहीं है। 'ऑरगन' और 'नियॉन' को रसायन शास्त्र के एक ही क्रम में रखा गया है, क्यों कि दोनों निष्क्रिय हैं। उसी प्रकार 'हाईड्रोजन' और 'सोडियम' को एक ही क्रम में रखा गया है, क्योंकि दोनों

समान रूप से क्रियाशील हैं और प्रतिक्रिया करने पर दोनों ही अपना एक एलेक् शीघ्रता से खो देते हैं। यही वैज्ञानिक पद्धति का आधार-विन्दु है। जहाँ घटना के संदर्भ में इसपर विचार करने का प्रश्न है, तो घटना के भी क्रम आधार साम्य ही है और कार्य-कारण का संकेत भी क्रम से ही मिलता है। (जे. एस्० मिल का पूर्वापर तथा अन्यान्य लक्षण) क्योंकि मिल द्वारा प्रतिपादि पांचों विधियों के आधार पर भी इसकी स्थापना संदिग्ध है[८]। द्वितीयतः आधुनिक समय में कारणता संबंध को अब भौतिक विज्ञान भी नहीं मानता है वहाँ अब फलनात्मक निर्भरता की धारणा (नोशन ऑफ फन्क्शनल डिपेण्डन्स की बात की जाने लगी है और तर्कशास्त्र में भी अब मात्र इसे कारणिक समस (सीक्वेंस) के रूप में गिना जाने लगा है।[९] प्रकृति-समरूपता नियम को भी की समरूपता के अधीन लाया जा सकता है, क्योंकि घटनाएं दिक् में घटती और परिवर्तन काल में देखा जाता है। काल एक प्रकार का क्रम ही है।[१०] घटना जटिल होती हैं और जिस परिस्थिति में वह घटती हैं, उस परिस्थिति को हम दिक् और काल में कुछ निश्चित गुणों के आधार पर ही जान रहे होते तथा पुनः जब वही परिस्थिति उपस्थित होती है तो यहाँ वहाँ परिस्थिति का आधार भी हमारे पूर्व अनुभूत कुछ निश्चित गुण ही होते हैं जिनमें हम का परिलक्षित करते हैं, न कि गणना का सहारा लेते हैं। यह पूर्व अनुभूत और वर्तमान गुण के बीच साम्य ही है जो हमें आगे बढ़ने में मदद करता है अतः हम इस बिन्दु पर आते हैं कि वैज्ञानिक संक्रमण किसी भी प्रकार का हो उसमें प्रधान योगदान साम्य का रहता है और कार्य-कारण की स्था (यद्यपि यह मिथ्या धारणा है जैसा कि ऊपर देख चुके हैं) में भी उसी योगदान पाया जाता है। उदाहरण के लिए, सोडियम पानी के साथ प्रति करता है और परिणाम स्वरूप एक नये रासायनिक यौगिक (सोडियम हाइड्रॉ इड) की उत्पत्ति होती है। परन्तु यहां परिस्थिति (प्रकृतिसमरूपता) नगण्य यदि पानी ६० डि. से. पर है तब भी प्रतिक्रिया हो जाएगी और यदि पानी ५० डि पर है तब भी प्रतिक्रिया हो जाएगी। अतः इस अवस्था में प्रकृति समरूपता पड़ जाती है। यहां ताप, दबाव और मौसम का प्रभाव कुछ भी अन्तर नहीं पाता है। वैज्ञानिक ऐसी ही प्रतिक्रिया से प्राप्त परिणाम पर विचार करता और अध्ययन करता है कि प्रतिक्रिया क्यों हुई। इसी प्रकार मोम का द्रव निकालने में समान तापक्रम और समान दबाव की बात की जाती है। यहाँ 'समान ता क्रम और समान दबाव' का अर्थ ही है कि 'वर्तमान ताप और वर्तमान दबाव' ताप और पूर्वदबाव' के समरूप है। यद्यपि यहाँ तापक्रम को मापने में गणना का योग हुआ है, परन्तु यह गणना मात्र समरूपता को दृढ़ करने के लिए किया गया

स्वतंत्र घटक के रूप में नहीं। सम्पूर्ण परिस्थिति को समरूप बनाने में मात्र तापक्रम और दबाव में संख्या की ही इकाई नहीं है, क्योंकि थोडा-बहुत हेर फेर होने पर भी घटनाएँ घटती हैं। अधिकांशतः हम अनुसंधान के प्रारंभ में परिस्थिति को देखकर या स्पर्श करके या कुछ ध्वनि को सुनकर वह ही समरूप होने का अन्दाज करते हैं। सोडियम जब पानी से प्रतिक्रिया कर रहा होता है तो वहां उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि और पानी में उछल-कूद को देखकर ही हम 'प्रतिक्रिया हो रही' की बात करते हैं। यहां प्रतिक्रिया करने का ज्ञान हमारी पूर्व अनुभूति में ही होता है, जिसके साथ इस प्रतिक्रिया की समरूपता की स्थापना हम करते हैं। अतः ये परिस्थितियाँ दो घटनाओं या वस्तुओं के बीच गुण और संबंध ही हैं। इस प्रकार यह परिस्थिति समरूप है कहने का तात्पर्य यह है कि हम दो स्थितियों के गुणों को सदृश कहना चाहते हैं। इस प्रकार हम इस बिन्दु पर पहुंचते हैं कि वैज्ञानिक प्रणाली और अनुसंधान में प्रकृति समरूपता तथा कार्य-कारण नियम एक महत्त्वहीन तथ्य हैं।

अब पूछा जा सकता है कि समरूपता की स्थापना में गुणों को गिना क्यों जाता है? जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि समरूपता को दृढ करने के लिए ही इस प्रक्रिया का सहारा लेते हैं। पुनः 'उदाहरणों की गणना' मात्र अनुसंधान के परिणाम को निश्चित करने के लिए की जाती है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि उदाहरणों की गणना का अर्थ है प्रयोग या निरीक्षण की पुनरावृत्ति। हम अपने प्राप्त निष्कर्ष को असंदिग्ध बनाने के लिए घटनाओं की पुनरावृत्ति करते हैं और इसका कारण मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि हमें अपने ऊपर उतना आत्मविश्वास नहीं रहता है कि हम एक ही बार में निश्चित हो जायें। वस्तुतः जबकि सम्भावना इस बात की है कि एक ही घटना को देख कर निष्कर्ष की ओर बढ़ा जा सकता है। जैसा कि इगोर नेलेटोव का भी कहना है, **विज्ञान का प्रारम्भ घटनाओं के बीच समानता (सिमिलॅरिटीज) और भिन्नता के निरीक्षण से होता है। कहने का तत्पर्य यह है कि निष्कर्ष केवल एक ही तथ्य के निरीक्षण से संभव है।** (यहाँ तथ्य का आशय घटना है।) ”

इस सन्दर्भ में हमें एक ज्ञानमीमांसीय प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि साम्य की स्थापना में मुख्यतया अनुभव का ही योगदान है, अथवा बुद्धि का भी? यदि गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो हमें विटगेंस्टीन के विपरीत जाना पड़ेगा। इनके अनुसार समरूपता (सिमिलॅरिटी) का ज्ञान शुद्धतः अनुभव की देन है—जबकि विचारने से यह स्पष्ट पता चलता है कि 'साम्य' की स्थापना शुद्ध अनुभव की देन नहीं है, क्योंकि इसकी स्थापना के क्रम में 'स्मरण' 'निराकरण'

'मिलान' आदि जैसी क्रियाएँ होती हैं। यह 'परिस्थिति वैसी ही है', कहने क्या तात्पर्य है? क्या यहाँ हम 'स्मृति' और 'निराकरण' का सहारा नहीं रहे हैं? 'निराकरण' का अर्थ है 'अनुभव के आधार पर किसी वस्तु-वि या घटना-विशेष को अन्यों से भिन्न करना' या वस्तुओं के 'कुछ अंशों को छांट मनोनुकूल बनाना।' क्या यह क्रिया मात्र अनुभव से ही संभव है? नहीं। एक मा अनुभव से यह संभव नहीं है। अतः इस अन्वेषण करने की आवश्यकता है अधिक से अधिक स्वायतत्ता वाले 'साम्य' को ढूँढा जाय जिसमें बुद्धि सहयोग हो। इसी अर्थ में (बुद्धि को अपनाने के कारण) सभी प्रकार के निष् को निगमनात्मक कहा जाता है[12]।

इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि निष्कर्ष भले ही वैज्ञानिक ही क्यों न वह कुछ न कुछ अंशों में निगमन को अपनाता ही है। यदि यह सत्य नहीं होता गणित को विज्ञान माना ही नहीं जाता। जब हम खास-खास रासायनिक तत्त्वों को साँचे (क्रम) में रख रहे होते हैं तो शब्द 'साँचे' का तात्पर्य है कि उसमें विवे का प्रयोग हो रहा है। अतः यह उचित ही जान पड़ता है कि वैज्ञानिक प्रणा आगमन और निगमन को अपनाने के कारण ही निश्चित होती है, न कि मा अनुभव से। 'लाल धब्बे' का ज्ञान जितना आँख पर निर्भर करता है, उतना स्वस्थ विवेक पर भी। क्योंकि यदि विवेक न हो तो इसे अन्य रंग से भिन्न न किया जा सकता है। रंग की संवेदना हम में होती है और भिन्नता बाहर र हैं। अतः दोनों का सहयोग अपेक्षित है। मनोचिकित्सक विक्षिप्त मनुष्य पहचान रंग भेद के आधार पर ही करते हैं। ऐसा मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभव आधार पर कह रहा हूँ।[13] इस प्रकार स्वरूप के आधार पर वैज्ञानिक प्रणा और 'साम्य' में एकरूपता है।

अब हमें इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक प्रणाली और अनुसंधान पर विचार कर चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधान का आधार प्रयोग, निरीक्षण और निष्कर्ष (प्र परिणाम) है, जो अनिवार्यतः प्राक्कल्पना द्वारा सम्पोषित परिणाम (कौंि क्लूवेस) पर पहुँचा रहता है। यहाँ मैं इस तथ्य पर विचार नहीं करूंगा कि और किस प्रकार प्राक्कल्पना ही वैज्ञानिक अनुसंधान का आरंभ है, क्योंकि एक प्रकार से विषयांतर होगा। यदि इन प्रक्रियाओं के उपरान्त हम प्राक्कल्प द्वारा सम्पोषित परिणाम पर पहुँच जाते हैं तो वैसी स्थिति में वह 'परिणा वैज्ञानिक ज्ञान (सिद्धान्त) की कोटी में आ जाता है, अन्यथा उसे निरस्त सम जाता है। यद्यपि वैज्ञानिक अनुसंधान का इतिहास हमें बतलाता है कि भले प्राक्कल्पना कुछ समय के लिए सत्यापित नहीं हुई हो, परन्तु लम्बे अन्तराल

वह किसी न किसी रूप में अवश्य ही सत्यापित हुई है और यदि नहीं भी हुई तो प्राक्कल्पना के रूप में उसका अस्तित्व सुरक्षित रहता है। क्योंकि उसकी स्थापना के पीछे भी एक ठोस आधार रहता है। इस स्थिति का कारण साम्य के आधार पर की गयी प्राक्कल्पना ही है। जब कभी भी प्राक्कल्पना का निर्माण किया जाता है तो वहाँ दो घटनाओं अथवा दो वस्तुओं के बीच कुछ साम्य को ही आधार बनाया जाता है।[१४]

इस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान या अध्ययन का आधार प्रयोग, निरीक्षण और निष्कर्ष है तथा संवेदनशील तथ्य इसके प्रदत्त हैं। संवेदनशील तथ्य वे हैं जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा संभव हो।[१५] विज्ञान ऐसे तथ्यों का अध्ययन प्रयोग और निरीक्षण से प्रारंभ करता है। इसके आधार पर प्राप्त परिणाम ही विषय-वस्तु हैं (प्राक्कल्पना का निष्कर्ष या परिणाम) न कि संवेदनशील तथ्य। एल्. एस्. स्टेबिंग की यह, मान्यता कि संवेदनशील तथ्य विज्ञान के विषय-वस्तु हैं, असंगत है।[१६] क्योंकि प्रदत्त और संवेदनशील तथ्य दोनों एक नहीं है। मात्र संवेदनशील तथ्यों का क्रम विज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि संवेदनशील तथ्यों के परस्पर संबध से जो घटनाएँ घटती हैं या उसके परस्पर सम्बन्ध से जो परिवर्तन उपस्थित होता है, उसके आधार पर प्राप्त परिणाम से ही विज्ञान पुष्ट होता है और ऐसे परिणामों (निष्कर्षों) को क्रम देने और पुनः उस क्रम को तंत्रवत् करने से विज्ञान का निर्माण होता है। यही कारण है कि विज्ञान का प्रत्येक निष्कर्ष (परिणाम, एक दूसरे से अविछिन्न रूप से सम्बद्ध रहता है। यहाँ निरीक्षण और प्रयोग का अर्थ प्रचलित रूप में न लेकर हम प्रयोगशाला में किया जाने वाला प्रयोग और उसके प्रत्यक्षीकरण को निरीक्षण के रूप में लेंगे तथा इन दोनों के आधार पर जो परिणाम प्राप्त किया जाता है, उसे निष्कर्ष के रूप में लेंगे। अतः ये विभिन्न सोपान प्रक्रियाएँ हैं। प्रणाली नहीं।

वैज्ञानिक प्रणाली मुख्यत. क्रम और व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। यदि यह प्रतिज्ञप्ति सार्थक नहीं होती तो गणित को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जाता। गणित को इसलिए विज्ञान माना जाता है कि वहाँ क्रम और तंत्र का प्रयोग इतने सटीक ढग से होता है कि इसका प्रत्येक निष्कर्ष अविच्छिन्न रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित होता है; यद्यपि उनके सिद्धान्त की अनुरूपता अस्तित्ववान् वस्तुओं के साथ अनिवार्य नहीं है। सम्पूर्ण गणित को तीन पदों में संग्रहित किया जा सकता है। 'शून्य', 'संख्या' और 'अनुक्रम'। पीआनो[१७] ने यह दिखलाया है कि यद्यपि ये तीनों पद देखने पर अलग-अलग लगते हैं, परन्तु ये तीनों आपस में इस प्रकार गुथे हुए हैं कि एक से दूसरे को अलग करना असम्भव है। यदि इन तीनों

पर गहराई से विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि शुद्ध आकारिक (फॉरम रूप से गणित को तार्किक प्रतिज्ञप्तियों (प्रिन्सिपल्स) से निगमित किया सकता है।[18] बीजगणित का सूत्र $(\text{अ}+\text{व})^2=\text{अ}^2+\text{व}^2+२\text{अव}$ वस्तु रेखागणितीय प्रमेय की देन है, जहाँ यह माना जाता है कि यदि किसी सरल रे को किसी बिन्दु पर अन्तर्विभक्त किया जाय तो उस रेखा का वर्ग उन दो भागों पर के वर्गों के योग से इतना अधिक होता है, जितना कि उन दोनों के बने आयत।[19] इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि वैज्ञानि प्रणाली के लिए सबसे अनिवार्य घटक 'क्रम' एवं 'तंत्र' हैं।

अब हम यह देखें कि किस प्रकार विज्ञान में नवीन निष्कर्षों को प्रा करने में साम्य का सहारा लिया जाता है। रेखागणित का एक आरंभिक सिद्धा है कि 'कोई भी वृत एक सरल रेखा को दो बिन्दुओं से अधिक स्थानों पर स्प नहीं कर सकता है।' इस सिद्धान्त के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि कोई भी परवलय एक सरल रेखा को दो बिन्दुओं से अधिक स्थान पर स्पर्श न कर सकता है और पुनः इसी प्रकार दीर्घवृत या अतिपरवलय भी एक सरल रे को दो बिन्दुओं से अधिक स्थान पर स्पर्श नहीं कर सकता है। इसपर य गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि परवलय, अतिपरवल दीर्घवृत आदि का साम्य वृत के साथ होने के कारण ही इस प्रकार क संगततापूर्ण निष्कर्ष सम्भव हो पाता है। और इसलए किसी भी प्रकार के वैज्ञा निक निष्कर्ष में इसके प्रधान योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति के जितने सोपान हैं सबमें साम्य का योगदान है और प्रकृति-समरूपता नियम, कार्य-का नियम एवं सरल गणना आदि महत्त्वहीन हैं।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि साम्य के सहारे किये गये अध्य से प्राप्त निष्कर्षों (परिणामों–रीजल्ट) को '**क्रम**' और '**तंत्रवत्**' करने में कि प्रकार साम्य सहयोग करता है। इस समस्या पर हमें दूसरे रूप में विचार कर चाहिए। इसके लिए सबसे उत्तम होगा कि हम इस बात पर विचार करें कि विज्ञान में 'निरीक्षण' और 'प्रयोग' का क्या तात्पर्य है। सतही स्तर पर ह इस बात से संतुष्ट हो सकते हैं कि निरीक्षण संवेदनशील तथ्यों का होता है औ प्रयोग में जो घटक (उपकरण को छोड़कर) सम्बद्ध होते हैं, वही संवेदनशी तथ्य हैं। परन्तु तार्किक दृष्टि से 'संवेदनशील तथ्यों' को ठीक-ठीक देखना कठि है। क्योंकि तथ्य के ऊपर अब तक जो भी विचार हुआ है वह स्पष्ट नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि निरीक्षण संवेदनशील तथ्यों या प्रदत्तों के रूप में गृ

का करते हैं । इन गुणों के निरीक्षण के दो पहलू हैं— दोनों वस्तुओं या घटनाओं से प्राप्त तथ्य के स्वतंत्र गुण क्या हैं और सम्बन्धित होने पर यदि कोई तीसरा नया तथ्य (प्रदत्त) निर्मित होता है तो उसका गुण क्या है ? जैसे 'गर्म लोहा' एक तथ्य है और 'पानी से बना वाष्प' दूसरा तथ्य है । दोनों का स्वतंत्र गुण अलग-अलग है । फिर दोनों में संबंध होने पर लोह् ऑक्साइड तथा हाईड्रोजन बनता है, जिसका गुण उन दोनों से भिन्न है । अतः वैज्ञानिक अध्ययन गुणों का होता है और हमारे द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का विषय भी ये गुण ही होते हैं, क्योंकि वस्तु के रूप में इसे सम्पूर्णतः जानना तार्किक असम्भाविता है, ऐसा जैन दर्शन में भी माना गया है । ऐसे ही प्राप्त निष्कर्षों को **क्रम देना और क्रम को पुनः तंत्रवत् करना वैज्ञानिक प्रणाली है ।**

अब हमें यह देखना चाहिए कि किस प्रकार साम्य वैज्ञानिक प्रणाली या प्राप्त निष्कर्षों को **'क्रम' देने में और तंत्रवत् करने में** सहयोग करता है । चूंकि वैज्ञानिक प्रणाली 'क्रम' एवं 'तंत्र' को हीकहा जाता है, [२१] इसलिए हमें यह विचार करना चाहिए कि 'क्रम' या 'तंत्र' का आधार गुणों का साम्य है या नहीं । गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह सहज ही बोध होता है कि 'क्रम' का आधार नगण्य रूप से संख्या और मुख्यरूप से गुणों का साम्य है । रसायन शास्त्र में तत्त्वों को उनकी 'अधिक क्रियाशीलता' और 'कम क्रियाशीलता' जैसे गुणों के साम्य के आधार पर ही क्रम दिया जाता है, न कि मात्र उनके संरचनात्मक संघटकों की संख्या के आधार पर । ऐसा हम हायड्रोजन और सोडियम के स्थान को पीरिऑडिक टेबुल में देखकर सहज ही जान सकते हैं । हायड्रोजन और सोडियम संरचनात्मक संघटक की संख्या की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी दोनों को एक ही क्रम में रखा गया है । [२२] इसी तरह 'ऑरगन' और 'निऑन' आवर्त में भिन्न हैं, परन्तु क्रम में दोनों एक साथ हैं, क्योंकि दोनों ही निष्क्रिय हैं । इस प्रकार 'क्रम' का आधार 'क्रियाशीलता' और 'निष्क्रियता' है जो कि गुण है और इसी के साम्य पर वह आधारित है । अतः हमारा निष्कर्ष है कि वैज्ञानिक प्रणाली में **सबसे अधिक योगदान साम्य का है, साम्यानुमान या सरलगणना का नहीं ।**

अब हम यहाँ एक प्रश्न पर विचार करेंगे जो संभवतः सन्दर्भ से बाहर है । प्रश्न यह है कि जब वैज्ञानिक निष्कर्ष में साम्य का योगदान रहता है तो फिर अधिकांश प्राक्कल्पनाएं संभाव्य क्यों होती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के हेतु हमें लॉक के गुण-विभाजन पर ध्यान देना चाहिए । लॉक ने गुण को तीन भागों में बांटा - जहाँ प्रधान और गौण गुण का ज्ञान तो निश्चित होता है, परन्तु तृतीयक

गुण [१३] के बारे में हमें कोई निश्चित मत स्थापित करने में कठिनाई होती है। प्राय: अधिकांश घटनाओं में ऐसे ही गुणों के साम्य के कारण हमारा निष्कर्ष निश्चित नहीं हो पाता है। चूंकि वैज्ञानिक अनुसंधान ऐसे ही उलझे गुणों के स्वरूप से प्रारम्भ करता है, इसलिए इसे उपेक्षित भी नहीं किया जा सकता है। पुन: यह यदि निश्चित हो जाता तो प्राक्कल्पना की आवश्यकता ही क्या रह जाती ?

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि चूंकि प्राक्कल्पना से लेकर '**क्रम**' और '**तंत्र**' तक में साम्य का योगदान महत्त्वपूर्ण है, अत: **वैज्ञानिक प्रणाली का आधार साम्य ही है, सरलगणना या साम्यानुमान नहीं।**

स्नानकोत्तर दर्शन विभाग, — **महेश्वर प्रसाद चौरासिया**
राजेन्द्र कॉलेज, छपरा– ९४१३९१
(विहार)

टिप्पणियाँ

१. स्टेबिंग, एल्. एस्.; ए मॉडर्न इण्ट्रोडक्शन टु लॉजिक, पृ. १९९–२०३
२. कोहेन एण्ड नागेल; लॉजिक एण्ड साईण्टिफिक मेथड, पृ. २८७
३. रसेल बर्ट्रण्ड; ॲन इनक्वायरी इण्टू मीनींग ॲण्ड ट्रूथ, पृ. २२५-२७ एवं दी ॲनालिसिस ऑफ माइण्ड, पृ. १९३
४. विट्गेन्स्टीन, लुडविग, फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन, से. ६६
५. विस्तृत अध्ययन के लिए रसेल का प्रिंसिपिया मॅथेमॅटिका देखें जहाँ उन्होंने रिक्त वर्ग (नल क्लास) की धारणा प्रतिपादित की है जिसका एलेमेंट कोई एक सेट होता है।
६. स्टेबिंग, एल्. एस्.; वही पुस्तक, पृ, २५०
७. वही पुस्तक. पृ. २४९
८. डॉ. प्रसाद, संकठा सिंह, आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका पृ. २४५
९. रसेल, बी; स्टेबिंग द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक, पृ. ३१२
१०. विस्तृत अध्ययन के लिए बी. रसेल का अवर नॉलेज ऑफ द एक्स्टर्नल वर्ल्ड

११. नेलेटोव, आई.; आल्टर्नेटिव टु पॉसिटिविज्म, इण्ट्रोडक्शन, पृ. ९

१२. जॉन्सन, डब्लू. ई., लॉजिक, अध्याय ८ और ९

१३. डॉ. कुमार, शैलेन्द्र; विख्यात मनोचिकित्सक, मनोचिकित्सालय, काँके, राँची,

१४. कोहेन एण्ड नागेल; वही पुस्तक, पृ ३२२

१५. रसेल बी.; दी प्राब्लेम्स ऑफ फिलॉसॉफी, पृ, १२

१६. स्टेबिंग; वही पुस्तक, पृ. २०३

१७. पिआनो, बी; रसेल द्वारा इण्ट्रोडक्शन टू मॅथेमॅटिकल फिलॉसॉफी में उद्धृत,

१८. रसेल बी.; प्रिंसिपल्स ऑफ मॅथेमॅटिक्स, पृ. ३

१. हॉल एण्ड स्टीवेन्सन; रेखागणित, प्रमेय ५

२०. वूजले, ए. डी.; थ्योरी ऑफ नॉलेज,: ॲन इण्ट्रोडक्शन, पृ. १४१

२१. स्टेबिंग, वही पुस्तक, पृ. २११

२२. हाईड्रोजन की परमाणु संख्या १ है जबकि सोडियम की ११, ऑरगन की १९ और निऑन की १० हैं।

२३. लॉक, जॉन; ॲन् एस्से कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टॅडिंग (संपा. ए. जे एयर), पृ. २४

बौद्ध-धर्म में अनीश्वरवाद

भारतीय चिन्तन-परम्परा में बौद्ध-धर्म को एक अनीश्वरवादी धर्म स्वीकार जाता है। इसका मूल कारण भारतीय परम्परा, अनीश्वरवाद के विभिन्न अर्थ, महात्मा बुद्ध के उपदेश, उनके अनुयायी तथा स्वयं धर्म का अर्थ है। अतः यहाँ पर मेरा तात्पर्य दो वस्तुओं की ओर आकर्षित है : (१) बौद्ध-धर्म किन-किन अर्थों में अनीश्वरवादी है? (२) क्या बौद्ध-धर्म पर आरोपित अनीश्वरवाद की अवधारणा बौद्ध धार्मिक परम्परा के सन्दर्भ में यथोचित है?

भारतीय चिन्तन-परम्परा में अनीश्वरवादी उस चिन्तन-परम्परा को कहा जाता है जो (अ) ईश्वर की सत्ता को अस्वीकृत करती है, या (ब) जो वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकृत करती है, या (क) जो परलोक की बात न कर इहलोक की बात करती है। अनीश्वरवाद के इन तीन अर्थों में बौद्ध-धर्म को शुद्ध अनीश्वरवादी कहा जाता है, क्योंकि 'बौद्ध-धर्म सर्वप्रथम की सत्ता को अस्वीकार करता है। महात्मा बुद्ध के अनुसार चूंकि मानव-धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इसलिये वेदों की प्रामाणिकता के स्थान पर मानव की प्रामाणिकता ही श्रेष्ठ है, तथा परलोक की सत्यता के स्थान पर इहलोक की सत्यता ही वरेण्य है।

सामान्यतया विश्व के स्रष्टा के रूप में एक सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सार्वत्रिक दयालु, नित्य, पूर्ण, पालनकर्ता, विनाशक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। परन्तु महात्मा बुद्ध के अनुसार विश्व एवं विश्व की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा होती है। अतः उनकी उत्पत्ति की व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं दिखायी देती और इस ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ आदि स्वीकार करना भी निरर्थक है। इस क्रम में एक साधारण तर्क ही पर्याप्त होगा कि ईश्वर विश्व का स्रष्टा नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर नित्य है जबकि विश्व अनित्य एवं परिवर्तनशील विश्व का

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

स्रष्टा स्वीकार किया जाता है तो वह ईश्वर भी अनित्य एवं परिवर्तनशील हो जाता है, जिसे कोई भी ईश्वरवादी स्वीकार नहीं कर सकता, या फिर नित्य एवं अपरिवर्तनशील ईश्वर के साथ ही विश्व भी नित्य एवं अपरिवर्तनशील हो जाता है जिसे महात्मा बुद्ध स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि उसके द्वारा प्रतिपादित उपदेश 'सर्वम् अनित्यम्' या 'सर्वम् क्षणिकम्' ही उक्त स्थिति में गलत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की उपत्ति के सन्दर्भ में ईश्वर की कोई उपादेयता नहीं है और इस अर्थ में बौद्ध-धर्म एक अनीश्वरवादी धर्म हो जाता है।

महात्मा बुद्ध के विचार से यह स्पष्ट हो चाता है कि कारणता सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बौद्ध-धर्म का कारणता-सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद है जिसके अनुसार विश्व की समस्त वस्तुएं कारण-कार्य की एक शृंखला है। अब स्वतः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कारण-कार्य शृंखला का अन्त कहाँ होता है? ईश्वरवादी इस शृंखला का अन्त ईश्वर पर ठहराते हैं, परन्तु महात्मा बुद्ध के अनुसार ईश्वर कारण-कार्य-नियम का स्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि फिर स्वतः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर का क्या कारण है? समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक बर्ट्राण्ड रसेल ने कहा है कि कारण-कार्य पर आधारित ईश्वरवादी युक्ति मात्र अनवस्था-दोष से बचने के लिये प्रथम-कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लेती है। यह समझ के बाहर की बात दीखती है कि कारणों की शृंखला का अन्त ईश्वर पर क्यों होता है? कारण, गणित में $\frac{१}{२}$ का आधा $\frac{१}{४}$ होता है, $\frac{१}{४}$ का आधा $\frac{१}{८}$ होता है, $\frac{१}{८}$ का आधा $\frac{१}{१६}$ होता है और इस प्रकार इस शृंखला का कहीं अन्त नहीं देखा जाता। अतः रसेल के अनुसार कारणों की शृंखला स्वयं अनन्त है इसलिये ईश्वर विश्व का प्रथम-कारण नहीं हो सकता। फिर, बौद्ध-धर्म के सन्दर्भ में यही कहा जाता है कि कारण-कार्य नियम के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

महात्मा बुद्ध ने ईश्वर की पूर्णता एवं शुभता पर भी सन्देह किया है। उनका यह सन्देह अशुभ की समस्या के सन्दर्भ में स्पष्ट होता है। उनके अनुसार ईश्वर की पूर्णता एवं शुभता और अशुभ के बीच विरोध देखा जाता जाता है। सधारणतया एक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अगर ईश्वर पूर्ण एवं शुभ है तो विश्व में दुःख का अस्तित्व नहीं देखा जाना चाहिये। परन्तु महात्मा बुद्ध के उपदेश 'सर्वम् दुःखम्' के अनुसार दुःख का अस्तित्व स्पष्टतः परिलक्षित है। उससे यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर पूर्ण एवं शुभ नहीं है। इस प्रकार

ईश्वर की पूर्णता एवं शुभता और अशुभ के अस्तित्व के बीच विरोध स्पष्ट है। समकालीन पाश्चात्य धर्म-दार्शनिक मैक्लोवस्की ने भी कुछ ऐसा ही कहा है- "अशुभ की समस्या ईश्वरवादियों के समक्ष विरोधात्मक रूप में इस रूप दीखती है कि एक ओर से अशुभ को तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वे ईश्वर को पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् मानते हैं।"[1]

महात्मा बुद्ध ने स्वयं ईश्वर की सत्ता में अनास्था दीखायी और अपने शिष्यों को भी इस प्रकार की अनास्था दिखाने का उपदेश दिया क्योंकि उनके अनुसार हमारे अस्तित्व का कोई पक्ष ईश्वर पर निर्भर नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को आत्म-निर्भर होने का उपदेश दिया है। उन्होंने 'आत्मदीपो भव' अर्थात् आप ही अपना प्रकाश बनो, आप ही अपना आश्रय लो, किसी अन्य का आश्रय न लो कहकर अपने शिष्यों को स्वयं प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि महात्मा बुद्ध ने ईश्वरवादी धारणा ईश्वर-निर्भरता के स्थान पर आत्मनिर्भरता की धारणा पर विशेष बल दिया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मनिर्भरता की धारणा बौद्ध-धर्म को अनीश्वरवादी दिखाती है।

प्रायः धर्म और ईश्वर को समानार्थक दिखाया जाता है। परन्तु महात्मा बुद्ध के अनुसार धर्म के प्रति प्रेम (धम्मपीती) तथा धर्म के प्रति संलग्नता (धम्मारामो धम्मरतो) ही धर्म है। फिर धर्म एक संप्रत्यय है जिसे धारण किया जाता है, जिसमें निवास किया जाता है तथा जिसकी आत्मानुभूति की जाती है और उस रूप में धर्म विवेक, शान्ति, निष्पाप एवं निर्भयता की अवस्था है। ठीक ही कहा गया है—

"पविवेकरसं पित्वा रसं उपसमस्य च।
निद्ढहो होति निष्पापो धम्मपीति रसंपिवं॥"[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म में धर्म को ईश्वरवादी धर्म के रूप में नहीं माना गया है क्योंकि यहाँ पर ईश्वर के स्थान पर नैतिक कर्मों के महत्व को स्वीकार किया गया है। महात्मा बुद्ध के अनुसार नैतिकता की रक्षा स्वयं मानव करता है। इस प्रकार, बौध्द-धर्म में जगत् और मानव दोनों के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर अनावश्यक प्रमाणित होता है।

बौद्ध-धर्म को अनीश्वरवादी कहने का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार इसका मानवतावादी धर्म होना है। यहाँ पर महात्मा बुद्ध को एक महान् गुरु तथा 'जागृत

या 'अलंकृत' महापुरुष माना गया है। उन्होंने मानव-अस्तित्व की सत्यता को स्वीकार किया है। यह सत्यता अलौकिक सत्यता नहीं हैं बल्कि वह इहलौकिक सत्यता है। अतः बुद्ध ने प्रत्येक मानव को अपनी ही बुद्धि का उपयोग करने तथा प्रत्येक जीव-जन्तु के प्रति अनुराग प्रदर्शित करने का उपदेश दिया है। यहाँ पर अबौद्धिक आवेगों से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। फिर, बुद्ध की शिक्षा के अनुसार एक व्यक्ति को अपनी सीमा का ज्ञान होना चाहिए तथा साथ ही साथ उसे अपनी शक्तियों का भी बोध होना चाहियें। निर्वाण की अवस्था मनुष्य की असमर्थता का द्योतक नहीं है बल्कि उसकी सर्वोच्च विकसित शक्ति का द्योतक है। कहा जाता है कि जीवन का ग्रहण एवं जीवन की अनुभूति उसी रूप में की जानी चाहिये जिस रूप में वह प्रवाहित होता है, क्योंकि इसी में सद्गुण अवस्थित हैं। पाश्चात्य समकालीन धर्म-दार्शनिक एरिक फ्रॉम ने कहा है–"स्वयं को समझने एवं पारखने के हेतु मनुष्य को अपनी बौद्धिक शक्ति का विकास करना चाहिये, अपने संबंध को अपने बन्धु-बान्धवों के सन्दर्भ में विकसित करना चाहिये तथा इस रूप में अपना स्थान इस विश्व में दिखाना चाहिये। उसे अपनी सीमा तथा अपनी क्षमता से संबंधित सत्य को पहचानना चाहिये। उसे दूसरों के प्रति तथा स्वयं के प्रति अनुराग-शक्ति को विकसित करना चाहिये।"[3] इस प्रकार मानववादी धर्म के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध-धर्म एक अनीश्वरवादी धर्म हो जाता है और इसी परिप्रेक्ष्य में वह एक इहलौकिकवादी धर्म भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ पर पारलौकिक सत्य को अस्वीकार किया गया है।

अन्त में, बौध्द-धर्म को अनीश्वरवादी कहने का आधार स्वयं बुद्ध की निराशावादी प्रवृत्ति है। ईश्वरवाद में आशावादी प्रवृत्ति देखी जाती है। उपासक और उपास्य का घनिष्ट संबंध उपासक की आशा को अभिव्यक्त करता है। उपासक सच्चे मन से उपास्य के प्रति भक्ति दिखाता है और उपास्य प्रसन्न होकर उपासक को आशीर्वाद देता है। परन्तु बुद्ध के अनुसार मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था दुःखमय है और इस प्रकार दुःख को ही एक अनिवार्य सत्य मान लिया गया है जिससे निराशावादी प्रवृत्ति का उदय होता है तथा उससे अनीश्वरवद का उदय होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में बौद्ध-धर्म शुध्द अनीश्वरवादी चिन्तन परम्परा है? अधिकांश बौद्ध-विचारक बौद्ध-धर्म को अनीश्वरवादी मानते रहे हैं। परन्तु बुद्ध के विचारों एवं उपदेशों तथा जिस रूपमें बुध्द को बौद्ध-धर्म में, विशेषकर महायान बौद्ध-संप्रदाय में, समझा एवं परखा गया हैं उससे यह स्पष्ट होता है

कि बौद्ध-धर्म एक शुद्ध अनीश्वरवादी धर्म नहीं है। उसे इन रूपों में दिख जा सकता है–

यह सत्य है कि महात्मा बुद्ध ईश्वर से संबंधित प्रश्नों के संबंध में प्राय: रहा करते थे और उनकी यह चूपी बौद्ध-धर्म को अनीश्वरवादी बना देती परन्तु वास्तविकता यह है कि ~~बुद्ध ईश्वर से संबंधित विश्वास के विरोधक थे~~ साथ ही ईश्वर से संबंधित अविश्वास के भी विरोधक थे। अत: बुद्ध के अनु क्या ईश्वर है या नहीं है ये दोनों ही निराशाजनक प्रश्न हैं इस तथ्य का स्प करण इन पंक्तियों के द्वारा होता है– अगर ईश्वर है और आप अपनी प्राप्ति-क्ष के अनुसार इच्छा प्रदर्शित करते हैं, तो उसका परिणाम एक ही होता है। वही प्राप्त करते हैं जिसकी आप इच्छा रखते हैं। अगर ईश्वर है, और आप बातों की इच्छा रखते हैं जिनकी प्राप्ति आप नहीं करेंगें, तो परिणाम वही है–निराशा। अत: यह प्रश्न कि क्या ईश्वर है या नहीं है एक महत्त्वहीन प्रश्न है बुद्ध के इस कथन से उनकी अज्ञेयवादी प्रवृत्ति स्पष्ट होती है, न कि अनीश्व वादी प्रवृत्ति।

महात्मा बुद्ध का ईश्वर-संबंधी विचार उनके आगे के वार्तालाप से स्पष्ट होता है: क्या ईश्वर है? "मै जानता हूँ कि ईश्वर थे।" "गौतम मेरे प्रश्न का वह उत्तर क्यों देते हैं? क्या यह असत्य एवं मिथ्या नहीं है? "जब पूछा जाता है कि क्या ईश्वर है और जो कोई भी उत्तर देता है कि ईश्व हैं और वे जानते हैं कि ईश्वर थे तो किसी की बुद्धि क्यों काम करती है? विश्व की सहमति इस बात में देखी जाती है कि ईश्वर है।" ५ इससे यह स होता है कि ईश्वर के संबंध में बुद्ध ने सामान्य धारणा को स्वीकार किया है सामान्य धारणा ईश्वर के विचार को अपनाती है। बुद्ध इस प्रकार की साम धारणा की अवहेलना करने का अभिप्राय नहीं दिखाते। अत: बौद्ध-धर्म में ईश्व का विचार विचार एक अतिशयोक्ति न होकर एक वास्तविकता है।

ईश्वर का विचार महात्मा बुद्ध के स्वभाव में ही निहित है। यहाँ पर कहा जाता है कि बुद्ध देवताओं के देवता हैं और इसका कारण उनके अनुयायि का एक अटूट विश्वास है कि एक उपासक महात्मा बुद्ध की कृपा से शाश्वत मु या आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। बी. कीथ ने ठीक ही कहा है– "यह स्वीकार करना होगा कि एशिया की जनता, जिन्होंने महात्मा बुद्ध में जगत् प्रकाश देखा है उसका कारण बुद्ध का बुद्धिवादी सिद्धान्त या कारणता की शृंख नहीं है, क्योंकि उसे किसी ने अधिक समझा है तथा किसी ने कम समझा है

उन्होंने बुद्ध की पूजा की है क्योंकि उन्होंने उन्हें ईश्वरों का ईश्वर माना है तथा उनका यह भी विश्वास है कि बुद्ध की उपासना से एक व्यक्ति शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति करेगा जिसमें शाश्वत आनन्द ही आनन्द होगा ...... "[६] इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि बुद्ध ने अपने अनुयायियों को ईश्वर में विश्वास न जताने को कहा है परंतु वे स्वयं ईश्वर रहे हैं जिससे उनके अनुयायी उनकी उपासना के द्वारा शाश्वत आनन्द ही प्राप्त करते हैं । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म की निराशावादी प्रवृत्ति आंशिक है, अन्तिम नहीं । क्योंकि आनन्द की अवस्था आशा को अभिव्यक्त करती है ।

पुनः यह कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध 'एक सर्वोच्च वैयक्तिक ईश्वर की धारणा के प्रति उदासीन दीखते हैं '। परन्तु साथ ही साथ यह भी कहा जाता है कि धार्मिक होने का अर्थ आध्यात्मिक जीवन और सामान्य जीवन की परस्पर निर्भरता में विश्वास करना होता है। अब, यह कहा जा सकता है कि ज्योंहि आध्यात्मिक जीवन और सामन्यि जीवन की परस्पर निर्भरता एक व्यक्ति को धार्मिक बनाती है तो उसका यह अर्थ होता है कि यहाँपर एक मध्यस्थता करनेवाली सत्ता की आवश्यकता होती है और यह सत्ता एक वैयक्तिक ईश्वर होता है जो सामान्य जीवन और आध्यात्मिक जीवन के बीच मध्यस्थता करता है । बुध्द हमारे समक्ष एक उदाहरण के रूप में उपस्थित होते हैं। चूंकि महात्मा बुद्ध में अनेक प्रकार की पूर्णताएँ एवं दृढताअें देखी जाती हैं इसलियें उनका निरपेक्ष के साथ तादात्म्य देखा जाता है ।

बुद्ध को भगवान् कहा गया है। यहाँपर 'भगवान्' शब्द एक सर्वोच्च सत्ता को सूचित करता है। इस रूप में भगवान् को एक व्यक्ति, सर्वशक्तिमान् तथा सभी वस्तुओं का कारण माना जाता है। 'भगवान्' शब्द का अर्थ भी इसी अभिप्राय की पुष्टि करता है। 'भ' का अर्थ विश्व का संरक्षक होता है। 'ग' का अर्थ स्रष्टा होता है। 'भग' प्रभुता, शक्ति, महिमा, विभूति, प्रज्ञा एवं शील आदि गुणों को अभिव्यक्त करता है। 'भ' एक आरम्भिक आत्मा है जिसमें सभी वस्तुएँ अस्तित्ववान् हैं तथा जो सभी वस्तुओं में स्थित है। यह विचार एक सर्वोच्च सत्ता के सम्प्रत्यय की पुष्टि करता है। बुद्ध भगवान् हैं। अतः उन्हें एक सर्वोच्च वैयक्तिक ईश्वर कहा जाता है। इस रूप में बुद्ध अपने को आध्यात्मिक जीवन से संबंधित करते हैं। फिर, चूँकी महात्मा बुद्ध को दयालु कहा जाता है इसलिये वे अपने को दृश्य सत्ताओं के सामान्य जीवन से भी संबंधित करते हैं। फिर, यह कहा जाता है कि साधना के द्वारा एक व्यक्ति विश्व की शक्ति को अपने अन्दर आकृष्ट करता है तथा वह आत्मा को अदृश्य से संबद्ध करता है।

अब यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यह अदृश्य क्या है? यह स्वयं में क्या आत्मा को अदृश्य से संबंधित होना यह स्पष्ट करता है कि वैयक्तिक ईश आवश्यकता है जो ' संबंध ' को संभव बनाता है। यह अदृश्य निरपेक्ष है की दृष्टि में प्रत्येक आत्मा के लिये उस निरपेक्ष की प्राप्ति करना आवश्य अगर एक वैयक्तिक आत्मा निरपेक्ष की प्राप्ति करता है तो वह एकता को कर पाती है। बुद्ध ने स्वयं इस पाठ को अपने अनुयायियों को सिखाया है। यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में ईश्वर का विचार स्पष्ट रूप से प होता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म इहलौकिक एवं पार दोनों में आस्था दिखाता है। फिर इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बौ मानववादी धर्म होने के साथ-साथ ईश्वरवादी भी है। बुद्ध का धर्मकाय बात की पुष्टि करता है। बुद्ध अपने धर्मकाय के रूप में निरपेक्ष के साथ दिखाते हैं तथा साथ ही साथ वे अपने को जनसाधारण से भी संबंधित करते

फिर, महात्मा बुद्ध को निरपेक्ष के साथ सम्बद्ध किया जाता है। इस पेक्ष को विश्व के सार्वभौम अवैयक्तिक सत्ता के रूप में पहचाना जाता है। यहां एक समस्या उठ जाती है। क्या बुद्ध को वैयक्तिक एवं अवैयक्तिक कहा जा सकता है? इस समस्या का समाधान इस रूप में किया जा सक कि सार रूप में बुद्ध का निरपेक्ष से तादात्म्य देखा जाता है, परन्तु मुख्यत: वे व्यक्ति हैं क्योंकि उन्हें पूजा और शक्ति का विषय बनाया गया है। बु वास्तविक स्वरूप धार्मिक चेतना के सन्दर्भ में ही जाना जा सकता है तथा उसका वास्तविक स्वरूप बौद्ध-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जाना जा सकता है। प्रकार बुद्ध के ईश्वरत्व के संबंध में निरपेक्ष और दृश्य सत्ता के बीच कोई व्यामोह नहीं दिखायी देता। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म इह एवं ईश्वरवादी दोनों है।

बुद्ध को प्राय: भगवान् कहा जाता हैं क्योंकि उन्हें अनेक पूर्णताओं से षित किया जाता है। कहा गया है –

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस: श्रिय:
ज्ञानस्य च प्रयत्नस्य पण्णाभस्य इति श्रुति:
सोऽस्यास्तीति समग्रैश्वर्यादिमान् भगवान्
क्लेश-कर्मतया जन्म क्लेशज्ञेयार्तिना तथा
येन वैपक्षिका: भग्नास्तेनेह भगवान्स्मृत: ।[६]

इससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध ईसाई, हिन्दू या इस्लाम धर्मों के के समान ही गुणवान् हैं। बुद्ध को सर्वज्ञ कहा जाता है क्योंकि वे निरपेक्ष तथा आनुभविक जगत् को जानते हैं। उनमें पाँच प्रकार की प्रज्ञायें देखी

“१) निरपेक्ष से सम्बन्धित शुद्ध अन्तःप्रज्ञा या अद्वय ज्ञान, अर्थात् अस्ति और नास्ति के बीच कोई द्विभाजन नहीं देखा जाता। (२) उनका ज्ञान शीशे के समान है जिसमें प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षेपित होती है और जिसे आदर्शज्ञान कहा जाता है। (३) सदोष ज्ञान या सभी पृथक् वस्तुओं एवं तत्त्वों का बिना अपमानित किये ज्ञान जिसे प्रत्यवेक्षणज्ञान कहा जाता है। (४) एकता का ज्ञान अर्थात् स्वयं एवं अन्य की समानता का ज्ञान जो बुद्धत्व का एक विलक्षण सार है और जिसे समानता का ज्ञान कहा जाता है, (५) क्रियाशील प्रज्ञा जो सभी जीव-जन्तुओं का कल्याण करना है जिसे कृत्यनुत्थान ज्ञान कहा जाता है।”[८] इसमें से ज्ञान का पहला और दूसरा रूप बुद्ध के धर्मकाय से प्राप्त होता है, तीसरा और चौथा संभोगकाय से तथा जीव-वस्तुओं के कल्याण संबंधी ज्ञान निर्वाणकाय से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध में अनेक पूर्णताएँ, दृढ़ता एवं दया देखी जाती है। इस रूप में बुद्ध को एक सर्वोच्च वैयक्तिक ईश्वर कहा जाता है और इस रूप में बौद्ध-धर्म में ईश्वरत्व स्पष्ट होता है।

मीमांसक कुमारिल के द्वारा एक आपत्ति उठायी गयी है कि एक व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। उनके अनुसार ‘सर्वज्ञ’ शब्द अवैयक्तिक एवं शाश्वत सत्ता के साथ लागू होता है, जबकि बुद्ध एक व्यक्ति हैं। अतः उनकी जानने की शक्ति अवश्य सीमित होगी। परन्तु इस आपत्ति को साधारण तर्क के द्वारा खण्डित किया जा सकता है कि बुद्ध एक साधारण व्यक्ति नहीं है। उन्हें अनेक पूर्णताओं एवं दृढ़ताओं से विभूषित किया गया है। कहा गया है– “हीनयान में गौतम बुद्ध एक समभिप्रशंसित मानव हैं तथा अपने विलक्षण प्राप्ति के कारण जनसाधारण से भिन्न हैं।”[९] इस रूप में बुद्ध एक असाधारण व्यक्ति हो जाते हैं और इसलिये उनके सम्बन्ध में ‘सर्वज्ञ’ शब्द लागू करना एक अतिशयोक्ति नहीं है। उनके द्वारा दी गयी अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा उनकी सर्वज्ञता का एक अच्छा उदाहरण है।

महाकरुणा का विचार बुद्ध को एक प्रेममय ईश्वर बनाता है। उनकी करुणा न केवल संतप्त मानवता तक ही सीमित है बल्कि सभी जीव-जन्तुओं के लिये भी खुली है। उनकी यह करुणा ईसाई ईश्वर के समान है जो ईसा के द्वारा दर्शायी गयी है। डॉ. मूर्ति कहते हैं– “उनकी करुणा महान् है क्योंकि यह किसी सीमा को स्वीकार नहीं करती; उनकी दया सभी के लिये है, चाहे वह उसके लिये योग्य हो या अयोग्य हो; यह करुणा विशेषतः निम्न जीव-जन्तुओं के लिये है। यह करुणा अल्पकाल के लिये नहीं है बल्कि वह युग-युग के लिये है। उनकी करुणा का मापदण्ड तीव्र और शुद्ध है। उनका प्रेम उस पिता के प्रेम से अधिक

तीव्र है जो अपने एकमात्र पुत्र के प्रति प्रेम दर्शाता है; उनको करुणा को कि प्रकार की प्राप्ति, पहचान या आदर की अपेक्षा नहीं है ।"[१०]

आर्यदेव के अनुसार महात्मा बुद्ध की कोई भी क्रिया अभिप्राय-रहित न होती; उनका जन्म ही जीवों के शुभ के लिये हुआ है । इससे यह स्पष्ट होता कि यह महाकरुणा सभी जीव-जन्तुओं की एकता एवं सार्वभौमिकता की का परिणाम है और ये विशेषताएँ बुद्ध को एक प्रेममयी ईश्वर बनाती है। मूर्ति कहते हैं– " बौद्ध-धर्म में ईश्वर की सबसे महान् विशेषता महाकरुणा है किसी के लिये तथा किसी काल के लिये त्याग का एक नमूना है । कल्याण लिये यह अनवरत अभिप्राय एवं अभिरुचि तथा सभी जीव-जन्तुओं को करने की भावना तथागत को एक प्रेममयी ईश्वर बना देती है । वास्तव में ईश्वरत्व के विचार का सबसे अधिक समभिप्रशंशित एवं शुद्ध विचार है।" यह और भी स्पष्ट होता है जब यह कहा जाता है कि " वह सम्पूर्ण जगत् खुशी हैं, वह असहायों का सहायक हैं, वह दया का भण्डार हैं, देवों का दे शंकरों का शंकर, बृहता की बृहता हैं; वह एकमात्र परित्राता हैं, महाकरुणा तीनों जगत् के गुरु हैं...वह विश्व का पिता, सहायक, मित्र तथा विश्व के सा संबंधी हैं ।"[१२]

महायान चिन्तन-परम्परा में ईश्वर की दो विशेषताओं की चर्चा की ग है– शून्यता एवं करुणा । शून्यता एक अकुण्ठित अन्तःप्रज्ञा है और करुणा सन्त जगत् की स्थिति का लेखा-जोखा चित्र प्रस्तुत करती है । बुद्ध में ये दोनों विशे ताएँ वर्तमान हैं । शून्यता के रूप में बुद्ध एक निरपेक्ष सत्ता हैं तथा वे इस में पारमार्थिक सत्ता की श्रेणी में रखे जाते हैं तथा करुणा के रूप में दृश्य सत्त की श्रेणी में । कारण वे सभी जीव-जन्तुओं के साथ अनिवार्य समानता दिखा हैं । इस प्रकार बुद्ध को एक द्विचर सत्ता कहा जाता है क्योंकि वे निरपेक्ष औ दृश्य दोनों सत्ता के साथ देखे जाते हैं । बौद्ध-धर्म में ईश्वरत्व के इन दो पहलु को मञ्जुश्री तथा अवलोकितेश्वर के द्वारा प्रमाणित किया गया है । ईश्वर का विचार निश्चय ही विलक्षण विचार है क्योंकि अन्य धर्मों में यह विचार इस में नहीं देखा जाता है ।

बुद्ध का यह द्वैती रूप उनके त्रिकाय के ईश्वरवादी स्वरूप पर प्रका डालता है । धर्मकाय बुद्ध का एक ब्रह्माण्ड शरीर है । यह उनके अनिवार्य स्व को स्पष्ट करता है और इसलिये उसे 'स्वाभाविक काय' कहा जाता है । इ रूप में बुद्ध निरपेक्ष के साथ देखे जाते हैं और उनकी यह निरपेक्षता उन्हें सत् का ज्ञान प्राप्त कराने योग्य बनाती है । सम्भोग-काय आनन्द का शरीर है जिसमें बुद्ध ने सत्य का पूर्ण रूप से भोग किया है । यहाँ पर बुद्ध एक सर्वोच्च ईश्वर

रूप में उपस्थित होते हैं। निर्वाण-काय एक गर्वित शरीर है। बुद्ध का यह रूप यह स्पष्ट करता है कि बुद्ध विश्व के दुःखों के निवारण के हेतु सयय-समय पर अवतार लेते हैं। **भगवद्गीता** में भी इस तथ्य को अपनाया गया है।[१२] इससे यह स्पष्ट होता है कि गौतम के रूप में बुद्ध का आगमन आकस्मिक नहीं है बल्कि वह ईश्वरत्व या देवत्व का एक संकल्पित उद्भव है।

बुद्ध को वेदान्त की कुछ धाराओं द्वारा स्वीकृत ईश्वर भी कहा जा सकता है। वेदान्त का ईश्वर ब्रह्म और दृश्य सत्ता के बीच मध्यस्थता का कार्य सम्पादित करता है। ब्रह्म स्वयं ज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है। उसका ज्ञान दृश्य सत्ताओं के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर इन दोनों के बीच मध्यस्थता करता है। तथागत के रूप में बुद्ध इसी प्रकार की भूमिका निभाते हैं। वे निरपेक्ष को दृश्य सत्ताओं के समक्ष अभिव्यक्त करते हैं। ईश्वर और तथागत दोनों ही पूजा और उपासना के विषय हैं।

बौद्ध-धर्म के अनुसार धार्मिक चेतना के लिये ईश्वर या समभिप्रशंसित सत्ता और परिमित जीव-जन्तुओं के बीच भेद रहना आवश्यक है। परन्तु यह भेद शाश्वत नहीं है, या भेद प्रकार का नहीं है बल्कि वह सत्ता के विभिन्न स्तरों का है। कहा गया है– "बिना भेद के धार्मिक चेतना की प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है, पारलौकिक सत्ता और परिमितसत्ता के बीच भेद के अभाव में यह प्रश्न पूछा जा सकता है? यह भेद एक और दूसरी वस्तु के बीच का नहीं होता, जो प्रकार में शाश्वत भेद दिखाता हो। यह भेद स्तरों में एक स्तर का है, या ये एक ही सत्ता के विभिन्न स्तर हैं। धार्मिक चेतना को जीवित रखने के लिये आदर्श और वास्तविकता के बीच भेद का होना आवश्यक है।"[१४]

बौद्ध-धर्म में ईश्वरत्व के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि यहाँ पर ईश्वर जैसी सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं दिखायी देती। परन्तु यह आपत्ति उचित नहीं दिखायी देती। सर्वप्रथम, बुद्ध ने निरपेक्ष ज्ञान को स्वयं तक सीमित नहीं रखा है क्योंकि वे स्वयं तथागत होने का दावा नहीं करते। इस प्रकार का ज्ञान सभी के लिये समान रूप से उपलब्ध है। परन्तु इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना उतना आसान नहीं है जितना एक व्यक्ति समझता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक व्यक्ति को कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति तथागत नहीं है, यद्यपि आवश्यक शर्तों के पालन के द्वारा वह तथागत हो सकता है। तथागत एक समभिप्रशंसित व्यक्तित्व होता है जिसे भगवान् कहा जाता है। ऐसा व्यक्तित्व सभी प्रकार की सीमाओं से परे होता है तथा अनेक प्रकर्षों से युक्त होता है। द्वितीयतः, प्रायः यह समझा जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक गुरु की आवश्यकता होती है। यहाँतक कि जन्मजात

सत्यों एवं स्वयंसिद्ध सूत्रों के संबंध में भी हमें एक गुरु की आवश्यकता होती जो हमारे ध्यान या चित्त को निर्देशित करता है तथा इन सत्यों एवं सूत्रों प्रति हमें लगाता है। मानव में द्वन्द्वात्मक चेतना या बौद्धिकता वर्तमान रहती है परन्तु उसे सतह पर लाने की आवश्यकता पड़ती है। यह कार्य साधारण व्यक्ति के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता बल्कि एक प्रकाशित या अभिव्यक्त व्यक्ति के द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। बुद्ध ने यद्यपि इस द्वन्द्वात्मक चेतना की सृष्टि नहीं की तो भी उन्हें उससे युक्त माना जाता है क्योंकि इस प्रकार की चेतना से उन्हें पूर्ण बोध है। चूंकि बुद्ध एक प्रकाशित व्यक्ति हैं इसलिये उन्हें किसी गुरु की आवश्यकता नहीं होती, जबकि एक साधारण व्यक्ति को इस प्रकार के आवश्यकता होती है और साधारण व्यक्तियों के गुरु स्वयं महात्मा बुद्ध हैं।

बौद्ध-धर्म में ईश्वरत्व के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह उठाथी जाती है कि निरपेक्ष और दृश्य सत्ता के बीच मध्यस्थता करनेवाली सत्ता उसमें तार्किक रूप से मान्य नहीं है। सत्ता एक तो निरपेक्ष हो सकती है या तो दृश्य सत्ता हो सकती है, परन्तु एक ही साथ दोनों नहीं हो सकती। यह आपत्ति तब उठायी जाती है जब तथागत को द्वैती सत्ता माना जाता है। इस आपत्ति के अनुसार इस प्रकार की द्वैती सत्ता दृश्य सत्ता तथा अदृश्य सत्ता इन दोनों में भाग नहीं ले सकती और उस सत्ता का इस प्रकार भाग लेना तर्कतः असम्भव है। इस आपत्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि 'तर्कतः' शब्द का प्रयोग एक साधारण व्यक्ति के संबंध में किया जाता है तथा इस अर्थ में या अन्य किसी भी अर्थ में उसका प्रयोग तथागत या ईश्वर के संबंध में नहीं किया जा सकता। क्योंकि तथागत निश्चय ही एक असाधारण व्यक्तित्व है। द्वितीयतः, अगर तर्कतः शब्द का प्रयोग बुद्ध के संबंध में किया जाता भी है तो यहाँ 'तर्कतः' शब्द का अर्थ सिर्फ आकारिक तर्क नहीं रह जाता। भावात्मक या निषेधात्मक तर्क तार्किक प्रतिबद्धता में निहित होता है। जो इस विचार को स्वीकार करते हैं वे ही सिर्फ इस 'संबंध' को देख पाते हैं। परन्तु इस 'संबंध' को देखने के लिये एक निश्चित गहराई, परिपक्वता, सूक्ष्मग्राहिता तथा 'देखनेवाली' आँख की आवश्यकता होती है। ईश्वर का यह विचार आत्म-धारक एवं विलक्षण है तथा एकमात्र भावात्मक संचालन करनेवाली प्रवृत्ति या धूरी है। त्रितीयतः, यह आपत्ति उस व्यक्ति के बारे में सत्य होती है जो बन्धन-ग्रस्त होता है, जिसने निर्वाण की अवस्था को प्राप्त न किया हो। परन्तु, तथागत एक ऐसा व्यक्ति हैं जिसने निर्वाण की अवस्था को प्राप्त किया है तथा जो सभी प्रकार की सीमाओं से स्वतन्त्र हैं। अतः अगर तथागत अपने को दृश्य एवं अदृश्य सत्ताओं से संबंधित करते हैं तो इसमें कोई भी तार्किक विसंगतियाँ नहीं दिखायी पड़ती। चतुर्थतः, यह आपत्ति स्वयं आत्म-

विरोध से ग्रसित है। आलोचक की दृष्टि में एक दृश्य सत्ता को निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता। परन्तु, यह आपत्ति तभी उठायी जा सकती है जब आलोचक को निरपेक्ष ज्ञान हुआ हो। बिना निरपेक्ष के ज्ञान के निरपेक्ष के संबंध में प्रश्न ही कैसे उठाया जा सकता है? अन्त में, निर्वाण-प्राप्ति के बाद बुद्ध 'स्वतन्त्र दृश्य सत्ता' हो जाते हैं। अपनी आरम्भिक अवस्था में उन्होंने शिक्षा प्रदान करने से अपने को अलग रखा। परन्तु सन्तप्त मानव के दुःखों से द्रवीभूत होकर उन्होंने शिक्षा प्रदान करना प्रारम्भ किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'गौतम' दृश्य सत्ता के प्रतिनिधि हैं तो 'बुद्ध' अदृश्य या पारलौकिक सत्ता के। इस प्रकार महात्मा बुद्ध के लिये यह तार्किक रूप से सम्भव है कि वे अपने को दृश्य और अदृश्य सत्ता से संबंधित कर सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि बौद्ध-धर्म का अनीश्वरवाद प्रारम्भिक है, अन्तिम नहीं। उसका अनीश्वरवाद बुद्ध के उपदेशों तथा व्यक्तिगत व्यवहारों से स्पष्ट होता है। परन्तु उनके उपदेशों एवं व्यवहारों के आधार पर यह भी दिखाया जा सकता है कि बौद्ध-धर्म एक अनीश्वरवादी धर्म नहीं है। फिर बौद्ध चिन्तन परम्परा बौद्ध-धर्म को अनीश्वरवादी दिखाती है जिसमें बौद्ध-धर्म एक मानववादी एवं इहलौकिक धर्म दीखता है। परन्तु बौद्ध चिन्तन-परम्परा के द्वारा ही यह भी स्पष्ट होता है कि महात्मा बुद्ध एक वैयक्तिक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में प्रमाणित होते हैं। पूजा एवं उपासना के विषय महात्मा बुद्ध ईश्वरवादियों के ईश्वर के समकक्ष हो जाते हैं। फिर, शून्यता, महाकरुणा, तथागत तथा त्रिकाय से संबंधित विचार बौद्ध-धर्म में ईश्वर के विचार को प्रस्थापित करते हैं।

– श्रीमती कमलाकुमारी

दर्शन विभाग
नालन्दा महिला कॉलेज
बिहार शरीफ
नालन्दा (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. मैक्लोवस्की, "गॉड ॲण्ड ईव्हिल", दि फिलॉसॉफिकल क्वाटर्ली खण्ड १०, १९६०, पृ. ९७.

२, धम्मपद, २०५.

३. जॉर्ज अॅबरनेथी अॅण्ड थॉमस लॉंगफोर्ड; फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन,
मॅक्मिलन कंपनी, न्यूयार्क, १९६८, पृ. ८३.

४. ए. जे. बाम; फिलॉसॉफी ऑफ दि बुद्ध, पृ. १४६.

६. बी. कीथ; बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी इन इण्डिया अॅण्ड सीलोन, लण्
ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९२३, पृ. १४–१५

५. ए. जे. बाम; फिलॉसॉफी ऑफ दि बुद्ध से उद्धृत फोर डायलॉ
ऑफ दि बुद्ध, खण्ड २; पृ. १२२–२३

७. पी. ए. ए., पृ. ९

८. ओबरमिलर; "दि डॉक्ट्रीन ऑफ प्रज्ञापारमिता" अॅक्टा ओरिएण्टलि
खण्ड ११, पृ. ४५

९. टी. आर. व्ही. मूर्ती; दि सेण्ट्रल फिलॉसॉफी ऑफ बुद्धिज्म, जॉ
अॅलन अॅण्ड अन्विन् लिमिटेड, लण्डन, १९५५; पृ. २८७

१०. वही पृ. २८३

११. वही, पृ. २८९

१२. आर. स्पेन्स हार्डी; ए मॅन्युएल ऑफ बुद्धिज्म, चौखम्भा संस्कृत सीरि
वाराणसी. १९६७; पृ. ३६०

१३. भगवद्गीता, ४.७

१४. टी. आर्. मूर्ती; दि सेण्ट्रल फिलॉसॉफी ऑफ बुद्धिज्म, जॉर्ज अॅल
अॅण्ड अन्विन् लिमिटेड, लण्डन, १९५५, पृ. २२६.

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) खण्ड ७, अंक ४ में प्रकाशित अपने लेख में डॉ. रामजी सिंह ने "हिन्दू कौन ?" प्रश्न का उत्तर देने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। यह लेख इतना विचारोत्तेजक है कि अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का लोभ संवरण करना असंभव है।

उन्होंने इस प्रश्न पर "ऐतिहासिक" की अपेक्षा विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार करना पसंद यिया है, यद्यपि उन्होंने धर्म-दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाया है। यही कारण है कि पृष्ठ ३६० के अन्तिम परिच्छेद से वे "हिन्दू-धर्म-दर्शन के अन्य सिद्धान्तों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। पृष्ठ ३६१ के द्वितीय परिच्छेद में वे "हिन्दुत्व को धर्म प्रमाणित करने के लिये आख्यानों एवं कर्मकांडो के वैभिन्न्य की चर्चा को इसलिये व्यर्थ मानते है कि वैभिन्न्य तो हर धर्म में पाया जाता है।" इस तरह वे हिन्दू या हिन्दुत्व की व्याख्या हिन्दू धर्म-दर्शन के रूप में करते हैं। उसकी निम्नलिखित आधारभूत विशेषताओं का उन्होंने उल्लेख किया है—

सर्वप्रथम, हिन्दुओं का कोई "केन्द्रीय धार्मिक ग्रंथ" नहीं है। इसमें "पंथीय कट्टरता" का कम-से-कम आविर्भाव हुआ है। "समन्वय" की भावधारा के फलस्वरूप अन्य धर्म-ग्रंथों के प्रति आदर भाव है। ईश्वर की संकल्पना संबंधी मत-वैभिन्न्य के साथ-ही-साथ ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न साधनों की स्वीकृति दिखाई देती है। कर्मवाद, पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म पर विश्वास, साम्प्रदायिकता का अभाव, धार्मिक स्वतंत्रता व धर्मान्तरण का विरोध, तथा सर्वधर्मसमभाव की भावना एवं साधना आदि इसकी अन्य बिशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ. सिंह ने धर्म-दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाना इसलिये उचित समझा कि धर्म प्रारंभ से ही हिन्दू-समाज का केन्द्रीय तत्त्व अथवा प्राण रहा है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक २, मार्च, १९८७

मेरा मत है कि "हिन्दू कौन", समस्या के सम्यक् समाधान विशुद्ध दार्शनिक अथवा धर्म-दार्शनिक दृष्टि अपनाने के बावजूद अ दृष्टियों यथा, ऐतिहासिक, भौगोलिक व सांकृतिक आदि को नकारा न जाना चाहिए, क्योंकि भारतवर्ष में बसने वाली प्राचीन जातियों का सामूहि नाम हिन्दू तथा उसके समष्टिवादी धर्म का भाव हिन्दूत्व है। (हिन्दु धर्मको डॉ. राजबली पांडेय, पृ. ७०२)

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू शब्द अपेक्षाकृत अर्वाचीन एवं विदेशी है प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसका उल्लेख नहीं है। जब आक्रमणकारी मुसलम भारत पर शासन करने लगे, तो उन्होंने मुसलमानेतर लोगों को हिन्दू त उनके धर्म को 'हिन्दू मज़हब' नाम दिया। यूरोपवासियों तथा अंग्रेजों ने इ प्रयोगों को अपनाया। अग्रेजों ने भारत की एकता एवं अखंडता को नष्ट क के लिये उपयुक्त भेदभाव का भरपूर राजनैतिक लाभ उठाया। शनैः शनैः संपू विश्व में भारत की मुस्लिमेतर जनता को हिन्दू तथा उसके धर्म को हिन्दू कहा जाने लगा।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखें, तो मुसलमानों ने यह शब्द ईरान फारस से लिया। फारसी (भाषा) में हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुवी, हिन्दुवानी, हिन्द हिन्दुबाना आदि अनेक शब्द हैं। अतः स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द मूलतः फार है, और इसका अर्थ 'भारतवर्ष के निवासी' है। भारतीय भाषा और संस्कृति लिये फारसी में 'हिन्दवी' शब्द उपलब्ध है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फारसियों को हिन्दू शब्द कैसे मिला वस्तुतः इस शब्द का स्त्रोत या आधार भौगोलिक है। भौगोलिक दृष्टि से फार के पूर्व में स्थित हफ्तहेन्दु (सप्तसिंधु) प्रदेश फारस के लिये अत्यधिक महत्व पूर्ण था और चूंकि फारसी व्याकरणानुसार संस्कृत का 'स' अक्षर 'ह' परिवर्तित हो जाता है अतः 'सिंधु' शब्द 'हिन्दू' कहा जाने लगा। पहले सिं प्रदेश के निवासी 'हिन्दू' पुकारे गये, किन्तु बाद में समस्त भारत-निवासियों के लिये इसका प्रयोग होने लगा। इसी व्यापक अर्थ से समस्त भारतवासियों धर्म 'हिन्दू धर्म' कहलाया। इसी दृष्टि से स्वातन्त्र्यवीर श्री. वि. दा. सावरक ने परिभाषा देते हुए कहा–

आसिन्धो : सिन्धुपर्यन्ता यस्या भारतभूमिका।
पितृभू : पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृत :॥

अर्थात् सिन्धु नदी के उद्गम-स्थल से लेकर सिन्धु या हिन्दमहासागर तक संपूर्ण भारत भूमि जिसकी पितृभूमि तथा पुण्यभूमि है, वह ‘हिन्दू’ कहलाता है।

ज्ञातव्य है कि मुस्लिम आक्रमणों से पूर्व जितनी जातियाँ भारत में आईं, वे हिन्दू धर्म स्वीकार कर यहीं बस गईं और हिन्दू जाति में ही विलीन हो गईं।

वैचारिक व दार्शनिक दृष्टि से भी भारत में अनेक परंपरावादी (वैदिक) तथा परंपरा-विरोधी (अवैदिकि) आंदोलन व विचारधारायें प्रकट हुईं; किन्तु वे सब मिल जुलकर हिन्दुत्व में ही विलीन होती गईं। यही कारण है कि डॉ. रामजी भी वैष्णव, शैव, शाक्त, के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिक्ख, सनातनी और आर्यसमाजी आदि सभी को हिन्दू समाज में शामिल करते है। (पृ.३५७) परन्तु जब वे ईश्वर पर आस्था तथा ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न साधनों की चर्चा हिन्दुत्व की व्याख्या के लिये करते हैं (पृ. ३५८ व ३६०), तब उनकी व्याख्या में आत्मविरोध परिलक्षित होता है, क्योंकि वे इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं कि जैन तथा बौद्ध धर्म दोनों ही अनीश्वरवादी धर्म हैं, तथा ‘धार्मिक साधना’ का अर्थ ईश्वर प्राप्ति की साधना मात्र नहीं है। हिन्दू के लिये ईश्वर पर विश्वास वांछनीय तो है पर अनिवार्य नहीं है। दूसरे, हिन्दू व्यक्तिगत मुक्ति के अनन्त विकल्प स्वीकार करते हैं। वे परम आदर्श की प्राप्ति के लिये साधना को आवश्यक मानते हैं पर यह साधना सदैव ईश्वर-साधना ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

धार्मिक दृष्टि से विचार करें तो पाते हैं कि भारत में वैदिक धर्म ही प्राचीनतम सुव्यवस्थित धर्म था, जिसने क्रमश: अन्य धर्म को प्रभावित किया। इतना ही नहीं यह अन्य धर्मों से प्रभववित भी होता रहा। अवैदिक धर्मों का जन्म भी इस भारतभूमि पर हुआ, पर कुछ शताब्दियों बाद वे मूलधारा में समाविष्ट या विलीन हो गये। इस तरह हिन्दू-धर्म वैदिक धर्म, आर्येतर जातियों के धार्मिक विश्वास व प्रथाओं, तथा जैन व बौद्ध आदि अवैदिक धर्मों का ऐसा समन्वय व समष्टि है, जिसमें पौरणिक, तांत्रिक व अन्य परवर्ती धार्मिक संप्रदाय मिलते गये। जैसा कि डॉ. सिंह ने लिखा है, संतों, महात्माओं व आचार्यों आदि ने भी समय-समय पर इसका विस्तार व परिष्कार किया। यद्यपि प्रवर्तक धर्म होने के कारण इस्लाम व ईसाई धर्म आदि आजतक हिन्दू धर्म से अपनी दूरी बनाये हुये हैं, तथापि हिन्दू धर्म ने कई मुहम्मदी व मसीही उपसंप्रदायों को भी हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर लिया है। यही कारण है

कि हिन्दू धर्म एक निरंतर विकासशील, उदार और विवेकपूर्ण समन्वयवादी है। यह अनुकरणवादी कभी नहीं रहा।

इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि हिन्दुओं में भी अन्तर्द्व एवं अपवाद हैं; किन्तु फिर भी हिन्दुत्व की सर्वतोनिष्ठ मान्यताओं का उल्ले किया जा सकता है जिसमें से कुछ का उल्लेख डॉ. रामजी ने अपने लेख में कि है। उनके अतिरिक्त निगम (वेद) और आगम (तर्कमूलक दर्शन) में से कि एक या दोनों पर आस्था, धार्मिक, पारमार्थिक व दार्शनिक दृष्टिकोण, नैति जीवन की महत्ता और लोककल्याणकारी कार्यों अर्थात् सत्कर्मों, सदाचार सच्चरित्रता को महत्त्व देना इत्यादि हिन्दुत्व की अन्य मूलभूत विशेषतायें जिनका उल्लेख भी अपेक्षित है।

७९६, नेपियर टाउन
जबलपुर– ४८२००१ (म. प्र.)

– छाया रा

स्थायी सदस्य (संस्था)

१९. ग्रन्थालयाध्यक्ष
श्रीमती हंसा मेहता ग्रन्थालय
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय
वडोदरा – ३९०००२

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१२७ डॉ. बलिराम शुक्ल
दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय
पुणे- ४११००७

१२८. डॉ. आर. व्ही. व्यास
दर्शन विभाग, उत्तर-पूर्वीय पर्वतीय
विश्वविद्यालय, मयूरभञ्ज कैंपस
शिलाँग – ७९३०१४ (मेघालय)

१२९ डॉ. सियाराम तिवारी
आचार्य, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन –७३१२३५ (प. बंगाल)

१३०. डॉ. सतीशचंद्र पाठक
ग्राम व पोस्ट– नाव कोठी, जिला-
बेगुसराय, बिहार – ८५११३०

१३१. डॉ. एस्. बी. पी. सिन्हा
१०, रीडर्स क्वार्टर्स, बिहार
विश्वविद्यालय परिसर,
मुझफ्फरपुर (बिहार)

१३२. डॉ. विद्यासागर सिंग
दर्शन विभाग, रामचरित्र स्मारक
महाविद्यालय, बिहत – ८०११०३
(बिहार)

१३३. डॉ. लक्ष्मणप्रसाद मिश्र
दूधाधारी मठ, रायपुर – ४९२००१
(म. प्र.)

१३४. डॉ. शिवानंद झा
द्वारा, श्री. परमानन्द झा, ग्राम–
लोहना, पोस्ट–सरसोपाही, जिला–
मधुवनी, बिहार– ८४७४२४

१३५. डॉ. दशरथ सिंग
तिलक नगर (कातिरा) आरा
जिला–भोजपुर (बिहार)

१३६. प्रोफेसर कृष्णगोपाल
डी । ४८ । २०९ मिश्र पोखरा
गोदौलिया, वाराणसी (उ. प्र.)

११७ प्रोफेसर अखिलेश्वर सिंग
द्वारा, श्री. जालिम सिंग
(अभिवक्ता)
के. जी. रोड, आरा
नवादा, जिला- भोजपूर (बिहार)

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवर

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन स्थान :	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे– ४११००७
२. प्रकाशन अवधि :	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता :	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे– ४११००७ भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता :	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे– ४११००७ भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता :	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे– ४११००७ भारतीय
६. उन व्यक्तियों / संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों। :	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे– ४११००७ और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर– ४२५४०१ जिला– जलगांव (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि
अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

– सुरेन्द्र बार्लिं

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

अखिलेश्वर प्रसाद दुबे	बौद्ध विचारणा में इहलोकवाद और परलोकवाद
जगदीश शर्मा	साहित्य का सरोकार
ब्रजबिहारी निगम	कर्म, कर्तव्य एवं कर्मयोग
राज्यश्री अग्रवाल	भैषज्य-विज्ञान (फार्मेसी) और नैतिकता
धनराज चौधरी	समसामयिक कविता और विज्ञानी तेवर
वीरेन्द्र सिंह	विज्ञान-बोध और वैचारिकता
सोहनपाल सिंह आर्य	ईश्वर-मीमांसा के सन्दर्भ में आस्था, तथ्य और तर्क
सुरेश प्रसाद सिन्हा	नयी संस्कृति : एक टिप्पणी
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२)
महेश्वर प्रसाद चौरासिया	वैज्ञानिक प्रणाली, साम्य और साम्यानुमान
श्रीमती कमलाकुमारी	बौद्ध-धर्म में अनीश्वरवाद
	प्रतिक्रिया

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ८ अंक ३

जून, १९८७ / ज्येष्ठ-आषाढ, २०४३

संपादक

ुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान के
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रि

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व ' तत्त्वज्ञान–मंदिर ' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा चं
संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे.
शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक
※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गु
※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेले
※ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्याल
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७ अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५–००
	एक प्रति	रु. ०६–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०–००

※ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

गांधीजी का धर्म दर्शन : ईश्वर की अवधारणा

गांधीजी के जीवन और दर्शन में ईश्वर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सच्चाई है। गांधीजी को ईश्वर में एक 'जीवित आस्था' थी। इस विश्वास के लिये उनके पास कोई तर्क नहीं था। वे जानते थे कि तर्क से वे पराजित हो जायेंगे। फिर भी, ईश्वर के अस्तित्व के बारे में, किसी भी अन्य चीज की अपेक्षा, वे अधिक आश्वस्त थे।

गांधीजी के लिये ईश्वर का दोहरा महत्त्व था। तात्त्विक और धार्मिक। ईश्वर न केवल परम सत्ता है बल्कि वह एक व्यावहारिक यथार्थ भी है जिससे एक जीवित संपर्क बनाए रखा जा सकता है। ईश्वर के संबंध में ये दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे से नितांत पृथक् नहीं हैं। ईश्वर के प्रति जो व्यवहारिक वृत्ति होती है वह ईश्वर के प्रत्यय को निर्धारित करती है, और ईश्वर की धारणा, उसके प्रति हमारी वृत्ति का निर्माण करती है। गांधीजी की ईश्वर की धारणा 'एको न द्वितीयम्' के रूप में है। यह धारणा सहज ही उनके व्यावहारिक जीवन में भी प्रकट होती है और इसी से वे कह पाते हैं –"मैं बिना जल और बिना वायु के रह सकता हूँ किन्तु ईश्वर के बिना नहीं रह सकता। तुम मेरे कान उखाड़ सकते हो, मेरी नाक काट सकते हो, लेकिन इससे मेरी मृत्यु नहीं होगी। परन्तु यदि ईश्वर में मेरा विश्वास खंडित हो जाए तो मैं मृत (समान) ही हूँ।"[1]

एक वैष्णव परिवार में जन्म लेने से यह स्वाभाविक ही था कि गांधीजी ईश्वर के सम्बन्ध में एक ऐसी धार्मिक आस्था प्राप्त करते जिसके अंतर्गत ही उनका अस्तित्व, उनका जीवन, और उनकी सभी गतिविधियाँ सम्पन्न होतीं। फिर भी यह कहना शायद पूरी तरह सही नहीं है कि गांधीजी का ईश्वर में विश्वास केवल धार्मिक स्तर पर ही था। इसमें संदेह नहीं कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए गांधीजी ईश्वर को एक ऐसा मूर्त पुरुष मानते हैं जो सभी सद्गुणों और पूर्णताओं से युक्त है। लेकिन दार्शनिक दृष्टिकोण से ईश्वर उनके

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

लिए निर्वैयक्तिक ही है। ये दोनों ही दृष्टियाँ समानान्तर हैं। ईश्वर, जैसा गांधी जी उनके बारे में सोचते हैं, विधान भी है और विधायक भी। उनके ये दोनों एक-दूसरे में अवगुंठित हैं, लुंठित हैं। (लॉ एण्ड लॉ-गिवर रोल्ड इण्टू वन।)

विशुद्धतः तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टिकोण से ईश्वर, गांधीजी के अनुसार ‘सापेक्ष के पीछे’ एक निरपेक्ष सत्ता है। और इस ‘निरपेक्ष’ को कोई व्यक्तित्व- यहाँ तक कि आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी– प्रदान नहीं किया जा सकता। इस रूप में ईश्वर एक ‘शाश्वत-नियम’ है, एक ‘सार्वभौमिक सिद्धान्त’ है। स्वयं शाश्वत और अपरिवर्तनीय रहते हुए, ईश्वर नश्वरता और सभी परिवर्तनों का आधार है, सभी कुछ उसी में व्याप्त और आधृत है। फिर भी वह अपरिभाष्य और रहस्यमय है, और इसीलिए मानव-समझ के परे है। ईश्वर के विधान को मानवी भाषा कभी पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकती। उसके नियम दृढ और अनिर्वचनीय हैं।

निरपेक्ष होते हुए भी, गांधीजी यह स्वीकार करते हैं, कि ईश्वर उन सबके लिए, जो उसकी व्यक्तिगत उपस्थिति की आवश्यकता महसूस करते हैं एक वैयक्तिक सत्ता है। जिन्हें उसके स्पर्श की आवश्यकता है, उनके लिए वह मूर्तमान है।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गांधीजी ने उस आम-आदमी की कठिनाइयों को, जो दार्शनिक बारीकियों को नहीं समझ सकता, अच्छी तरह समझा है। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने ईश्वर को एक ऐसे मूर्तरूप में प्रस्तुत किया है जो सभी ‘सद्‌गुणों और पूर्णताओं से युक्त है’। ऐसा पूर्ण पुरुष हमारा ‘कर्माध्यक्ष’ है। और बिना उसकी आज्ञा के एक पत्ता भी डग या हिल नहीं सकता। वह एक ‘महान-लोकतंत्री’ है जो हम सभी लोगों की बुराइयाँ और बेवकूफियाँ सहता है। वह इह-लोक और परलोक दोनों में सर्वाधिक ‘कड़ा शासक’ है। वह एक ‘ईर्ष्यालु-प्रभु’ है जो अपने अधिकार में किसी को भागीदार बनने की अनुमति नहीं देता।

किन्तु अंततः यह तो ध्यान में रखना ही है कि दार्शनिक दृष्टिकोण से ईश्वर एक ‘प्रत्यय है, स्वयं ही एक नियम’ है। मनुष्य ने अपने सीमित ढंग से उसका वर्णन करने का प्रयत्न किया है और उसे विशेषणों से युक्त किया है किन्तु वस्तुतः वह सभी गुणों से परे, अनिर्वचनीय और अपरिमेय है। ईश्वर के इस तत्त्वमीमांसात्मक प्रत्यय पर गांधीजी बार-बार लौटते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि क्या ईश्वर केवल शुभ है, तो वे एक सकारात्मक उत्तर देते हैं किन्तु दूसरे ही क्षण वे यह भी कहते हैं कि शुभ- अशुभ केवल भाषाई अभि

व्यक्तियाँ हैं। ईश्वर तो शुभ-अशुभ के परे है। इसी प्रकार जब उनसे पूछा गया कि ईश्वर न्याय-प्रिय है या नहीं, तो गांधीजी ने कहा कि वह न्यायपूर्ण और दयालु है किन्तु साथ ही यह भी जोड दिया कि ये सब हमारी दुर्बल अनुभूतियों की अनुगूंज है। मनुष्य कभी-कभी मानों ईश्वर को उसका श्रेय दे रहा होता है।[३]

वस्तुत: गांधीजी के धर्म-दर्शन में धार्मिक और तत्त्वमीमांसात्मक, दोनों ही प्रवृत्तियाँ समान रूप से बलवती हैं और इनमें गांधीजी कोई विरोध नहीं देखते। अंततः यह केवल दृष्टिकोण का ही अंतर है। सारतत्त्व एक ही है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि गांधीजी, क्योंकि अकादमीय अर्थ में कोई प्रशिक्षित तत्त्वमीमांसक नहीं थे, अत: उन्होंने एक ही सत्ता के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूपों को अलग-अलग प्रस्तुत करने के लिए दो भिन्न-भिन्न पक्षों — उदाहरणार्थ, 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' — का उपयोग नहीं किया, जैसा कि शंकराचार्य ने किया है। गांधीजी ने दोनों ही अर्थों में 'ईश्वर' शब्द का ही उपयोग किया है।

गांधीजी के एकरूप अनुभव ने उन्हें पूरी तरह से यह विश्वास दिला दिया था कि सत्य के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है। और उनका यह दृढ मत बन गया था कि 'सत्' अथवा 'सत्य' ही ईश्वर का सर्वाधिक सही और समर्थक नाम है।

'सत्य' प्राय: वाक् और / या विचार के एक गुण के रूप में ग्रहण किया जाता है। ऐसा मान लेने पर गांधीजी के सूत्र, 'ईश्वर सत्य है' को समझने में कठिनाई हो जाती है। एक गुण के रूप में सत्य की व्याख्या सत्य को मूर्त यथार्थ और अनुभव से भिन्न बना देती है और तब ईश्वर को — जो सर्वव्यापी और अंतर्निहित है — केवल सत्य के रूप में प्रस्तुत करना स्वीकार नहीं किया जा सकता। सत्य जो केवल बौद्धिक है, स्पष्ट ही, समस्त वास्तविकता या यथार्थ के बराबर नहीं हो सकता। 'यथार्थ' और 'सत्य' का यही अंतर गांधीजी के सूत्र को समझने में बाधक बन जाता है।

किन्तु संस्कृत में सत्य शब्द को केवल एक गुण (विशेषण) के रूप में ही ग्रहण नहीं किया गया है। सत्य सत्ता है — इसका चरित्र वास्तविक या यथार्थ है। गांधीजी अपने एक पत्र में लिखते हैं — "ईश्वर सत्य है", इस वाक्य में "है" का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर सत्य के बराबर है और न ही यह है कि ईश्वर "सच्चा" है। 'सत्य' ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है बल्कि वह (ईश्वर) वह (सत्य) ही है। वह यदि वह नहीं है तो कुछ नहीं है। संस्कृत में सत्य का अर्थ

सत् है। सत् अर्थात् "है"। अतः 'है' में 'सत्य' निहित है। ईश्वर है औ कुछ नहीं है।"४

ईश्वर की विभिन्न परिभाषाएँ, जो उसके विभिन्न गुणों पर बल देती हैं, सभी महत्त्वपूर्ण हैं। वे सभी चकित कर देने वाली हैं। लेकिन वह परिभाषा जो ईश्वर को सत्य का पर्याय बना देती है, गांधीजी के लिए सर्वाधिक मान्य है। वे इसी को स्वीकार कर सत्य के पुजारी हो जाते हैं। ईश्वर की पूजा करना, किन्तु सत्य की अवहेलना करना– यह असंभव है। गांधीजी के अनुसार ईश्वर सत्य के अतिरिक्त और किसी रूप में पूजा नहीं जा सकता।

ईश्वर को सत्य के रूप ग्रहण करने में गांधीजी का प्रमुख आशय कदाचित् यह था कि हम कहीं यह न समझ बैठें कि ईश्वर भी हमारी ही तरह एक 'व्यक्ति' या 'पुरुष' है। सत्य का कोई 'व्यक्तित्व' नहीं होता। सत्य एक 'विचार', 'सिद्धान्त' या 'नियम' के स्वरूप का है, और साथ ही उसका अर्थ 'भावनिष्ठ' (है) होना है। 'ईश्वर सत्य है' यह सूत्र इस प्रकार यह संकेत देता है कि ईश्वर व्यक्ति न होकर एक नियम है और यह नियम केवल बौद्धिक न होकर 'भाव' निष्ठ है।

'ईश्वर सत्य है'– यह सूत्र गांधीजी को बहुत समय तक संतुष्ट नहीं रख सका। सत्य की अपनी सतत खोज में वे एक सोपान आगे बढ़े और बजाय इसके कि वे 'ईश्वर सत्य है' कहें, 'सत्य ईश्वर है', कहने लगे। इन दोनों सूत्रों में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है और यह अंतर प्रमुख रूप से आग्रह का है। सत्य पर अधिक बल देने के हेतु ही उन्होंने 'सत्य ईश्वर है' कहा।

एक तो 'ईश्वर' शब्द अस्पष्ट है और अनेक व्यक्तियों के लिए अनेकार्थी है। किन्तु सत्य के बारे में दोहरा अर्थ कभी नहीं होता। दूसरे, ईश्वर 'पुरुष' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है (उदाहरण के लिए उसे 'पुरुषोत्तम' कहा गया है) किन्तु 'सत्य' से पुरुष या व्यक्ति ध्वनित नहीं होता। यह सदैव निर्वैयक्तिक है। इसे विचार या नियम के रूप में बेहतर तरीके से जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सत्य के रूप में सभी लोग ग्रहण कर सकते हैं। सत्य में एक सार्वभौमिक अपील है। निरीश्वरवादी ईश्वर के खंडन में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, और यह उनके दृष्टिकोण से शायद ठीक भी हो। लेकिन 'सत्य' का खण्डन कोई नहीं कर सकता– निरीश्वरवादी भी नहीं। वस्तुतः स्वयं सत्य ही उनका भी ईश्वर है। और अंत में, ईश्वर के नाम पर लोगों ने अवर्णनीय अत्याचार किए हैं। ये लोग ईश्वर को सत्य के रूप में कभी नहीं पूजते, इसी से पाप

से लिप्त होकर हत्याएँ करते हैं, अपहरण करते हैं, और निर्लज्ज होकर बलपूर्वक धर्मान्तरण करवाते है। गांधीजी को विश्वास है कि यदि सत्य को ही ईश्वर समझा जाए तो कोई व्यक्ति बर्बर और अनैतिक कार्यों में कभी लिप्त नहीं हो सकता। अत: हमें ईश्वर की उपासना केवल सत्य के रूप में ही करनी चाहिए। यही कारण है कि वे ईश्वर से अधिक सत्य पर आग्रहशील हैं। इस वृत्ति के प्रमुख रूप से दो आधार हैं --

प्रथम, तत्त्वमीमांसात्मक आधार। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सत्य शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु से बना है जिसका अर्थ भाव-मूलक है। गांधी जी जब, सत्य ईश्वर है, कहते हैं, तो वे सत्य सत्ता के रूप में प्रस्तुत कर रहे होते हैं। ऐसा उन्हें शायद इसलिए आवश्यक महसूस हुआ क्योंकि अंग्रेजी में 'ट्रूथ' सत्ता या भाव बिल्कुल ध्वनित नहीं करता। सत्य को ईश्वर कहकर गांधीजी के लिए अंतिम सत्ता में विधान और विधायक गुम्फित हो जाते हैं। यानी, अंतिम नियम न केवल सत्य रूप में पुष्ट होता है बल्कि अन्य सापेक्ष नियम भी इसी से पुष्टि प्राप्त करते हैं।

दूसरे, धार्मिक आधार। यद्यपि गांधीजी ईश्वर को पुरुष रूप में स्वीकार नहीं करते परन्तु वैष्णव परंपरा में प्रशिक्षित होने के नाते वे ईश्वर की उपासना को नहीं छोड पाते। गांधीजी जीवन भर सिद्धान्तों के उपासक रहे न कि व्यक्तियों के। इसी के अनुरूप उन्होंने ईश्वर को भी एक शाश्वत नियम के रूप में पूजा। और इस प्रकार, जब वे 'सत्य ईश्वर है' कह रहे होते हैं, वे अचेतन रूप से यही संकेत दे रहे होते हैं कि केवल सत्य ही उपासना की वस्तु है और उसी की पूजा करनी चाहिए।

और अंत में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि गांधीजी ने दार्शनिक दृष्टिकोण से ईश्वर की बजाय सत्य पर बल दिया है किन्तु धार्मिक रूप से उन्होंने ईश्वर को कभी कम नहीं आंका। वस्तुतः सत्य पर उनका आग्रह गांधीजी के ईश्वर में प्रारंभिक विश्वास का ही विस्तार है। वे स्वयं कहते हैं कि यह मेरी विनम्र खोज का ही परिणाम था कि 'ईश्वर सत्य है' की जगह मुझे एक अधिक सुस्पष्ट सूत्र 'सत्य ईश्वर है' के रूप में प्राप्त हुआ। इस सूत्र के द्वारा मानों मैं ईश्वर का साक्षात्कार करने के योग्य हो सका। अब मैं उसे (ईश्वर को) अपने अस्तित्व के कण-कण में व्याप्त अनुभव करता हूँ।[5]

गांधीजी के लिए इस प्रकार सत्य केवल ईश्वर की परिभाषा नहीं है बल्कि वह स्वय ही एक भाव-मूलक (सत्त्वमीमांसात्मक) यथार्थ है। उसे 'ईश्वर सत्य है' अथवा 'सत्य ईश्वर है'-- कैसे भी व्यक्त किया जा सकता है। ईश्वर का

जब हम सत्य के रूप में पाते हैं तो मन शंकारहित होकर अपने विश्वास को आस्था में बदल देता है।

गांधीजी के लिए ईश्वर एक और सर्वव्यापी हैं। वह सब में निहित है, पत्थरों में भी। और इसीलिए जो मूर्तिपूजक हैं वे भी वस्तुतः उस मूर्ति को नहीं पूजते जिससे मूर्ति निर्मित है बल्कि उसमें व्याप्त ईश्वर को ही देखना चाहते हैं। ईश्वर तो सभी जगह हैं किन्तु वह रूप और दृष्टि के परे है, मनुष्य उसकी उपस्थिति को सदैव अनुभव नहीं कर पाता।

यह निश्चित कर पाना कि ईश्वर सारे जगत् में किस तरह व्याप्त है कठिन है, किन्तु स्थिति की फिर भी किसी सीमा तक व्याख्या की जा सकती है। गांधीजी ईश्वर को एक नियम (या विधान) के रूप में देखते हैं और इसलिए यह कहा जा सकता है कि ईश्वर जगत् में उसी तरह व्याप्त है जिस तरह वैज्ञानिक नियम संबंधित घटनाओं को संचालित करते हैं। गांधीजी लिखते हैं– एक रहस्यमय और अपरिभाष्य शक्ति है जो सभी चीजों में व्याप्त है .. विश्व में एक प्रकार की व्यवस्था है, एक अपरिवर्तनीय नियम है जिसके अधीन हर वस्तु और प्राणी का अस्तित्व है यह नियम जो समस्त जीवन को संचालित करता है, ईश्वर है ..मैं यह, अस्पष्ट रूप से ही क्यों न सही, देख सकता हूँ कि मेरे चारों ओर की सभी चीजें परिवर्तनीय और मरणशील हैं। किन्तु, एक जीवित शक्ति भी है जो इस तमाम परिवर्तन के पीछे अपरिवर्तनीय है, जो सभी का आधार है और सभी का सृजन, विध्वंस और पुनर्निर्माण करती है। यह अनुप्राणित शक्ति आत्मा या ईश्वर है। और क्योंकि वह सब जो मैं अपनी इन्द्रियों से देखता हूँ, सदैव बना रहने वाला नहीं हैं, केवल ईश्वर ही (अटल) है।[६]

उपर्युक्त उद्धरण में इस बात पर ध्यान दिया जाना जरूरी है कि गांधीजी जब ईश्वर को सृजन, विध्वंस और पुनर्निर्माण करने वाली शक्ति के रूप में देख रहे होते हैं तो यह उस अर्थ में नहीं है जिस तरह एक कुम्हार बर्तन का सृजन, विध्वंस अथवा पुनर्निर्माण करता है। ईश्वर एक नियम है और वह ठीक उसी तरह क्रियाशील है जिस तरह वैज्ञानिक नियम तथ्यों पर क्रियाशील होते हैं।

गांधीजी के अनुसार ईश्वर की सर्वव्यापी सत्ता जगत् में अंतर्भूत है, फिर भी गांधीजी एक सामान्य सर्वेश्वरवादी नहीं हैं क्योंकि ईश्वर उनके अनुसार आंतरातीत भी है। ईश्वर इस जगत् में है भी और उसके परे भी है। ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता के इस प्रकार दो पहलू हैं– एक, जो मनुष्य और जगत् का संपाती है और दूसरा, जो इनके परे है। तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष नियम की अपनी

क्रियाशीलता केवल हमारे व्यावहारिक जगत में समाप्त नहीं हो जाती बल्कि उसकी बहुत कुछ अपरिमेय शक्ति हमारे ज्ञान की परिधि के बाहर है।

गांधीजी व्यावहारिक जगत् को भ्रम के अर्थ में 'माया' नहीं मानते। माया का वस्तुतः कोई सही पर्याय है ही नहीं। व्यावहारिक जगत् के वर्णन के लिए गांधीजी आभास या प्रतीति (एपिअरेंस) शब्द का प्रयोग करते हैं और वे समस्त जगत् को अंततः आध्यात्मिक मानते हैं। भौतिक जगत् केवल आभास है और यह कपटपूर्ण है। इसे हमें वास्तविकता के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि आभाम को आभास के रूप में ही लिया जाए तो आधी लड़ाई मानों जीत ली गई है। गांधीजी ने अपनी बातचीत में एक बार आभास के तिरोहित होने को भौतिक पदार्थ का विच्छेद माना है। आभास के कपटपूर्ण चरित्र का आशय यहाँ सुस्पष्ट हो जाता है। आशय यह है कि भौतिक पदार्थ जब विच्छेदित हो जाता है, वह भौतिक नहीं रहता उसकी भौतिकता मात्र 'आभास' है। किन्तु आभास के पीछे जो 'वास्तविकता' है उससे जब हम 'आभास' की तुलना करते हैं तो आभास को अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। गांधीजी कहते हैं- तुम चाहो तो दोनों को ही यथार्थ कह सकते हो।[७] इसका आशय यह है कि दोनों की सत्ता समान न होते हुए भी, दोनों ही यथार्थ हैं। गांधीजी इस प्रकार जागतिक सत्ता को अतिम सत्ता, अर्थात् ईश्वर, के नीचे रखते हैं। गांधीजी कभी कभी जगत् को 'अयथार्थ' भी कहते हैं किन्तु इससे उनका अर्थ 'अस्थाई' अथवा 'क्षणिक' से है।

वस्तुतः गांधीजी के अनुसार व्यावहारिक जगत् न तो यथार्थ है न भ्रामक। यह एक सापेक्ष सत्य है। अंतिम सत्य ईश्वर है और क्योंकि ईश्वर एक है और विश्व एक इकाई है अतः सभी खंडित सत्य सात्त्विक सत्य से जुड़े हुए हैं। परम सत्य के प्रकाश में ही, सापेक्ष सत्यों को समझा जा सकता है।

मनुष्य के लिए भी यही बात सही है। ईश्वर परम सत्य है, मनुष्य केवल सापेक्ष-सत्य है। एक पूर्ण और असीम है, दूसरा अपूर्ण और ससीम है। केवल ईश्वर ही सर्वज्ञ है। हाड-मांस का मनुष्य अनिवार्यतः अपूर्ण है। किन्तु मनुष्य अपूर्ण होते हुए भी, एक प्रयोजनशील नियम द्वारा संचालित है। यह नियम उसे ऊपर उठने के लिए प्रेरित करता है। जीवन, गांधी कहते हैं, एक उत्कंठा है; पूर्णता और आत्मसिद्धि के लिए एक सतत प्रयत्न है। हम सब क्योंकि दुर्बल और अपूर्ण हैं, इसलिए इस आदर्श को नीचे खींचा नहीं जा सकता।[८] मनुष्य सदा से ही अपूर्ण रहेगा किन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्न करना भी मनुष्य के स्वभाव का ही एक हिस्सा है।

इसका कारण स्पष्ट है। ईश्वर क्योंकि अंतःस्थ हैं, उसकी दिव्यता के सब भागीदार हैं। जड और चेतन सभी। और यही हम सबकी उभय-पूर्णता के प्रयत्न के लिए उत्तरदायी हैं। हम सभी में स्वयं को उस दिव्यता जो सभी में अंतर्निहित है, विलीन कर देने की एक सहज उत्कंठा है।

ईश्वर अंतर्निहित है तथा उसकी दिव्यता के सभी भागीदार हैं। मनु भी इस शाश्वत नियम का एक भाग है और स्वयं ईश्वर की दिव्यता उसमें स विष्ट है। फिर भी ईश्वर में भागीदारी उसकी इतनी नगण्य है कि मनुष्य ईश से स्वयं को अलग अनुभव करता है और 'उसकी दिव्यता से एकाकार नहीं पाता। इसीलिए व्यावहारिक रूप से मनुष्य की यह 'लघुता', ईश्वर और उ संबंध को बाह्य बना देती है।

बाह्य संबंध के रहते हुए, मनुष्य धार्मिक हो जाता है और उसका व्यवहा ईश्वर के प्रति उपासनामय होता है। यह धार्मिक, उपासनामय व्यवहा ही, मनुष्य के अन्य सभी व्यापारों को एक नैतिक आधार प्रदान करता है जिस विना मनुष्य का सारा जीवन केवल शोर-शराबे का एक निरर्थक जाल बन जा है। इसी कारण, मानव-शरीर ईश-मंदिर है और ईश्वर मानवी पूजा के थ एक पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त कर लेता है।

निरपेक्ष-नियम -- अर्थात्, ईश्वर -- न केवल मनुष्य में क्रियाशील है ब प्रकृति में भी प्रेम और अहिंसा के नियम के रूप में काम करता है।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि सारा जीवन संघर्ष और रक्तप से घिरा है और एक प्राणी दूसरे प्राणी के जीवन पर निर्वाह करता है। कि वस्तुतः मनुष्य की नियति और दूसरे प्राणियों के प्रति उसका कर्तव्य संघर्ष औ रक्तपात से नहीं बल्कि सहयोग और अहिंसा से परिपूर्ण होता है। अहिंसा केवल मानव व्यवहार का बल्कि सारी सृष्टि का नियम है। गांधीजी सम जीवन को एक ही मानते हैं और उनके अनुसार जीवन की उपलब्धि के लि चेतन-अचेतन रूप से सभी मनुष्य काम कर रहे हैं।[९]

अपने सीमित सामाजिक संदर्भ में इस सार्वभौमिक एकात्मता का अ मानवी भ्रातृत्व से है। यही कारण है कि गांधीजी ईश्वर को असंख्य रूपों देखते हैं। कभी वे उसे चरखे में पाते हैं, तो कभी साम्प्रदायिक एकता में, कभी अस्पृश्यता में। और इसी प्रकार वे ईश्वर से मानों संवाद स्थापित कर चाहते हैं।

मनुष्य के स्वभाव में मूलतः पाप नहीं है। गांधीजी का यह अडिग विश्वास है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य पशुबल के साथ पैदा हुआ है किन्तु वह ईश्वर, उसमें वास करता है, की उपलब्धि के लिए जन्म लेता है। यह मनुष्य का

विशेषाधिकार है और यही वह बात है जो उसे पाशविक सृष्टि से अलग करती है। जब यदा-कदा पशु तक प्रेम के प्रभाव से वशीभूत होते गए हैं तो मानवी स्वभाव के बारे में निराश होने का कोई कारण नहीं है। मानवी स्वभाव को मानवी बने रहने के लिए, पाशविकता छोड़नी ही होगी। हमारा शरीर भले ही मनुष्य का हो किन्तु जबतक हम अहिंसा के सद्‌गुण को आत्मसात् नहीं कर लेते, हम अपने प्रतिष्ठित पुरखों--यानी बन्दरों -- के गुणों के ही भागीदार बने रहेंगे।

अत: गांधीजी के अनुसार, प्रेम के नियम, जो हम सब में ही अंतर्निहित हैं, के अनुरूप चलने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ठीक है कि जब तक मनुष्य देहधारी है, प्रेम में पूर्णता प्राप्त कर पाना सदैव एक आदर्श रहेगा जिसे पूरी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता। शरीर एक बड़ी बाधा है किन्तु इससे हमें निष्क्रिय नहीं बन जाना है। हमारा यह सतत प्रयास होना चाहिए कि हम इस पूर्णता को प्राप्त कर सकें क्योंकि मनुष्य जिस हद तक अहिंसा को प्राप्त कर पाता है, वह ईश्वर तुल्य बनता है।

प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय
मनासा (मंदसौर, म. प्र.)

–सुरेन्द्र वर्मा

टिप्पणियाँ

१. हरिजन, मई १४,१९३८ पृ. १०९;
२. यंग इंण्डिया, मार्च ३, १९२५ पृ. ८१;
३. शुक्ल, चंद्रशेखर; कंन्वरसेशंन्स ऑफ गांधीजी, बम्बई पृ. ३०७;
४. हरिजन, मार्च २७, १९४९;
५. तेंदुलकर, **महात्मा** (अंग्रेजी) खंड ६, बम्बई १९५८ पृ. १७७;
६. यंग इंडिया; १४.१०.२६. पृ. ३५९;
७. तेंदुलकर, **महात्मा** २, बम्बई १९५१ पृ. २४२;
८. वही, खंड ३, १९५१, पृ. २९;
९. वही ४, १९५२ पृ. २७४.

निर्वाण की अवधारणा और सामाजिकता का प्रश्न

निर्वाण का स्वरूप-- 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ 'बुझ जाना' है। भगवान् बुद्ध ने प्रचलित शब्द 'मोक्ष' को छोड़कर 'निर्वाण' शब्द जो चुना वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और यही अंतर वास्तव में औपनिषद् परम्परा और बौद्ध परम्परा को पृथक् करता है। 'मोक्ष' मुक्त स्थिति का वाचक है जो बन्धनों की समाप्ति के साथ उपलब्ध होती है। इसके लिए कोई तत्त्व होना चाहिए जो बन्धन में रहता है और मुक्त होकर मोक्षावस्था में रहता है। वह तत्त्व आत्मा है, जो बन्धनावस्था में अहंकारमूलक शरीर में रहता है और मुक्तावस्था में वह ब्रह्म तत्त्व में रहता है। किन्तु बुद्ध ऐसे किसी तत्त्व के बारे में कल्पना और चर्चा नहीं करना चाहते। क्योंकि यह निर्वाण के लिए उसी प्रकार अप्रासंगिक है जिस प्रकार किसी शर-विद्ध (सल्लेनविद्धो) व्यक्ति का यह हठ की वह शर तब तक नहीं निकालने देगा जब तक उसे यह नहीं बताया जाय कि शर मारने वाला कौन था, अप्रासंगिक दुराग्रह होगा।[1] किन्तु बुद्ध उससे आगे जाते हैं, वे किसी संसारी वस्तु-व्यक्ति का अस्तित्व केवल सन्तत्यात्मक मानते हैं, वे इस सन्तान के अधिष्ठान के रूप में किसी द्रव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, वे इसको क्षणात्मक भी मानते हैं और इन क्षणों में कोई संयुक्तता भी नहीं मानते, केवल नियत अनुक्रम मानते हैं।[2] बौद्धों के इस विशिष्ट सिद्धान्त को नैरात्म्यवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, यह दुःख रूप संसार प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अनित्य है, चल है, परिवर्तनशील है, अध्रुव है। धर्मों की कारण-कार्य-श्रृंखला चलती रहती है। यहाँ न आत्मा है, न अन्य है। हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा रखकर धर्म अन्य धर्मों को उत्पन्न करते रहते हैं।[3] इस सिद्धान्त का बहुत ही प्रभावशाली निरूपण हमें मिलिन्दपञ्हो में मिलता है, जहाँ राजा मिलिन्द आचार्य नागसेन से उनका नाम पूछते हैं कि महाराज 'नागसेन' नाम से मैं जाना जाता हूँ और मेरे सब्रह्मचारी मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। महाराज! यद्यपि माँ-बाप नागसेन, सूरसेन, वीरसेन या

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

सिंहसेन ऐसा कुछ नाम दे देते हैं, किन्तु ये सभी केवल व्यवहार करने के लिए संज्ञाएँ भर हैं. क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई पुरुष (आत्मा) नहीं हैं।[४] इसके बाद नागसेन बताते हैं कि किस प्रकार से अवयव से अतिरिक्त अवयवी कुछ नहीं हैं। किन्तु निर्वाणविषयक आधारभूत सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद का है, जिसके अनुसार अविद्या के साथ आरम्भ होने वाली बारह कड़ियां संसार-चक्र के रूप में भ्रमित होती रहती हैं। इस चक्र के भंग हो जाने या अवरुद्ध हो जाने पर पुनः किसी कड़ी का आविर्भाव नहीं होता । यही निर्वाण है। **ललितबिस्तर सूत्र** के अनुसार "भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे प्रथम बार अभिसम्बुद्ध हुए। उन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र का साक्षात्कार हुआ। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरामरण उत्पन्न होते हैं। अविद्या के मिटने पर संस्कार, संस्कार के मिटने पर विज्ञान, विज्ञान के मिटने पर नामरूप, नामरूप के मिटने पर षडायतन, षडायतन के मिटने पर स्पर्श, स्पर्श के मिटने पर वेदना, वेदना के मिटने पर तृष्णा, तृष्णा के मिटने पर उपादान, उपादन के मिटने पर भव, भव के मिटने पर जाति, और जाति के मिटने पर जरामरण मिट जाते हैं। इस प्रकार इस महान् दुःख स्कन्ध का निरोध होता है।"[५] यह विरोध ही निर्वाण है । **उदान** में निर्वाण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– 'सब प्रकार की तृष्णाओं के अशेषक्षय और निरोध को निर्वाण कहते हैं, जिस भिक्षु ने निर्वाण पा लिया है उसका उपादान रहित होने से, पुनर्जन्म नहीं होता ।'[६] इसमें **अभिधर्मकोश** और आगे जाता है । जिस आत्मा में आप प्रतिपन्न हैं, जिसे आप एक द्रव्य मानते हैं, जो एक भव के स्कन्धों का त्याग कर अन्य भव के स्कन्धों को ग्रहण करता है, जो अन्तरात्मा पुरुष है, उस आत्मा का अस्तित्व नहीं है। भगवत् ने वास्तव में कहा है कि "कर्म है, फल है, किन्तु कोई कारक नहीं है जो धर्मों का संकेत, अर्थात् हेतु फल सम्बन्ध-व्यवस्था से पृथक् इन स्कन्धों का परित्याग और उन स्कन्धों का ग्रहण करता है। यह संकेत क्या है ? ......प्रतीत्यसमुत्पाद (वह संकेत है)।[७] नागार्जुन की **मूलमाध्यमिक कारिका** के अनुसार, "आन्तर अहंकार और बाह्य ममकार के क्षीण हो जाने पर उपादान (अर्थात् संसार की आसक्ति) का विरोध हो जाता है और उपादान का निरोध हो जाने पर भव, जाति जरामरण का क्षय हो जाता है। कर्म-क्लेश क्षीण होने पर ही मोक्ष होता है। कर्म-क्लेश अविद्याजन्य हैं। अविद्या प्रपंच रूप है। शून्यता की अपरोक्षानुभूति होने पर प्रपंच का निरोध हो जाता

है, क्योंकि शुद्ध निर्विकल्प बोधिरूप प्रपंचशून्य शिवतत्त्व का नाम है शून्यता है"[८]

यहाँ वसुबंधु (अभिधर्मकोश) और नागार्जुन के प्रतिपादन में स्पष्ट अं प्रतीत होता है। वसुबन्धु के प्रतिपादन में केवल निषेध हैं, नागार्जुन के प्रतिपाद में निषेध पृष्ठभूमि में हैं। यह नागार्जुन के शून्यता के विवेचन से भी स्पष्ट है। **मूल माध्यामिक कारिका** की तथागत परीक्षा में वे कहते हैं: "संसार और तत् दोनों 'शून्य' हैं क्योंकि दोनों अनिर्वचनीय हैं। संसार अनिर्वचनीय है क्यों सद्सद् विलक्षण होने से उसका 'सत्' या 'असत्' रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। तत्त्व अनिर्वचनीय है क्योंकि बुद्धि उसका ग्रहण नहीं कर सकती। संसा स्वभावशून्य है क्योंकि उसमें भाव पराश्रित रहता है। तत्त्व 'प्रपंच शून्य है क्योंकि बुद्धि-विकल्प की अद्वय निर्विकल्प तत्त्व तक पहुँच नहीं जा सकती। कि यह सब व्यवहार-दशा में ही है, परमार्थ में नहीं। परमार्थ अद्वय है। वहाँ संसा और निर्वाण में कोई अंतर नहीं। परमार्थतः संसार चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त होने से न शून्य है, न अशून्य, न उभय, न अनुभय, व्यवहार दशा में ही उसे 'प्रपंच शून्य' कहा जाता है।"[९] नागार्जुन जो परिभाषा जगत् की देते हैं: चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त: वही परिभाषा निर्वाण की देते हैं। उनके अनुसार "निर्वाण चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। वह न भाव है, न अभाव, न भावाभाव और न भावाभा विलक्षण।"[१०] वास्तव में संसार और निर्वाण में कोई अंतर नहीं है। व्याव-हारिक हेतु प्रत्यय-सापेक्षता की दृष्टि से जो संसार रूप से प्रतीत हो रहा है व पारमार्थिक निरपेक्षता की दृष्टि से निर्वाण है।[११]

नागार्जुन का यह सम्पूर्ण प्रतिपादन सहज में ही शंकर के विवर्तवाद क स्मरण कराता है। विवर्तवाद के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र और अद्वय सत्ता है और ब्रह्म रूप में सत् है। सो, परमार्थतः जगत् ब्रह्म ही है, किन्तु सापेक्ष दृष्टि के लिए यह जगत् है। 'विवर्त' का अर्थ है, जहां उपादान अपरिवर्तित औ निष्क्रिय रहता है, और इस प्रकार वह कार्य में परिणत नहीं होता। कार्य केव प्रतीति है। इस प्रतीति को आभास के वजाय प्रतिभास इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सद्ब्रह्म को आश्रित कर आभासित होता है।[१२] किन्तु इस आश को और भी अधिक अच्छी तरह व्यक्त करने वाला वेदान्तिक पद अजातिवा हैं।[१३] शांकर अद्वैतवाद के नागार्जुन के शून्यवाद और वसुबन्धु के विज्ञानवा से अत्यधिक साम्य होने के कारण ही बहुत से आधुनिक विचारक शंकर क प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। किन्तु वास्तव में बात यह है कि बौद्ध उपनिषदों से बहु साम्य रखते हैं, जैसाकि डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे ने अपनी पुस्तक बौद्ध धर्म

विकास का इतिहास में स्थान-स्थान पर दिखाया है। और शंकर प्रत्यक्षतः ही वेदान्त सूत्रों के शारीरक भाष्य में प्रमाण के रूप में उपनिषदों का ही आश्रय लेते हैं। इसलिए दोनों में यह साम्य होना स्वाभाविक है। किन्तु तब भी एक गंभीर अंतर है। वह अन्तर यह है कि बुद्ध और बौद्ध श्रमण-परम्परा में हैं तथा उपनिषद् और शंकर वैदिक परम्परा में। किन्तु उपनिषद् श्रमण-परम्परा से प्रभावित वैदिक परम्परा हैं और बुद्ध तथा उनके अनुयायियों को वैदिक परम्परा से यत्किंचित् प्रभावित श्रमण-परम्परा कह सकते हैं। इन परम्पराओं में अंतर यह था कि श्रमण परम्परा जबकि पूर्णतः निवृत्तिवादी थी, वैदिक परम्परा प्रवृत्तिवादी थी। उपनिषदों में आद्य तत्त्व को 'असत्'[१४] 'अनिर्वचनीय 'नेति-नेति द्वारा संकेत्य'[१५] कहा गया है,' वह श्रमण-परम्परा का प्रभाव ही प्रतीत होता है। उपनिषदों में संन्यासवाद का प्रतिपादन भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है: उपनिषदों के अधिकांश ऋषि स्वयं संन्यासी थे, यह श्रमण परम्परा का प्रभाव कहा जा सकता है। किन्तु उपनिषद् आद्यतत्व को आनन्द-घन कहते हैं, सृष्टि की उत्पत्ति आनन्द से मानते हैं[१६] और मनुष्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा आनन्दमय कोश में मानते हैं।[१७] किन्तु यह आनन्दमय कोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन सबके ऊपर है। इस प्रकार यह आनन्द वही है जो बौद्धों में संबोधि है, किन्तु तब भी एक आधारभूत अन्तर है। उपनिषद् जबकि भूतों की उत्पत्ति आनन्द से मानते हैं, बुद्ध अविद्या से। ऐसा नहीं है कि अन्य वैदिक दर्शन जगत् की उत्पत्ति अविद्या से नहीं मानते, सांख्य और शंकर वेदान्त मानते हैं, किन्तु उपनिषद् नहीं मानते। किन्तु उपनिषद् सांसारिकता को हेय मानते हैं जैसाकि उपनिषदों में स्थान स्थान पर देखा जा सकता है। यहां बृहदारण्यकोपनिषद् से एक अंश उद्धृत किया जा रहा है: इसी (आत्मजिज्ञासा) से प्राचीन काल में विद्वान् संसार की इच्छा से विरत रहते हुए सोचते थे कि हम सन्तान का क्या करेंगे? हमारा तो यह आत्मा ही लोक है। वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से उठकर भिक्षावृत्ति करते थे क्योंकि पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है और वित्तैषणा ही लोकैषणा है।[१८] इस प्रकार उपनिषदों में संन्यासवाद की श्रेष्ठता का प्रतिपादन स्पष्ट है जो श्रमण परम्परा के अनुकूल है। किन्तु उपनिषदों में दृष्टि परिवर्तन पर अधिक बल है, जैसाकि जनक के उदाहरण से स्पष्ट है, व्यवहार पर कम। इसके विपरीत जैनों में व्यवहार पर अधिक बल है, जबकि जैन अद्वैतवादी नहीं हैं. नैरात्म्यवाद तो दूर की बात है। बुद्ध इसमें मध्यममार्गी हैं। उनमें दृष्टि सर्वोपरि है: सम्यक् दृष्टि, किन्तु साथ ही सम्यक् चर्या भी महत्त्वपूर्ण है। किन्तु उनकी चर्या जैनों के समान कृच्छ् नहीं है; कायक्लेश उनके अनुसार हेय है,

किन्तु तब भी मिक्खु-वृत्ति और आजीवन ब्रह्मचर्य आर्यजन के लिए अनिवार्यतः आचरणीय थे। अरम्भ में बौद्ध धर्म मुख्यतः व्यवहारात्मक ही था, गूढ़ चिन्तन उसमें हेय था, जैसाकि बुद्ध के अव्याकृतबाद और मौन से स्पष्ट है। **मज्झिमनिकाय** में बुद्ध मिक्षुओं से कहते हैं: मिक्खुओं, जो कोई यह कहे कि मैं तब तक भगवान के पास ब्रह्मचर्य वास नहीं करूँगा जब तक भगवान् मुझे यह नही बता दे कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनंत, जीव और शरीर एक ही है या भिन्न, तथागत मरने के बाद भी विद्यमान रहते हैं या नहीं. तो मिक्षुओं! तथागत ने इन प्रश्नों को अव्याकृत बताया है।[१९] किन्तु पीछे इसी दृष्टि ने सूक्ष्मतम दार्शनिक कल्पनाओं को जन्म दिया, जैसाकि अपोहवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद में हम देख सकते हैं और जैसाकि मूल माध्यमिक कारिका के ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। उसमें संसार और परमार्थ में तात्त्विक अभेद और केवल दृष्टि-भेद कहा गया है, परमार्थ को अव्याकरणीय: 'ये धम्मा न मनसि करणीया' कहकर छोडा नहीं गया है, बल्कि बुद्धि द्वारा अविकल्प, प्रपंचातीत तथागत तत्त्व कहा गया है।[२०] इस तत्त्व या निर्वाण को ये आत्यन्तिक सुख (एकान्तं सुखं निब्बाणं, दुःखेन अभिस्सम)[२१] भी कहते हैं। यह उपनिषद् परम्परा के बहुत निकट है। किन्तु केवल निकट है, अभिन्न् नहीं है।

निर्वाण और समाज में संगति– इस प्रश्न के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो पक्ष किये जा सकते हैं। सैद्धान्कि पक्ष में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या सदेह–निर्वाण सम्भव है, और यदि सम्भव है तो क्या ऐसा व्यक्ति सामाजिक हो सकता है? दूसरे, क्या निर्वाण-साधना व्यक्ति साधना नहीं है और इस प्रकार यह व्यक्ति को समाज के प्रति निरपेक्ष, बल्कि विमुख नहीं बना देती? व्यवहारिक पक्ष में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या निर्वाण की साधना समाज को पूर्वापेक्षित नहीं करती? अर्थात् यदि समाज नहीं तो क्या निर्वाण का विचार भी सम्मव है? और यदि सम्मव नहीं है, तो क्या निर्वाण साधकों द्वारा समाज की उपेक्षा कृतघ्नता नहीं है? ये प्रश्न मोक्ष और निर्वाण पर विचार के प्रसंग में उठे हैं, इसका प्रमाण ब्राह्मणों में सदेह मुक्ति या जीवन्मुक्ति की अवधारणा से एक ओर तथा आत्म-मुक्ति और सर्वमुक्ति की आवधारणाओं से दूसरी ओर मिलता है। बौद्धों में बोधि-सत्त्व और बुद्ध में अन्तर, मुक्त बुद्ध के देह धारण, तथा करुणा और महाकरुणा की चर्चाओं से यह स्पष्ट है कि उनके सम्मुख भी यह प्रश्न उपस्थित था।

क्या सदेह मुक्ति सम्भव है? कुछ वेदांतियों का उत्तर था कि सम्भव नहीं है. दूसरों का उत्तर था कि सम्भव है। बौद्धों का सामान्य रूप से उत्तर था कि

सम्भव नहीं है। अब यदि यह सम्भव नहीं है तो फिर भगवान् बुद्ध क्या मुक्त नहीं थे? क्या वे मृत्यु के बाद ही मुक्त हुए? इसका समधान उन्होंने किया कि उनकी देह भौतिक नहीं थी, संकल्प निर्मित थी, जिसे वे 'निर्माण काय' कहते थे।

सदेह मुक्ति मानने वाले वेदांतियों का मत था कि मुक्ति दृष्टि-मूलक होती है। ज्ञान हो जाने पर मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है,देह उसके लिए बाधक नहीं होता, क्योंकि वह देह की वासनाओं और वेदनाओं के प्रति तटस्थ हो जाता है। गीता वास्तव में इसी मुक्ति की बात करती है, निष्काम कर्मयोग इसी मुक्ति की साधना है। किन्तु सदेह मुक्ति स्वीकार करने में तत्त्वमीमांसीय कठिनाई आती है। वह यह कि देह मनुष्य को देश काल में बांधता है, वह एक सीमा से बाहर और वर्तमान से आगे पीछे नहीं देख सकता। यह स्वभावतः बन्धन है। बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध को सर्वज्ञ मानते थे, वेदान्ती भी मुक्त पुरुष को असर्वज्ञ नहीं कह सकते। गीता की दृष्टि सांख्यीय है. उसके अनुसार, मनुष्य के निष्काम हो जाने पर देह उसके लिए त्रैगुण्य विकार मात्र रह जाता है जो अपने नियमों से गतिमान् रहता है, और पुरुष द्रष्ट्र भाव से उस व्यापार को देखता है।[२२] किन्तु यह बात वेदान्ती और बौद्ध नहीं कह सकते, जिनके अनुसार देह प्रातिभासिक जगत् की कारण- श्रृंखला में एक कडी है और इसी प्रकार अंतःकरण, इन्द्रियां आदि हैं। परिणामतः निर्वाण की सिद्धि हो जाने पर देह का अस्तित्व नहीं रहा सकता।[२३]

किन्तु थोडा गहराई से देखने पर इस विचार की अयुक्तता प्रकट हो जाती है। वेदांतियों और बौद्धों (विज्ञानवादियों और शून्यवादियों) के अनुसार जगत् परमर्थतः अतत्त्व है, ऐसी अवस्था में देह तो किसी भी अवस्था में नहीं है, शिवाय दृष्टि-दोष के। इसलिए इस दोष के होने पर जैसे देह अतत्त्व होने पर भी है, उसी प्रकार इस दोष के हट जाने पर भी वह है। अर्थात् देह की विद्यमानता सदोष दृष्टि के लिए तत्त्वतः है, और निर्दोष दृष्टि के लिए केवल व्यवहारतः है।[२४] अब जहां तक देह के कारण सीमितता होने का प्रश्न है, यह द्रष्टव्य है कि 'सर्वज्ञता' एक निरर्थक शब्द है, क्योंकि यदि सर्वज्ञता का अर्थ सार्वदैशिक और सार्वकालिक ज्ञान को कहा जाय तब इसका अर्थ है देश और काल की पारमार्थिक तात्त्विकता स्वीकार करना, जो न वेदांती स्वीकार करते हैं और न बौद्ध। और यदि इनकी तात्त्विकता स्वीकार की जाय तब देश की और काल की त्रि-आयामत्यकताओं को स्वीकार करना होगा, और तब हम भी इन त्रि-आयामों से मुक्त नहीं हो सकते। परिणामतः तब हम देश में वस्तुओं को सब कोणों से और काल में अतीत और भविष्यत् में, नहीं देख सकते। और यदि देश कौर काल को असीम मानें तब वैसे ही सर्वज्ञता सम्भव नहीं है। किन्तु ज्यामिति के और काल-

धर्मता के ज्ञान से हम विशेष वस्तुओं को देखे बिना भी उनके इन दो पक्षों के बारे में सम्पूर्णतः बता सकते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञता वास्तव में तत्त्वों या वर्गों के ज्ञान के माध्यम से ही संभव है। प्लेटो की प्रत्ययों को सत् और देश-कालगत वस्तुओं को असत् कहने में कुछ ऐसी ही दृष्टि है। भारत में सर्वज्ञता के लिए बड़ा आकर्षण था, किन्तु एक दूसरी अवधारणा तत्त्वज्ञ की भी थी। यह अवधारणा युक्तियुक्त थी और जैसाकि हम आगे देखेंगे, बौद्धों की महाकरुणा की दृष्टि के साथ संगत भी थी। तत्त्वज्ञ के विपरीत सर्वज्ञ होने में इसके अतिरिक्त और कोई गुण भी नहीं है कि ऐसे व्यक्ति को सब कुछ पता होगा। अब यदि किसी व्यक्ति को यह पता हो कि तीनों कालों में और सब ग्रहों नक्षत्रों पर कितने मकान होंगे और उनमें कितनी ईंटें लगी होंगी, इसी प्रकार कितने मनुष्य होंगे और उनके कितने और क्या मनोभाव होंगे, तो इससे उसकी दृष्टि तथा चरित्र में कोई उत्कर्ष नहीं होगा। किन्तु इसके विपरीत 'शुनि चैव श्वपाके च समदर्शिता' मनुष्य को सिद्ध पुरुष बनाती है, और यह समदर्शिता जगत्तत्त्व में अन्तर्दृष्टि से प्राप्त होती है।

ऐसा ही दृष्टिकोण सर्व मुक्ति विषयक विचार में है। सर्वमुक्ति की बात दो सन्दर्भों में की गई है: एक तो नैतिक सन्दर्भ में और दूसरी तत्त्वमीमांसीय सन्दर्भ में। नैतिक सन्दर्भ का आधार सामाजिक था, कि यदि मुक्ति वांछनीय स्थिति है तो व्यक्ति को उसका अनुसरण अपने तक सीमित नहीं रखना चाहिए बल्कि सबको उसके लिए प्रेरित करना चाहिए। बुद्ध के निर्माण-काय धारण का प्रयोजन यही था। तत्त्व-मीमांसीय सन्दर्भ था कि एक व्यक्ति मुक्त हो ही कैसे सकता है? क्योंकि मुक्त हो जाने का अर्थ है ब्रह्म हो जाना, और मनुष्य ब्रह्म तभी हो सकता है यदि सब कुछ ब्रह्म हो जाय। यह दूसरा सन्दर्भ स्पष्ट भ्रांति पर आधारित है, क्योंकि इसमें यह धारणा है मानों जगत् की मूल अविद्या कोई ऐसी वस्तु है जो समग्र जगत् के रूप में समग्रतः रहती और समग्रतः नष्ट होती है, इसलिए यह परिवर्तन या आभास समाप्त होने का अर्थ है सब मनुष्यों का ब्रह्म हो जाना। नहीं तो यह कैसे सम्भव है कि एक आत्मा ब्रह्म हो जाय और बाकी आत्मा ज्यों के त्यों बने रहें।[२५].

किन्तु जहां तक पहले सन्दर्भ (सर्वमुक्ति) का प्रश्न है, वह भावना में उपयुक्त होने पर भी एक भ्रम पर आधारित है, कि मानों मुक्त या मोक्ष-साध व्यक्ति में कोई स्वार्थ परार्थ का भेद हो सकता है, कि उसमें कुछ निजी और प भी हो सकता है। क्योंकि मोक्ष साधना का पहला चरण अहंकार-त्याग है जिसका अर्थ है अस्तित्त्व के सब स्तरों—इन्द्रिय, अंतःकरण और बुद्धि—पर एकां

गिता, दृष्टि-भेद और अस्मिता का समर्पण। बुद्ध इसमें और आगे गए और उन्होंने व्यक्तित्व के अतिक्रामी आधार आत्मा तक का निषेध कर दिया। सो, निर्वाण-साधना की पहली शर्त सीमाओं का आदि से अन्त तक त्याग है। ऐसी अवस्था में व्यक्तिगत और सामाजिक के भेद का कहीं प्रश्न ही नहीं रहता। अधिक ठीक शब्दों में कहें, इसमें कुछ व्यक्तिगत ही नहीं रह जाता। इसमें यह बात आगन्तुक है कि ऐसा साधक या सिद्ध वास्तव सामाजिक रंगमंच पर उतर कर कुछ करता है, या कि एकांत साधना में लीन रहता है। यह बात इस भूमिका पर केवल बाहरी है, आगन्तुक है, आधारभूत नहीं।

किन्तु बुद्ध वास्तव सामाजिक रंगमंच पर उतरे थे और उन्होंने समाज में रहकर दुःखोच्छेद के लिए धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया था। किन्तु यदि उनके कार्य को संकुचित सामाजिकता के मानदण्ड पर नापा जाय तो एक प्रकार से वह आसामाजिक कार्य ही था, और वही वह हो सकता था; किन्तु एक उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर वह असामाजिक कार्य नहीं था, वह उन्नत सामाजिक कार्य था। संकुचित सामाजिकता वंश-वृद्धि और अर्थ-वृद्धि में, और इनके लिए सहायक व्यवस्था के पोषण में है। मार्क्स, रूसो, माओत्जेतुंग, गांधी और महाराजा अशोक ने अपनी विधि से यही किया, यद्यपि अशोक ने थोड़ा भिन्न भी किया और गांधी का लक्ष्य भी भिन्न था। किन्तु बुद्ध ने यह नहीं किया, उन्होंने एक प्रकार से वंश-वृद्धि और अर्थ-वृद्धि के विपरीत कार्य किया और उन्होंने लोगों के दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के निवारण के लिए भी कुछ नहीं किया। पीछे बौद्धों ने 'करुणा' और 'महाकरुणा' में जो भेद किया वह बहुत अर्थ गर्भित है। डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डे के शब्दों में, जो उन्होंने **अभिधर्मकोश** के आधार पर लिखे हैं, "बुद्ध की महाकरुणा साधारण श्रावक की महाकरुणा से विभिन्न है। महाकरुणा संवृत्ति की प्रज्ञा (जगत् के प्रातिभासिक स्वरूप की प्रज्ञा) है, करुणा अद्वेष है। पुण्य और ज्ञान के महान् संसार से महाकरुणा का समुदागम होता है। तीन दुःखताओं को महाकरुणा लक्षित करती है, करुणा केवल दुःखता को ही आकारित करती है। तीनों धातुओं के सत्त्व महाकरुणा के आलंबन हैं। ………… करुणा अद्वेष है, महाकरुणा अमोह। …… करुणा की भूमि ध्यान–चतुष्टय है, महाकरुणा की चतुर्थध्यान। ………करुणा कामधातु विषयक वैराग्य से उत्पन्न होती है, महाकरुणा भवाग्र विषयक वैराग्य से। …………करुणा श्रावकों के चित्त में उत्पन्न द्रवितता है, यह संसारभय से परित्राण नहीं है। करुणा केवल दुःखितों की ओर अभिमुख है, महाकरुणा सबकी ओर।" [२६]

इस सम्पूर्ण उद्धरण में एक ही बात बार-बार दुहराई गई है कि करुणा अन्य मनुष्यों या जीवों के दु:ख के प्रति हृदय का द्राव है, महाकरुणा चित्त की भूमि से ऊपर उठे हुए बुद्धत्व का भव-बाधाग्रस्त मात्र के प्रति कृपाभाव है। इसी प्रकार करुणा को अद्वेष (सहानुभूति, पर-दु:ख-कातरता) कहा है और इ प्रकार दु:खितों के प्रति अभिमुखता कहा है, इसके विपरीत महाकरुणा को अमोह (दृष्टि, प्रज्ञा) कहा है जो जीव मात्र के प्रति उन्मुख है, चाहे वह रोग-शोक युक्त हो और चाहे हर्ष-उल्लास से, क्योंकि उसके लिए सब समान रूप से दु:ख हैं, क्योंकि वे अविद्यामूलक प्रतीत्यसमुत्पाद में आबद्ध हैं। इससे जैसाकि स्पष्ट है करुणा एक सामाजिक मनोभाव है, महाकरुणा तत्त्व-दृष्टि (मेटाफिजिकल इन्साइट) इस प्रकार निर्वापित (निर्वाण-सिद्ध) बुद्ध-तत्त्व सामाजिक नहीं होता। किन्तु तब वह असामाजिक भी नहीं होता, वह उस सोपान-क्रम का अतिक्रमण करके, जिसमें सामाजिकता एक उच्च सोपान है, समाज के लिए परम आदर्श के रूप में स्थि होता है। उदाहरणत:, सामाजिकता का आरम्भ परिवार से ही हो जाता है, उस प्रति आत्मसमर्पण, जैसे राम का दशरथ के प्रति और लक्ष्मण का राम के प्रति भी सामाजिकता है। यह क्रमश: उच्चतर सामाजिकता है कि कोई परिवार क सुख ग्राम के सुख के लिए, ग्राम का सुख नगर के सुख के लिए, और नगर का सुख देश के सुख के लिए त्याग करें। किन्तु जो देश के सुख को मानवता के सुख अधीन करें वह व्यक्ति उच्चतम है। किन्तु तब वह एक प्रकार से समाज से ऊ हो जाता है, क्योंकि समाज एक ठोस इकाई होता हैं। किन्तु जो मनुष्य को धर्मता या परमार्थ के आगे गौण करके रखता है वह सर्व प्रकारेण सामाजिक का अतिक्रमण करता है, किन्तु जैसे मानवता में देश, देश में नगर आदि आदि सन्निहित हैं, उसी प्रकार उस परम पद में निम्न पद सन्निहित हैं।

किन्तु तब भी एक अन्तर है; व्यक्ति के रूप में, अर्थात् अस्तित्व के स्तर प दैहिक कर्म के स्तर पर, कोई सत्त्व एक साथ सबके लिए कुछ नहीं कर सक है। वह यदि गांधी की तरह राजनीतिक और सामाजिक अन्याय को समाप्त कर की ओर प्रवृत्त होता है तो वह उनकी दैहिक भौतिक बाधाओं की ओर पू ध्यान नहीं दे सकता, यदि वह उनके आर्थिक अन्याय की ओर ध्यान देता है वह उनके कलात्मक और वैचारिक उत्कर्ष की ओर ध्यान नहीं दे सकता, य वह उनके कलात्मक और बौद्धिक पक्ष की ओर ध्यान देता है तो अन्य प उपेक्षित रहते हैं। कोई कह सकता है कि सबसे पहले रोग-शोक का निवार आवश्यक है, क्योंकि देह अस्तित्व का आधार है, और इसको निर्विघ्न किये बि उच्चतर अन्वेषणों की चिन्ता व्यर्थ है, किन्तु तब आप शूकर-धर्मी भौतिकवा पर ही रुक जायेंगे। इसके अतिरिक्त, यदि आपकी दृष्टि अर्थों के अन्वेषण

भौतिक-सामाजिक अन्वेषणों की गौणता और निर्वाणान्वेषण की मुख्यता दिखाती है तो आप क्या करेंगे ? बुद्ध ने रोग और जरा और मृत्यु को देखा । इस पर वे औषध-विज्ञान की खोज में भी प्रवृत्त हो सकते थे, किन्तु इस साक्षात्कार ने उन्हें एक और दृष्टि दी, उन्हें इससे अस्तित्व की आगन्तुकता दिखाई दी और वे उस आधार की खोज की ओर अग्रसर हुए जो अभेद्य रूप से दृढ है, जो भौतिक और अनिवार्य है, और इस आधार को पाकर वे जन-जन को वही आधार देखने और उसपर प्रतिष्ठित होने के लिए प्रेरित करने लगे । इसलिए, उन्होंने सबका आवाहन किया कि वे अविद्या का मार्ग त्याग कर ज्ञान का प्रशस्त मार्ग ग्रहण करें– आर्य-सत्य का मार्ग, प्रज्ञापारमिता का मार्ग ।[२७] इस पर कहा जायेगा कि यदि सबके सब लोग बौद्ध भिक्षु हो जाये तो कुछ ही वर्षों में मानव-संतति ही नष्ट हो जायेगी । भिक्षुओं को भोजन-वस्त्र भी नहीं मिलेगा । इसका उत्तर बुद्ध देंगे कि, "यदि ऐसा संभव हो तो इसमें कोई दोष नहीं है, यह सर्वोच्च साध्य की सिद्धि का क्षण ही होगा ।" किन्तु व्यवहार में यह सम्भव नहीं है, व्यवहार में सब स्तरों के लोग रहेंगे । किन्तु जब जो प्रकाश को स्वयं नहीं देख सकते वे प्रकाश देखने वालों को भोजन-वस्त्र देंगे और उनका अनुसरण करने के प्रयत्न के द्वारा अपने जीवन को पशु के स्तर से उठा सकेंगे । संस्कृति का निर्माण इसी स्तर पर होता है । यह समाज की कितनी बड़ी सेवा है ?

इसे नैतिक दृष्टि के उदाहरण से देखें । नैतिक दृष्टि (उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध) दैहिक सुख-दृष्टि से पृथक् और ऊर्ध्वंगामी दृष्टि है । निम्न स्तरों पर यह अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि के सामान्य व्यवहारों को परिचालित करती है और उच्चतर स्तरों पर यह गांधी, दयानंद और कबीर के व्यक्तित्वों में निखार पाती है । अब यह दृष्टि रोग-शोक से प्रत्यक्षतः असम्बद्ध है, किन्तु इसके बिना समाज की कल्पना ही असम्भव है । इस प्रकार, समाज का आधार वास्तव में नैतिक है, जबकि उसके अस्तित्व की आवश्यकताएँ दूसरी भी हैं । किन्तु उच्चतर स्तरों पर इस आधार का अनुसरण भी आपको समाज से परे ले जाता है । उदाहरणतः, अहिंसा का आत्यन्तिक पालन ठोस सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में प्रायः असंभव होता है । किन्तु इसलिए आप नीति का आत्यन्तिक रूप से अनुसरण करने वाले व्यक्ति को असामाजिक नहीं कह सकते, उसे समाज के बाहर आदर्श के रूप में स्थापित करते हैं ।

निर्वाण-मार्ग का अनुसरण इससे और आगे है । किन्तु उसी क्रम में है । निर्वाण का अनुसरण उसी प्रकार अनेक स्तरों पर होता है जिस प्रकार नीति का । स्वयं बौद्ध धर्म में ही बुद्धत्व प्राप्ति से पहले अनेक स्तर बनाये गए हैं, उदाहरण

के लिए श्रावक, बोधिसत्व, तथा बुद्ध। स्वयं श्रावकों के और बोद्धिसत्त्वों के भी अनेक स्तर हैं।[२८] उसके आरम्भिक स्तरों में युक्तियुक्त विचार, पर-दुःख-कातरता, कर्तव्यपरायणता आदि आते हैं। इसी मार्ग की उच्चतम भूमि पर बुद्ध स्थित हैं जो आदर्श के रूप में शेष सब भूमियों को प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार निर्वाण के अन्वेषण को मनुष्यता का एक सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। मनुष्य के इसी सामान्य लक्षण (परमार्थान्वेषण) के कारण सर्वत्र गृहस्थ लोग त्यागी संन्यासियों का आदर करते हैं और यही कारण है कि बौद्ध धर्म क्षणिकवाद. शून्यवाद और नैरात्म्यवाद जैसे अत्यधिक असामान्य और संसार-विमुखगामी सिद्धातों के बावजूद इतने व्यापक भू-भाग में फैला।

पी—५१, मधुबन पश्चिम,
टोंक रोड,
जयपुर-३९२०१५

— मधुमत

टिप्पणियाँ

१. **मज्झिमनिकाय**, अनु. राहुल सांकृत्यायन, चूल-मालुक्य सुत्त, न. ६३ पृ. २५।

२. एफ्. द. शर्बात्स्की, **बुद्धिस्ट लॉजिक,** भाग १, पृ. ११९-१२१.

३. बुद्धघोष कृत अट्ठकथा, (अर्थ-कथा)। यहां डॉ. चंद्रधर शर्मा द्वारा संपादित और अनुदित **सौगत सिद्धान्त सार संग्रह** पृ. १०८ से उद्धृत

५. **मिलिन्द प्रश्न,** अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ. ३०.

महायान वैपुल्य सूत्र (१) ललित विस्तर सूत्र उद्धृत सौ. सि. सा. सं. पृ. ११४ .

६. खुद्दकनिकाय (३) उदान, उद्धृत- सौ. सि. सा. सं पृ. १०३

७. वसुबन्धु कृत **अभिधर्मकोश,** अनु. आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. ३०

८. नागार्जुन, **मूलमाध्यमिककारिका,** १८.४ तथा १८.५। सौगत

सिद्धान्त सार संग्रह में संकलित, पृ. सं. १३६. यहां यह द्रष्टव्य है कि मूलकारिका में 'शून्यता शिव तत्त्व है" ऐसा नहीं कहा गया है, यह अनुवादक ने अपनी ओर से जोड़ा है। मूल कारिका इस प्रकार है:

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्ष : कर्मक्लेशा विकल्पताः ।
ते प्रपंचात् प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुद्ध्यते । १८.५

९. वही, का. २२.११ (सौ. सि सा. सं., पृ. १३७)
१०. वही, का. २५.५१
११. वही, का. २५.१९
१२. 'विवर्तवाद' के लिए द्रष्टव्य धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा हिन्दी अनु. विद्यानन्द जिज्ञासु, पृ. ११९-१२२
१३. द्रष्टव्य– एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन् फिलॉसफी, खंड ३ (अद्वैत वेदान्त), सं. कार्ल पॉटर, पृ. ७.
१४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.७.१
१५. बृहदारण्यकोपनिषद्, २.३.६
१६ तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली ३, षष्ठ अनुवाक
१७. वही, वल्ली-२, अनुवाक ५
१८. बृहदारण्यकोपनिषद्, अ. ४. ब्राह्मण ४. अनुच्छेद २२
१९. मज्झिमनिकाय, २।२।३ पृ. २५.
२० प्रपंचयंति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम् । ते प्रपंचहताः सर्वे न पश्यंति तथागतम् । मूलमाध्यमिक कारिका, २२.१५
२२. मिलिन्द प्रश्न, ४.६४
२२. भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लोक ५
२३. वेदांतियों ने इस प्रश्न पर विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार, ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के कारण शरीर तब तक बना रहता है जब तक उन कर्मों का भोग पूरा नहीं हो जाता। द्रष्टव्य शंकर– शारीरक भाष्य, ४.१.१५, ४.१.१९ तथा वेदान्त परिभाषा वही, पृ. ४४३-४४४। बुद्ध ने इस प्रश्न को अव्याकृत बताया है, जैसाकि पीछे हमने देखा कि यह प्रश्न कि तथागत मृत्यु के बाद रहते हैं या नहीं, यह अव्याकृत है। किन्तु बौद्धों द्वारा बुद्ध को निर्वाण-काय कहना इस बात का द्योतक है कि वे मुक्त का भौतिक देह में नहीं स्वीकार करते। बौद्धों के अनुसार 'बुद्ध' और 'निर्वाण सिद्ध' पर्यायवाची पद हैं।

२४. शंकराचार्य, बृहदारण्यक भाष्य, ४.४.६ एनसाइक्लोपीडिया आं इंडियन फिलासफीज, अंग्रेजी अनु. कार्ल पॉटर, खण्ड ३, पृ. २०२१ त आत्मबोध, पृ. ४९-५३.

२५. वेदान्त परिभाषा, वहीं पृ. ४४४.

२६. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. ३४ ३४८ (रेखांकन तथा कोष्ठक हमारा)

२७. वहां राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते हुए भगवान् बहु भिक्षुओं को यह धर्म-कथा कहते थे— ऐसी समाधि है, ऐसी प्रज्ञा है। शील से परिभावित समाधि महाफलवाली महाआनृशंसवाली, होती है। प्रज्ञा से परिभावित चित्त आस्रवों— कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव से अच्छी तरह मुक्त होता है।

२८. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पूर्वः, पृ. ३६१-६२ तथा आचार्य नरेन्द्र दे बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ ३८७ (बोधिसत्त्व के गोत्र)

कार्ल यास्पर्सीय गुप्तभाषा : एक दार्शनिक अध्ययन

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रयोज्य है कार्ल यास्पर्स द्वारा प्रतिपादित 'गुप्त भाषा की अवधारणा का स्पष्टीकरण।

अस्तित्ववादी दार्शनिक कार्ल यास्पर्स की गुप्त भाषा की अवधारणा को सम्यक् स्पष्ट करने एवं व्यावहारिक रूप से मूल्याङ्कित करने-हेतु उसकी सापेक्ष अवधारणा–द्वय : 'अतिक्रमणता की अवधारणा' और 'सीमा-स्थिति' की अवधारणा का स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है।

क) 'अतिक्रमणता' की अवधारणा–

कार्ल यास्पर्स का ऐसा मत है कि विज्ञान के आगे दार्शनिक रहस्यात्मक चिन्तन प्रारंभ होता है। इस दृश्यमसार के पीछे एक अदृश्य जगत् है। जो सम्मुख अर्थात दृष्टि-गत है, वही सब कुछ नहीं है।[1] 'अतिक्रमण' क्या है? इसे जानने के लिये हमें इस दृश्यमान् जगत् और इसके परे जगत् को, जो अदृश्य एवं रहस्य–गर्भी है, समझने का प्रयत्न करना चाहिये। इस सन्दर्भ में 'आवृत्ति' की अवधारणा का विवेचन अतिमहत्त्वपूर्ण है। यास्पर्स के मतानुसार आवृत्ती के दो प्रधान भेद हैं[2]

१. आवृत्ति जो हम हैं।
(दास उमग्रेइ फेन्ड दास वीर सिन्ड)

२. आवृत्ति जो परम सत् है।
(दास उमग्रेइ फेन्ड दास दास झैन झेल्बस्ट इस्ट)

कार्ल यास्पर्स के विचार से आवृत्ति के इन प्रधान भेदों के अनेक उपभेद हैं। 'आवृत्ति जो हम हैं' के चार उपभेद हैं :

१. आनुभविक अस्तित्व (दाझाइन)
२. सामान्य चेतना (बीवस्टसीन ऊबर हाप्ट)

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून १९८७

३. आत्मा (गाइस्ट)
४. प्रामाणिक अस्तित्व (एक्जिस्टेन्स)

'आवृत्ति जो परम सत् है' के दो उपभेद हैं :

१. संसार (वेल्ट)
२. अतिक्रमण (ट्रान्सेण्डेन्स)

आवृत्ति के प्रधान प्रकार 'आवृत्ति जो हम हैं' के चारों लघु प्रकारों द्वा 'आवृत्ति जो परम सत् है' के लघुप्रकारों का ज्ञान होता है। इस अवबोध उपलब्धि में उत्प्लवन (झम्पा) की आवश्यकता अनुभूत होती है। बिना अतिक्र के 'अतिक्रमण' (परमसत्) को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

यास्पर्स का कहना है कि आनुभविक अस्तित्व और आत्मा दोनों मिलक असंख्य व्यष्टि का निर्माण करते हैं। आनुभविक स्तर पर अनेकतायें हैं। ना प्रकार के तनाव, असामंजस्य एवं विसंगतियों के दर्शन होते हैं। इन अनेकता में एकता, अव्यवस्थाओं में व्यवस्था एवं विसंगतियों में संगति की खोज तर्क (रीजन) का ही कार्य है। हम यथासंभव ऐक्य का प्रयास करते हैं। वैसे तो अनेक तायें हमारे व्यक्तित्व पर चारों ओर से आक्रमण कर रही होती हैं। यास्पर्स विचार है कि ऐसी विषम स्थिति में तर्कणा सुरक्षा प्रदान करती है। तर्क आवृत्ति-बंध के रूप में हममें विद्यमान है।[३]

तर्कणा से आवृत्ति के प्रकार 'संसार' का अध्ययन संभव है है किन्तु 'अति-क्रमण' में तर्कणा असमर्थ है। इसके लिये प्रातिभज्ञान ही समर्थ है। यास्पर्स लिये अतिक्रमण ही ईश्वर है। यही परमसत् है। इसी से सत् के विभिन्न रूप आलो-कित हैं।[४]

अतिक्रमणता या अतिक्रमण को किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया ज सकता है। यह अव्याख्येय है। संसार में अतिक्रमण प्रच्छन्न (गुप्त) है। संसा अनुपेक्षणीय है। व्यक्ति को चाहिये कि वह दाझाइन के स्तर (व्यावहारिक जगत् का सम्मान करता हुआ अतिक्रमणताभिमुख हो जाय। एक अस्तित्व दूसरे अस्ति को संज्ञात करे और उसे भरपूर सम्मान दे। यास्पर्स का यही दार्शनिक उपदेश है।

यास्पर्स का विचार है कि हम संसार में हैं इसलिये कि संसार है। संसा नहीं रहेगा तब हम कहाँ होंगे ?[५] संसार में 'दाझाइन' से हमें संत्रास, घुट तनाव और बेचैनी भी मिलती हैं, इसलिए हम उसका अतिक्रमण करना चाहते हैं। सामान्य चेतना या जागृति के अभाव में मनुष्य स्वास्मिता और स्वातिक्रमण

खोकर पशु-स्तर से नीचे गिर जाता है।[६] आवृत्ति में अतिक्रमण एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। आवृत्ति के अतिक्रमण में ही मनुष्य अपने अनुभव-सिद्ध अस्तित्व से प्रामाणिक अस्तित्व के स्तर तक पहुंचता है। अतिक्रमणता के अभाव में सत्तात्मक मुक्ति संभव नहीं है। इस सत्तात्मक मुवित का बौद्धिक ज्ञान संभव नहीं है।[७]

अतिक्रमणता के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये दाझाइन के स्तर को अतिक्रमित करना होगा। इसके लिये 'उमवेल्ट' या वस्तु-जगत् तथा 'मिटवेल्ट' अर्थात् 'व्यक्तियों का संसार'-दोनों जगत् की सीमाओं से पार जाना होगा।[८] 'उमवेल्ट' या 'मिटवेल्ट' उभय जगत् अपूर्ण और क्षण-भंगुर हैं। इनसे उद्विग्न होकर मनुष्य अतिक्रमणता के लिये बाध्य हो जाता है। अतिक्रमणता के स्तर पर वह जागतिक समस्याओं से ऊपर उठ जाता है किन्तु इस ऊर्ध्व-गमन में संसार का निषेध नहीं होता है।[९] यह ऊर्ध्व-गमन व्यक्ति को अतिक्रमण-स्वरूप ईश्वर की ओर ले जाता है। यास्पर्स संसार से पहले और संसार के ऊपर अतिक्रमण को ही ईश्वर मानता है।[१०] वह यह दिखाने का प्रयास करता है कि समग्र सांसारिक आशाओं एव आदर्शों के पोत-भंग के समय में भी मनुष्य अपने अतिक्रमण के संबंध को और अधिक पुष्ट कर सकता है। उसका यह दार्शनिक विश्वास है कि सांसारिक जहाज के डूब जाने पर ही अतिक्रमण का संबंध दृढ हो सकता है।[११]

अतिक्रमण के गुप्त संदेशों को व्यक्ति ईश्वरीय कृपा से ही सुन सकता है, अपने ज्ञान-विज्ञान से नहीं। आत्मा तथा सामान्य चेतना की आवृत्ति वाला व्यक्ति ही इसे सुनने का अधिकारी है। संसार में सर्वत्र अतिक्रमण की भाषा मुखरित हो रही है किन्तु 'मनुष्य को अतिक्रमण की गुप्त भाषा पढने का अभ्यास नही रह गया है' .... "अतिक्रमण की गुप्त भाषा पढने का प्रयत्न करना मनुष्य के लिए एक महान् काय है। उसकी तुलना में तार्किक प्रमाण कोई महत्त्व नहीं रखते हैं।"[१२]

स्पष्ट है कि अतिक्रमण की गुप्त भाषा वही पढ सकता है जो 'दाझाइन' की अपूर्णता और क्षण-भंगुरता की अनुभूति कर चुका होता है। अनुभूति के स्तर पर जिसे उद्विग्नता, व्याकुलता और हताशा मिल चुकी हुई होती है और जो 'दाझाइन' की 'सीमास्थिति' से गुजर चुका हुआ होता है, वही यास्पर्स की दृष्टि में गुप्त भाषा पढने और समझने के हेतु सफल होता है। 'दा झाइन्' की अपूर्णता, अनित्यता एवं क्षण-भंगुरता को यास्पर्स 'सीमा-स्थिति' की संज्ञा देता है।

(ख) "सीमा स्थिति" की अवधारणा :

'सीमा-स्थिति' की अवधारणा में कार्ल यास्पर्स ने यही दिखाने का प्रयास किया है कि मनुष्य संसारिक अनित्यताओं से उद्विग्न होकर अत्यंत दुर्वहनीय

अकुलाहट एवं छटपटाहट का अनुभव करता है।[१३] 'सीमा-स्थिति' व्यक्ति के लिए एक निर्णायक स्थिति है।[१४] तत्रभाव (दा झाइन्) क्षण-विनाशि एवं अपू है। इसमें व्यक्ति नाना प्रकार की विसंगतियों से परिवृत होता है। वह स्वयं निराश, हताश और व्यथित अनुभव करता है। 'तंत्रभाव' दुःखान्त एवं निराशाप्रद है इससे प्राप्त निराशा, दुःख एवं आत्मग्लानि ही व्यक्ति के लिए सीमा-स्थितियां हैं इनसे पीडित होकर व्यक्ति अतिक्रमणता के लिये अभिमुख हो जाता है। पीड़ा एवं अतिशय घबड़ाहट में वह अतिक्रमण का गुप्त संदेश सुनता है।[१५]

सीमा-स्थिति-प्राप्त अस्तित्व अपनी न्यूनताओं के प्रति सचेत हो जाता है वह प्रयत्न करता है कि अपनी न्यूनताओं को अतिक्रमित करे, अपनी व्यथाओं को क्षीण करे। उसके इसी अनन्य प्रयत्न में परमेश्वर की गुप्तभाषा सुनाई पड़ती है। यास्पर्स का कहना है कि इसी अतिक्रमण में ही परमसत् (Being of beings) विद्यमान है।[१६]

'सीमा-स्थिति' ऐकान्तिक अनुभव का विषय है। इसमें अनुभवी व्यक्ति मौन होकर अनुभव प्राप्त करता है। उसका सम्पूर्ण अस्तित्व इसी अनुभव में डूबा रहता है। यह आत्मनिष्ठ होता है। यास्पर्स ने एक उपमान के द्वारा सीमा-स्थिति का चित्रण किया है। वह कहता है कि सांसारिक मोह–मायादि रूपी प्रपंचात्मक जगत् अर्थात् दा झाइन जब तक है तब तक प्रामाणिक अस्तित्व संभव नहीं है। दा झाइन को वह 'पोत' की उपमा देता है। यह पोत (जहाज) जब टूट जाएगा तभी परमेश्वर उद्धार करेगा, इसके पूर्व नहीं। 'सीमा-स्थिति' में जहाज टूट जायगा। तत्रभावात्मक संबंध के टूट जाने पर व्यक्ति को अतिक्रमण के गुप्त संकेत मिलेंगे और उनसे वह आश्वस्त हो जायगा। इसी समय उसे प्रामाणिक अस्तित्व का बोध होगा।

यास्पर्स के लिये ईश्वर के चिन्ह उस समय दिखाई देते हैं जब वह दार्शनिक विश्वास की बात करता है। दार्शनिक विश्वास के द्वारा ही हम अतिक्रमण को समझ सकते हैं। प्रामाणिक अस्तित्व और अतिक्रमण इन दोनों के बीच में एक ऐसी स्थिति आती है जिसमें दोनों का वार्तालाप होता है।[१७] ऐतिहासिक विपत्तियाँ या 'संकट' (Crisis) परमेश्वर के आने की ओर संकेत हैं।[१८] मनुष्य के आदर्शों एवं आशाओं का जहाज जब टूट जाता है तब अतिक्रमण में पूर्ण निष्ठा जागृत हो जाती है और तब यह दार्शनिक विश्वास अधिक दृढ हो जाता है कि सभी सीमायें तो टूट जायेंगी पर असीम परमेश्वर तो रहेगा ही। वही परम सहायक और संरक्षक है।[१९]

ध्यातव्य है कि यास्पर्स का दार्शनिक विश्वास, विश्वास का दार्शनिक रूप है न कि इतर विशिष्ट धर्मशास्त्रीय विश्वास। इसमें ज्ञेय के ज्ञान की चाह होती है न कि

आंख मूंदकर अपने को पूर्ण रूप से सौंप देने की या निरर्थकताओं के गर्त में कूद जाने की या तर्कणा को शहीद कर देने की।

'सीमा-स्थिति' की अवधारणा में यह संभावना बनी रहती है कि व्यक्ति या तो परम् सत् के सान्निध्य में हो या शून्य-कवलित हो। सीमा-स्थिति के प्रति आत्मिक जागृति व सामान्य चेतना के अभाव में सांसारिकता का बंध अधिक पुष्ट हो जाता है और तब इसका परिणाम अधिक कष्टकर हो जाता है। संसार शुभ और अशुभ दोनों है। सीमा-स्थिति के पूर्व सत्यासत्य एवं शुभाशुभ की अवधारणा का संबंध तत्रभावात्मक होता है। यास्पर्स की ऐसी मान्यता है कि आनुभविक अस्तित्व को जो परमसदभिमुख कर सके, वही सत्य और शुभ है और जो उसे सीमित या बधित करके उपेक्षित करे तथा अतिक्रमणता-विमुख करने में लगा रहे, वह असत्य है।[२८] यह असत्य ही परमेश्वर की गुप्तभाषा को सुनने और समझने में बाधक तत्त्व है। सत्यासत्य-द्वन्द्व शाश्वत है। सीमा-स्थिति द्वन्द्वात्मक स्थिति है। यह निर्द्वन्द्वात्मक स्थिति स्थिति-गर्भी है। इसके अभाव में अतिक्रमणता की प्रेरणा संभव नहीं है। अतिक्रमणता की प्रेरणा के अभाव में प्रामाणिक अस्तित्व कहाँ?

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्ल यास्पर्स ने जितना भी अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है वे सब परमसत्-केंद्रित हैं। उसकी गुप्तभाषायी अवधारणा का मूल भी वही परमसत् है। सम्पूर्ण जगत् उसी की भाषा के रूप में मुखरित है।

(ग)– "गुप्तभाषा" की अवधारणा :

अतिक्रमण (ईश्वर) आवृत्ति के प्रकार 'संसार' द्वारा अपने को संकेतित कर रहा है। वह अपने को अभिव्यक्त करने में गुप्त भाषा का प्रयोग करता है। वन, उपवन, नदी, पर्वत सर्वत्र प्राकृतिक-अप्राकृतिक पर्यावरण में उसी की गुप्तभाषा सुनाई पड़ रही है। इस गुप्तभाषा को चुने हुए लोग या परमेश्वर की कृपा को प्राप्त लोग ही सुन सकते हैं। यद्यपि इसका प्रसारण सभी के लिये हो रहा है, तथापि अतिक्रमणता की मात्रा के अनुसार व्यक्ति उसे समझ सकते हैं। परमेश्वर की गुप्तभाषा को ज्ञान-विज्ञान या तकनीकी अनुसन्धान से नहीं सुना जा सकता है। इसके लिये विलक्षण शक्ति या दैवी वरदान 'अतिक्रमणता' जरूरी है।

गुप्तभाषा के अवबोध में वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक तर्कणा और संक्रमित ज्ञान नहीं अपितु विज्ञान (Non-knowledge) की जरूरत है। यह अदृष्ट-संबद्ध

(Related to Invisible) है। यह अनुपस्थित में उपस्थित की आशा है। यह अतिक्रमणता की गुप्तभाषा को पढ़ना है।[21] गुप्त भाषा को दार्शनि विश्वास से ही पढ़ा जा सकता है। दार्शनिक विश्वास के लिये जिज्ञा जरूरी है। इससे सत्तात्मकतया समस्याओं के मध्य में कूदने औ वास्तविकता को ढूँढने में सहायता मिलती है। जिज्ञासा ही व्यक्ति को प्रेरि करती है।[22]

यास्पर्स संसार को गुप्त भाषा के रूप में प्रकटित मामते हैं। सितारों जगमगाता आकाश,[23] झर-झरझरता निर्झर, सांय-सांय की ध्वनि-वती वायु व विटपों के पत्तों की खड़खड़ाहट, रात का अंधेरापन, सागर की गहराई, पक्षि की चहचहाहट, इत्यादि, इत्यादि एवं दिन का आलोक.........ये सब गुप्तभाष के प्रवाह हैं।

यास्पर्स ने इस गुप्त भाषा को मौन रूप में सुनने और समझने पर जो दिया है। स्थिरता और शान्ति से गुप्त भाषा को सुनने का प्रयास करना चाहिये संसार को आदर दिया जाना चाहिये। यह संसार सत्य है, मिथ्या नहीं, किन् इसके आगे परम सत्य है– इसका ध्यान रखना चाहिये। संसार का अनाद करने वाला व्यक्ति अतिक्रमण का अनादर करता है।

संसार में रहकर सांसारिकता से बचना नहीं चाहिये। इसका अतिक्रम ही कल्याणकारी होता है। संसार के माध्यम से ईश्वर जो कह रहा है, हमें व सुनना है। यह ससार अतिक्रमणता के लिये हमें सप्रेरित कर रहा है। वास्त विकता तो यही है कि यह संसार नश्वर है, अपूर्ण और क्षण-भंगुर है, तथा इस सत्य को स्वीकार करके हमें भुलाना नहीं है। हमें अतिक्रमणता के लिये सं उद्यत रहना है।

असंख्य हैं वे जो दुःख-त्रय से पीडित होकर भी अतिक्रमणताभिमुख नहीं है और कम संख्या में वे हैं जो अभिज्ञ हैं, जागरूक हैं, 'चरैवेति' का स्वर सुनते हैं आगे बढ़ते जाते हैं और जोखिमें उठाते हैं। कार्ल यास्पर्स अपनी गुप्तभाषा अवधारणा से व्यक्ति को अपने प्रामाणिक अस्तित्व के प्रति सचेत करना चाहते है। वह यह अनुभव करता है कि लोग अस्तित्व-विमुख होते जा रहे हैं और 'अनस्तित्व' को अस्तित्व समझने के भ्रम में पड़े हैं।

ईश्वर रहस्य में है और रहस्य को समझना आसान नहीं है। जो ईमानदा से अपने जागतिक दायित्वों का निर्वाह करता है वही ईश्वराभिमुख है। सां

रिक जटिलतायें व्यक्ति को उलझा देती हैं। वे उसके अस्तित्व को चुनौती देती हैं। यदि व्यक्ति उनसे ऊपर उठकर उनका समाधान करने में समर्थ होता है तो निश्चय ही वे उनके लिये शिवत्व प्रदान करती हैं, इसके विपरीत व्यक्ति को अशिवत्व मिलता है।

यास्पर्स की यह दृढ मान्यता है कि प्रत्येक दुःख के पीछे दुःख के अतिक्रमण का आपंत्रण निहित है। यदि व्यक्ति इसे समझता है और धैर्य रखता है तो निश्चय ही वह दुःख को अतिक्रमित कर सुख को प्राप्त करता है।[२४] दुःख भोगकर आगे बढ़ना यास्पर्स को प्रिय है। उसके विचार से आसक्ति और दिरक्ति उभय स्थितियां व्यक्ति के लिये अहितकर हैं। संसार में पूर्णासक्त बनना और संसार से पूर्णतः विरक्त होना यास्पर्सीय दर्शन के नितान्त विपरीत बातें हैं।

गुप्तभाषा को सुनने के लिये व्यक्ति को मध्यममार्गी होना चाहिये। उसे धार्मिक कर्म-काण्डों या तर्कशास्त्रीय तर्कों में उलझना नहीं चाहिये। इससे गुप्तभाषा सुनने में बाधा पड़ती है। यास्पेर्स का कहना है कि धार्मिक कर्म-काण्ड (व्रत, उपवास, प्रेयर इत्यादि) प्रदर्शन के खेल हैं। इनके चक्कर में पड़ने से व्यक्ति अपनी आभ्यन्तरता खो देता है और अधिक बहिर्मुख हो जाता है। ईश्वर गुप्तभाषा को अपनी आभ्यन्तर सुस्थिर, गम्भीर, धृति-प्रधान शक्ति द्वारा ही सुना और समझा जा सकता है। गुप्तभाषा को 'बुद्धि' के द्वारा वस्तुनिष्ठ रीति से नहीं समझा जा सकता है। यह प्रातिभज्ञान-बोध्य है, तर्कणा-गम्य नहीं।

(घ)– मूल्याङ्कन :

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्ल यास्पर्स की गुप्त भाषा की अवधारणा एक दार्शनिक–धार्मिक अवधारणा है जो उसकी अन्य अवधारणाओं पर आश्रित है। आवृत्ति, अतिक्रमणता एवं सीमा–स्थिति की उसकी अवधारणायें अस्तित्ववादी दार्शनिक धरातल पर अत्यधिक सार्थक, व्यावहारिक एवं उपयोगी सिद्ध होती हैं।

विज्ञान एवं उच्च तकनीकी आविष्कारों वाले इस युग में या आने वाले परावैज्ञानिक युग में मानसिक शान्ति, धैर्य और अनुशासन बनाये रखने में कार्ल यास्पर्सीय अवधारणाओं का अधिक महत्त्व होगा, इसलिये कि विज्ञान और धर्म का द्वन्द्व लोगों को अधिक पीडित करेगा। द्वन्द्वात्मक स्थिति का अतिक्रमण अनिवार्य होगा।

एक ओर वस्तुनिष्ठ तर्कणा का विज्ञान उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त कर रहा है और परिणाम में अनीश्वरवादिता की वृद्धि कर रहा है तो दूसरी ओर धार्मिक

कर्म–काण्ड केन्द्रित विश्वास बढ़ते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में समन्वयी दर्शन व्यक्ति और समाज दोनों के लिये अधिक कल्याणकर होगा। यास्पर्सीय दर्शन अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया है इसका कारण उसकी विकासशीलता ही है जैसा कि कार्ल यास्पर्स ने स्वयं स्वीकारा है।[२५]

प्राचार्य, — रामदास पांडेय 'गम्भीर'
शहीद इण्टर कॉलेज
मधुवन
आज़मगढ़ (उ प्र.)

टिप्पणियाँ

१. जोसेफ निघम का विचार "The World as seen by science is not the world as it really is" *The Sceptical Biologist*, पृष्ठ २४५

२. चार्ल्स एफ् वालरैफ; कार्ल यास्पर्स: ॲन इण्ट्रोडक्शन टु हिज फिलॉसफी, प्रिन्स्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्स्टन., न्यू जेर्सी, १९७० पृ. १९५ (पश्चादुद्धरणीय यथा– का. या.)

३. तदेव, पृष्ठ २१३

४. कार्ल यास्पर्स, फिलॉसफी, प्रथम खण्ड, अंग्रे. अनु. ई. बी. ऐस्टन, द युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९६९ पृष्ठ ६२

५. तदेव

६. के. एफ. रीनहार्ट, द एक्जिस्टेन्शियलिस्ट रिव्होल्ट, न्यूयार्क १९६० १८८

७. डॉ. हृदयनारायण मिश्र; अस्तित्ववाद, किताबघर, आचार्यनगर कानपुर, १९६८ पृ. १९१

८. फ्रेड्रिक कॉप्लस्टन्; कॉन्टेम्परी फिलॉसफी, बर्न्स एण्ड ओट्स, लन्दन, पृ. १०८, १३३ते–१३५ द्रष्टव्य। (पश्चादुद्धरणीय यथा-का. फि.)

९. चार्ल्स एफ. वालरैफ; का. या., पृष्ठ २०८

१०. कार्ल यास्पर्स; द पेरेनिअल स्कोप ऑफ फिलॉसफी, अंग्रे. अनु.- राल्फ मैनहीम, आर्कन बुक्स, फिलॉसाफिकल लाइब्रेरी, यू. एस. ए. १९६८ पृ. ३१, १४६ द्रष्टव्य।

११. फ्रेड्रिक काप्लस्टन; का. फि., पृ. १४२

१२. डॉ. एच्. एन्. मिश्र : **अस्तित्ववाद**, पृष्ठ १८७

१३. एलास्डेयर मैक्इण्टायर; 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म' (लेख)– **ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी**, डी. जे. ओ. कॉनर, द फ्री प्रेस, मैकमिलन, लन्दन, १९६४, पृ. ५१६

१४. तुलनीय— सोरेन कीर्कगार्ड की 'आइदर-आर' स्थिति से।

१५. तुलनीय-- भारतीय पौराणिक कथानक 'गज-ग्राह-युद्ध' से।

१६. डॉ. सभाजीत मिश्र; **दि अॅग्विश्ड फ्रीडम**, जी. डी. के. पब्लिकेशन्स, दिल्ली १९७६, पृ. १५८

१७. तदेव

१८ तुलनीय-- **श्रीमद्भगवद्गीता** 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' से।

१९. फ्रेड्रिक कॉप्लस्टन : का. फि. , पृष्ठ १६४

२०. चार्ल्स एफ्. वालरैफ; का. या., पृष्ठ २०१

२२. तदेव, पृष्ठ - १०७

२३. तदेव, पृष्ठ- २८३

२४. नीतिश्लोक– त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपिकाले
धैर्यात् कदाचिद् स्थिति माप्नुयात् सः
जाते समुद्रेऽपि हि हि पोतमङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तंतुमेव ॥' से साम्य द्रष्टव्य।

२५. चा. एफ. वालरैफ; का. या. पृष्ठ १९८

रसबोध

भारतीय चिन्तक मानते हैं कि मानव 'अभाव' को नहीं, 'स्वभाव' को चाहता है— और यह स्वभाव नित्य. निरतिशय तथा आनन्दमय है। भारतीय चिन्तकों ने इसी को केन्द्र में रखकर व्यवहार, परमार्थ तथा काव्य-सभी दिशाओं में चिन्तन किया है। उसी मूल गन्तव्य की दृष्टि से व्यावहारिक व्यवस्था, व्यवस्थित चिन्तन या शास्त्र और काव्य का विचार किया है। इसीलिए हमारे यहाँ 'साक्षादपरोक्षानुभूति' रूप स्वभाव तक पहुँचाने वाला आचार 'धर्म' और उसके प्रति निष्ठा को दृढ़ करने वाले विचार 'दर्शन' कहे गए। दर्शन समर्पित धर्म, विचार, परिपुष्ट आचार 'गन्तव्य' तक ले जाने के कारण परस्पर सम्बद्ध हैं– पश्चिम की Philosophy और Theology की भांति असम्बद्ध नहीं। वाङ्मय-चाहे शास्त्र हो या काव्य– दोनों ही उसी के साक्षात्कार के लिए हैं। हमारे यहां 'संगीत' मात्र Music नहीं है, व्याकरण मात्र ग्रामर (Grammar) नहीं है। नन्ददास की गोपी कहते हैं–

काऊ जाने बैठी गाय
नाद के मग हैं पिय को जाय।

यहाँ संगीत नाद-ब्रह्म है– जहाँ का निष्णात् 'परब्रह्म' (स्व-भाव) में लीन होता है। 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'। व्याकरण के लिए भर्तृहरि ने कहा–

'इयं हि मोक्षमाणानामजिह्माराजपद्धतिः'

व्यवहार और शाम्त्र के अतिरिक्त 'काव्य' में भी जो भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'रस' को महत्ता दी– वह आकरण नहीं है। इसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में 'रसो वै सः' कहा गया है। निष्कर्ष यह कि काव्य के द्वारा होने वाला रसात्मक बोध-- स्वभावबोध ही है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून १९८७

इस रसात्मक बोध के लिए नाट्यशास्त्र ने कहा-- ' यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैः व्यंजनैरोषधिभिश्च पाड्वादयः रसा निवर्त्यंन्ते तथा नानाभावोपगताः अपि स्थापिनोभावा रसत्वमश्नुवन्ति इति '-- अर्थात् ' जिस प्रकार व्यंजन (उपसेचक तरल पदार्थ-- कांजी, दधि, आदि), औषधि (मसाला-- सोंठ, मिर्च आदि) तथा द्रव्य (गुड आदि) से संस्कृत भोज्य पदार्थ-(भक्त आदि) गत षाडव आदि रस निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विभावादि से उपगत होकर भी स्थायी भाव रसरूपता प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाता हुआ निर्मल चेतस् पुरुष रसास्वाद करता है और हर्षादि का भी अनुभव करता है-- उसी तरह नाना- भावाभिनय से व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय से युंक्त स्थायीभाव का सुमनस्क प्रेक्षक रस रूप में आस्वाद लेता है और हर्ष आदि का अनुभव भी करता है।' (षष्ठ अध्याय, **नाट्यशास्त्र**)

नाट्य-रस की व्याख्या करते हुए उसके बोध का स्वरूप इस अनुदित मूल पाठ में स्पष्ट है। इस अंश में किसी दर्शन का रंग नहीं चढ़ा है-- एक पाक रस के दृष्टान्त से बोध का स्वरूप इंगित है। दृष्टि-विशेष से उसकी व्याख्या वाद में होती रही है। यहां दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक स्पष्ट हैं--

उपस्कारक = व्यंजन --औषधि --द्रव्य --(उपस्कार्य)-- भक्त आदि भोज्य पदार्थ गत षाडव रस

वासक--विभाव--अनुभाव--संचारी-- (वासित) स्थायी भाव

जिस प्रकार भोज्य भक्त में अव्यक्त रूप से स्थित षाडव--आदि रस व्यक्त होकर आस्वादगोचर होते हैं और हर्ष आदि का अनुभव कराते हैं, उसी प्रकार विभावादि से स्थायीभाव में निहित आस्वाद्यता अनुभूति--गोचर होती है और हर्षादि में डुबो देती है। हमारा विवेच्य यहाँ आस्वादन और उसका स्वरूप है-- न कि उसका फल। दार्ष्टान्तिक है रस और दृष्टान्त है षाडव। षाडव है क्या ? संगीत शास्त्र में इसका अर्थ है--

' ओदवः पंचाभि प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु षाडवः। '

षाडव राग या गान का प्रकार-विशेष है -- जहाँ छहों स्वरों का मिश्रण रहता है। मेदिनी कोश में षाडव का अर्थ रस बताया गया है। अभिनव गुप्त का का पक्ष है कि षाडव रस तिक्त आदि लोकप्रसिद्ध षड्रसों से विभिन्न और मिश्र-दोनों रूपों से सर्वथा विलक्षण है-- यह संभव है पाक की उत्तम योजना से। वैसे

ही विभावादि व्यंजक सामग्री की योजना से स्थायीभावगत आस्वाद्यता भी एक विलक्षण ही होती है, जो सामग्री के अमिश्र और मिश्र - दोनों रूपों से सर्व भिन्न ही होती है। डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त की धारणा भिन्न है। उनका पक्ष है कि भोज्य सामग्री में जो विविध प्रकार का आस्वाद है, उसी के लिए पाडव रस का प्रयोग होना चाहिए। उन्हें सभी स्वादों का मिश्रित रूप अनिवार्यत: पाडव र में अभीष्ट नहीं।

एक लम्बे अन्तराल के बाद नाट्यशास्त्र के टीकाकारों ने विभिन्न दार्शनिक चिन्तन के आलोक में रसबोध का स्वरूप-निर्देश आरंभ किया। भरत के नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट रसबोध का स्वरूप दार्शनिक छाया से युक्त है। रसना अथवा आस्वाद का फल है– हर्षादींश्च। अभिनव गुप्त का कहना है कि कहीं-कहीं पाठ है-- हर्षांश्च। इस खींचतान से दो बातें स्पष्ट हैं-- एक तो यह कि हर्ष चूंकि एक मानस वृत्ति है-- फलत: यह मानस है और दूसरे यह कि यदि 'हर्षादींश्च' पाठ है तो सुखात्मक-दु:खात्मक फल मानना होगा और 'हर्षांश्च' हो तो सुखात्मक। यह स्मरणीय है कि आगे चलकर पण्डितराज जगन्नाथ 'अनन्तःकरण-वृत्ति-रूप' कहेंगे। रसबोध का स्वरूप 'अन्त:करण-वृत्ति रूप' से 'अनन्तःकरण-वृत्ति रूप' तक फैला हुआ है। भरत स्पष्ट कहते हैं -

'आस्वादयन्ति **मनसा**, तस्मान्नाट्यरसा: स्मृता:।'

'रसबोध' के स्वरूप के संबंध में दशाधिक मतों का संकेत लोचन और रसगंगाधर में मिलता है। इनमें से केवल नाट्यशास्त्रकार के टीकाकारों-विशेषकर-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतों की ही चर्चा सविस्तर होती है— जो दार्शनिक रंग से रंजित है।

भरत ने नाट्य के सन्दर्भ में रस-बोध की चर्चा की थी, पर बाद मे भामह आदि ने दृश्य-श्रव्य-सामान्य या विशेषत: श्रव्य काव्य के संदर्भ में रस की चर्चा आरम्भ की। लोचनकार अभिनव गुप्त ने इसे लक्षित किया और कहा 'काव्येऽपि .... इयमेव रसवार्ता .... ।' श्रव्य काव्य में भी रसबोध-का विचार सम्भव है, यद्यपि वह मुख्यत: दृश्य काव्य में ही उसका पूर्ण परिस्फुटन स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्द्धन से पूर्व 'रस' की काव्य के सन्दर्भ में जो चर्चा होती थी— वह अलंकारान्तर्गत समझी जाती थी और रसवदलंकार के रूप में वह समझा जाता था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में इसका खण्डन किया। महिमभट्ट ने काव्य का एकमात्र व्यावर्तक तत्त्व रसात्मकता माना और ध्वनिप्रक्रिया की जगह अनुमानप्रक्रिया सिद्ध की। आनन्दवर्द्धन ने दार्शनिक भूमि

पर यह स्थापना बहुत पहले कर दी थी कि काव्यमात्र–क्या श्रव्य, क्या दृश्य, क्या प्रबंध, क्या मुक्तक — में स्वभाव-स्थित परिणतप्रज्ञ की वाणी रसमय स्वभाव की अभिव्यक्ति में ही पर्यवसित होती है। मम्मट का यह प्रयत्न कि जहाँ विभावादि में अन्यतम हों काव्यसामग्री के रूप में प्रस्तुत हो-वहाँ शेष का अध्याहार कर लेना चाहिए— श्रव्य-दृश्य धारा के रस चिन्तन का समन्वय है या समन्वय का प्रयास है। भामह का यह कथन —

'रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरसोदयम्।
देवी समागद्धर्मसंस्करिण्यति रोहिता ॥'

उनकी दृष्टि रसबोध सम्बन्धी चलती धारणा को स्पष्ट करना है। यह सन्दर्भ श्रव्यकाव्य का ही है। यहां केवल विभाव का ही वर्णन है। फलतः यहां केवल भाव्यमान विभाव ही रस है। **लोचन** तथा पण्डितराज ने इंगित किया है— 'विभाव ... इत्येके'। हां, दण्डी की स्थिति इनसे भिन्न है। वह एक कवि भी हैं। आचार्य तो हैं ही। यह बात अवश्य है कि वह भी रस की परिगणना रसवदलंकार में ही करते हैं— और उसका कारण श्रव्यकाव्य पर विवेचन दृष्टि का संकेन्द्रण है। स्पष्ट कहते हैं :

'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः'—जब वह गौड़मार्गान्तर्गत 'मधुर' गुण में रसवत्ता स्थिति का निर्देश करते हैं और कहते हैं—

'मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' — तब भामह से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। वह कहते हैं — रस शब्द और अर्थ सर्वत्र व्याप्त रहता है। उसके लिए वाणी में अग्राम्यता का होना अनिवार्य है। 'तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसाः।' उनकी दृष्टि में अलंकार मात्र अर्थ को रसासिक्त करते हैं —

'कामं सर्वोप्यलंकारः रसमर्थे निषिंचति' सूक्ष्मता से इनकी पंक्तियों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने विभावादि सामग्री से परिपुष्ट स्थायी को रस कहा है। जो व्यक्ति यह कहता है — 'इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः' वह उक्त तथ्य की पुष्टि ही करता है। उद्भट के विषय में कहा जाता है कि उसने भामह और भरत दोनों के ग्रंथों के पर टीका लिखी थी। अतः जहां एक ओर वह भामह की कारिका ज्यों की त्यों उद्धृत करते हैं वहीं दूसरी ओर भरत का अनुसरण भी करते हैं। समन्वय कैसे दोनों विरोधी प्रवाहों का करते हैं ? मूल ग्रंथ की उपलब्धि न होने से कुछ कहना सम्भव नहीं। एक तरफ—

'रसवद्दर्शित स्पष्ट श्रृंगारादिरसोदयम्' उद्धृत करता है औ दूसरी ओर --

'स्वशब्दस्थापि संचारिविभावामितयास्यदम्' भी। वामन ने 'कान्ति' नामक गुण में रस का समावेश किया। कान्ति-गर्भ गौड़ी रीति को अना कहकर रस को महत्त्व दे नहीं पाते। दण्डी और उद्भट की तुलना में यहां र को महत्त्व कम ही मिला है। यद्यपि 'दशरूपकं श्रेय:' कहते हैं, पर उसका कार रसवत्ता को नहीं, 'तद्धि चित्रपटवत्' से वैविध्य को बताते हैं। इ अलंकारवादी आचार्यों में सर्वाधिक महत्त्व रुद्रट का है। उन्होंने रस का विचा इन सबसे अधिक किया और महत्त्व भी बताया, परन्तु रसबोध का कोई स्वरू निरूपण नहीं किया। रुद्रट कहते हैं--

'एतैरक्षा रसवन्तो रमयन्ति पूंसः सम्यग् विभज्य रचितश्चतुरेण चारु यस्यादिमाननधिगम्य सर्वरम्यं काव्यं विधानुमलमत्र तदाद्रियेत। अनुसरति रसाना रस्यतामस्य नान्य: सकलमिदयनेन व्याप्तयाबालवृद्धं तदिति विरचनीय: सम्यगे प्रयत्नाद् भवति विरसमेवानेन हीनं हि ...... काव्यम्।'

इस ऐतिहासिक पाठिका पर आनन्दवर्द्धन आते हैं और काव्य में रस की पूर्ण प्रतिष्ठा एक दार्शनिक आधार पर करते हैं और सभी सौंदर्यस्रोतों का तारतम्य भी निर्णीत कर देते हैं। फिर भी आनन्दवर्द्धन का सारा प्रयास काव्य में रस की सर्वोपरि महत्ता और उस तक पहुँचने की व्यंजनामयी प्रक्रिया पर केन्द्रि है-- रसबोध के स्वरूप का वह दार्शनिक विवेचन नहीं मिलता, जो परवर्ती नाट्यशास्त्र के टीकाकारों अथवा साहित्यशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथकारों में है। इस क्रम में सर्वप्रथम आते हैं भट्ट लोल्लट।

भट्ट लोल्लट मुख्यत: रस की स्थिति या उत्पत्ति लोक में मानते हैं-- पर गौण रूप से सहृदय पाठक या प्रेक्षक में स्वीकार करते हैं। फलत: वह एक ओर सुख-दु:खोमय रूप अत:करण की वृत्ति नि:शेष ही है और अन्यत्र सादृश्य ज्ञान रूप दोषवशात् नर में अनुकार्य के साक्षात्कारात्मक आरोप से होने वाला चमत्का विशेष। शंकुक की स्थिति भिन्न है। उसका कहना है कि नाट्य में प्रेक्षक अनुमान की प्रक्रिया से चर्वणा करता है और यह चवर्णा चमत्कारिक अनुमिति स्वरू है। इसी अनुमति-रूप ज्ञान का गोचर होकर स्थायी रस बनता है। इच्छावशा अनुमिति धारा चलती रहती है। अनुमीयमान स्थायी रस है। वस्तुत: अनुमिति प्रेक्षक में है और विषय नर में। इस प्रकार विशिष्ट रस का प्रेक्षक में उपचार ही है। अथवा यों कहें कि सहृदय का अपने वासनात्मक स्थायी से नरगत स्थायी

का भेद तिरोहित हो जाता है। इस मत में रसबोध अनुमीयमान वासनात्मक स्थायी ही है। व्यक्ति विवेककार भी यही प्रक्रिया काव्य में लागू करते हैं, जबकि शंकुक नाट्य में। उनका कहना है अर्थ प्रत्यक्ष दृष्ट होकर भी उतना आस्वादकर नहीं हो सकता जितना कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द द्वारा ज्ञात होकर। शब्द अभिधा शक्ति से ज्ञात होकर उतना चमत्कारिक नहीं हो सकता जितना काव्योपयोगी अनुमिति की प्रक्रिया से। कहा है--

‘नानुमिती हेत्वाद्यै : स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यै :।
न च सुखमिती वाच्योऽर्थ : प्रतीयमानः स एव यथा ॥’ (पृ. ७४)

भट्ट नायक द्वारा निरूपित रसबोध किसी के मन में सांख्यसम्मत, अन्य के मत में अद्वैत वेदान्तसम्मत और इतरों की दृष्टि में द्वैतवादी शैवमतसम्मत है। मम्मट ने इनके मत से भोगात्मक रसबोध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा– ‘सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद् विश्रान्तिः’। सत्त्व के उद्रेक से चिदानन्दमयी संवित् में विश्रांति की स्थिति। सांख्य में आनन्द बुद्धि का ही धर्म है-- जो जड़ है- पर यहाँ आनन्दमयता संवित् में कही जा रही है-- अतः सांख्य की दृष्टि से तो यह संभव नहीं। प्रदीपकार सांख्य दृष्टि से ही व्याख्या करके रसबोध का स्वरूप स्थिर करते हैं। सांख्य मतानुसार रसबोध का स्वरूप होगा-- सत्त्वगुण के उद्रेक से होनेवाली प्रकाशानन्दमयवृत्ति, और वहाँ संविद् की विश्रान्ति का अर्थ होगा-- विगलितवेद्यान्तरात्मक स्थिति। अर्थात्, जिस वृत्ति में रसोपयोगी सामग्री से भिन्न विषय न हों। अद्वैत वेदान्त के अनुसार रसबोध का स्वरूप होगा— सत्त्वोद्रेक से आवरण भंग होने पर आनन्दात्मक चैतन्य विषयीकरणरूपा मुक्ति। द्वैतवादी शैवमत के अनुसार होगा--

‘निज चित्स्वभाव निर्वृत्ति विश्रान्ति लक्षण’ - लोचन
‘प्रकाशानन्दमय निजसंविद् विश्रान्ति लक्षण’– अभिनव भारती

रसबोध ब्रह्मानन्द नहीं है— उसके समान है। भट्ट नायक के मत में यह रसबोध चित् या चिति या निर्वृत चित् की भूमिका नहीं है– ‘चित्’ की भूमिका है। ‘चिति’ ही पशुदशा में संकोचप्रकर्ष के कारण सत्त्वरजस्तमोमय चित्त रूप से स्फुरित होती है। रसानुभूति या रसबोध जीव का अनुभव है-- शिव का नहीं। अतः वह चित्त के स्तर पर निष्पन्न होता है। यह चित्त की एक उत्कृष्ट अनुभूति है। व्यष्टि जीव चित्त के स्तर पर प्रकाशानन्दमय निजस्वभाव का अनुभव करता है। पूर्णता हमारा स्वभाव है-- वह है परानपेक्षता। रसबोधकाल में यही पूर्णता-- प्रकाशानन्दमय स्वभाव (काव्य सामग्री सम्मिश्र) अनुभूत होती है। भोग का यही स्वरूप है।

अभिनव गुप्त भी भोग का यही स्वरूप मानते हैं; परन्तु अन्तर यह है कि भट्ट नायक द्वैतवादी हैं। फलतः व्यष्टि चित्त की उत्कृष्ट अनुभूति के रूप में रसबोध कहते हैं जबकि अभिनव समष्टि चित्त की भूमि पर। इसीलिए वह काव्य की अपेक्षा नाट्य में रस की सही स्थिति मानते हैं। कहते हैं–

'अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्' अभिनव-भारती

भट्ट नायक में पारामित्य है, अभिनव में वैनत्य। तंत्रालोक में उसका उत्तम निरूपण है।

मम्मट ने इस 'रसबोध' का निरूपण अत्यंत भावावेश में किया है और इसे सर्वथा अपनी ही कोटि का ऐहिक और आमुष्मिक अनुभूतियों से फलतः लोकोत्तर सिद्ध किया है। **साहित्यदर्पणकार** ने संपिण्डित करते हुए कहा–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय :।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्य : ब्रह्मास्वाद सहोदर :॥
लोकोत्तर चमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि :।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस :॥ (तृ. प.)

मम्मट तथा दर्पणकार ने बौद्ध योगाचार दर्शन का सहारा लेकर रसबोध के स्वरूप को और निखारा। जिस प्रकार योगाचार ज्ञान को आकारवान् मानते हैं– फलतः जैसे वहाँ ज्ञान और उसका आकार (बाह्यविषय) अभिन्न हैं– वैसे ही आवरण भंग होने से प्रकाशमय आत्मा अपने ही स्वरूप आनन्द को स्वाकारवत् अभिन्न बनाता है।

पण्डितराज ने रसबोध का स्वरूप शंकर अद्वैत तथा पातंजल दर्शन के आलोक में स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा– सहृदयता सहकृत भावना विशेषवश विभावादि की समुदित प्रतीति से एक अलौकिक व्यापार का आरंभ होता है। इससे आवरण भंग होता है। फिर मानावरण चित् अपने स्वरूपभूत आनन्द को तो प्रकाशित करता ही है– सन्निहित स्थायी तथा अन्य काव्य सामग्री से भी प्रथामक योग से सम्मिश्र होकर रस कहा जाता है। अथवा बीच में अलौकिक व्यापार की कल्पना क्यों करें– विभावादि प्रतीति समकाल स्थायी उपहित स्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी को तन्मयी मनन कहते हैं। यह रस अन्तःकरण की वृत्तिस्वरूप नहीं है– अपितु उससे अनवच्छिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप है।

इस धारा से हटकर रसतरंगिणीकार रस को लौकिक और अलौकिक रूप कहता है, जबकि भिन्न दृष्टि वाले रामचन्द्र गुणचन्द्र सुख-दुःखोमयात्मा स्वीकार करते हैं– न कि अभिनव की भांति शुद्ध आनन्दमय।

हिन्दी में भी रसबोध के स्वरूप पर पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, पं. रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. नगेन्द्र ने भी अपने-अपने ढंग से विचार किया है। पं. केशवप्रसादजी अपने को अभिनव की परम्परा में तथा नैतिकता अनैतिकता के द्वैत से काव्य सौन्दर्य को देखने वाले शुक्लजी को भट्ट नायक की परम्परा में रखते हैं। मिश्रजी के अनुसार योगी की भांति सहृदय ऋतम्भराप्रज्ञा (निर्वितर्क संप्रज्ञात समाधि) की मधुमति भूमि पर आरूढ़ होता है। रामचन्द्र शुक्ल रसबोध को हृदय की मुक्त दशा कहते हैं। डॉ. नगेंद्र रिचार्डस् के प्रभाव में संवेगों का व्यवस्थीकरण।

इस प्रकार रसबोध का विषय नितान्त जटिल और प्रदीर्घ है।

–राममूर्ति त्रिपाठी

देवास रोड, उज्जैन (म. प्र.)

मूल्य : एक पुनरावलोकन

स्वरूपत: मनुष्य मूल्य-चेतना-संपन्न प्राणी है जो निरंतर मूल्यों का अन्वेषण एवं सृजन करता रहता है। संभवत: यही कारण है कि मूल्य शब्द अनेकार्थक हो गया है। जैसा कि सर्वविदित है "मूल्य" शब्द ने अर्थशास्त्र के माध्यम से ही ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में प्रवेश किया है। अत: इसके अर्थशास्त्रीय प्रयोग पर ध्यान देना परमावश्यक है। अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो उपयोगिता के अर्थ में तथा दूसरा 'विनिमय मूल्य में अर्थ में। उपयोगिता या उपयोग मूल्य से तात्पर्य किसी वस्तु की उस सामर्थ्य में है जिसके रहते वह वस्तु किसी मानवीय आवश्यकता अथवा इच्छा को संतुष्ट करती है। इस अर्थ में मूल्य वस्तु की व्यावहारिक उपयोगिता व महत्त्व का ज्ञापक है। परिमाणस्वरूप वह साधन मूल्य का संकेतक है। विनिमय-मूल्य का तात्पर्य वस्तु की उस मात्रा से है जो किसी अन्य वस्तु के बदले में प्राप्त की जा सकती है। आधुनिक शब्दावली में हम इसे "दाम" या "कीमत" कहते हैं। चूंकि नैतिक-मूल्य-संपन्न वस्तुओं की ऐसी कोई कीमत नहीं लगाई जा सकती, अत: उन्हें "अमूल्य" या "अतुल्य" कहा जाता है। यहाँ प्रश्न उठना संभव है कि क्या तब शुभ वस्तुओं का मूल्यांकन सदैव गुणात्मक शब्दावली में संभव है जिससे उनकी क्षतिपूर्ति के मुआवज़े की गणना की जा सके? इसका उत्तर निषेधात्मक ही होगा। तथापि इस प्रकार की भूल सुखवादियों ने "सुखवादी गणक" (हिडोनिस्टिक कॅल्कूलस) के निर्माण द्वारा की है।

कभी-कभी मूल्य शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत एक अधिक मूर्त संज्ञा के रूप में किया जाता है, उदाहरणार्थ, जब हम "एक मूल्य" या मूल्यों (बहुवचन) अथवा 'भारतीय' या 'पाश्चात्य मूल्य' कहते हैं। इस प्रकार के प्रयोग उसके संकेतक हैं जिसका मूल्यांकन किया जाता है या जिसें अच्छा समझा जाता है। हम इसे व्यक्तिनिष्ठ प्रयोग कह सकते हैं। यह सामान्य प्रयोग इस मान्यता पर

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

आधृत है कि किसी भी चीज़ में वस्तुनिष्ठ मूल्य नहीं पाया जाता, क्योंकि मूल्य का अर्थ ही 'मूल्य निर्धारित करना' है, और यह निर्धारण व्यक्ति करता है।

मूल्य के अर्थ को उपर्युक्त संकुचित प्रयोग तक सीमित मानना अनुचित है क्योंकि इसका प्रयोग उसके लिए भी होता है ।जो 'अपने आप में मूल्यवान्' है। यही कारण है कि प्रो. नंदकिशोर देवराज इसे वस्तु के ऐसे पक्ष के रूप में परिभाषित करते हैं जो उसे ध्यानाकर्षण तथा वस्तुनिष्ठ चयन के योग्य वनाता है। इनके मतानुसार दार्शनिक व चिंतक इस पक्ष को ही स्पष्ट करते हैं। शीलर और हार्टमंन् जैसे चिंतक मूल्य को 'रंग' के समान एक सामान्य विधेय मानते हैं जो लाल, नीला आदि विशेष विधेयों को अन्तर्निहित रखता है। फलस्वरूप वे वस्तु को 'मूल्य वाहक' संबोधित करते हैं।

मूल्य शब्द के दार्शनिक प्रयोग पर ध्यान केंद्रित करें तो पाते हैं कि दार्शनिकों द्वारा किये गये प्रयोग न केवल अनेक हैं अपितु कई बार परस्पर विरोधी भी हैं। फिर भी दो अर्थ स्पष्टतः पृथक् किये जा सकते हैं। सर्वप्रथम अमूर्त संज्ञा के रूप में अर्थात् संकुचित अर्थ में मूल्य शब्द अच्छा, वांछनीय तथा सार्थक आदि के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त होता है। और व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग समस्त सद्गुणों, सौन्दर्य, सत्य, पवित्रता आदि के लिये किया जा रहा है

इस संदर्भ में आंग्लभाषा के उस प्रचलित प्रयोग की ओर संकेत करना विषयान्तर न होगा जिसके तहत मूल्यवान् के लिये सामान्यतः 'गुड' (अच्छा) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि मूल्यवान् वस्तुओं को 'अच्छी वस्तुयें' (गुड थिंग्स) कहा जाता है। नैतिक मूल्य के स्वरूप को समझने में ऐसे प्रयोग भ्रामक होने के कारण बाधक हैं। भ्रामक इसलिए कि ऐसी 'अच्छी वस्तुओं' की भी सदैव संभावना है जो किसी भी तरह से मानव कर्मों से प्रभावित नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, सूर्य, चन्द्र, सुन्दर प्राकृतिक दृश्य आदि। इससे सिद्ध होता है कि मूल्य सदैव मानव से संबंधित हैं। यह व्यक्तिनिष्ठ नहीं है। तथापि उसके द्वारा प्राप्य है। अस्तु। नैतिक मूल्य को हम उस प्रकार के मूल्य या अच्छाई के रूप में परिभाषित कर सकते है जो एक सद्गुणी व्यक्ति या सत्प्रेरणा या सच्चरित्रता अथवा सत्कर्म में पाई जाती है।

नैतिक अच्छाई या शुभत्व का अन्य प्रकार की अच्छाईयों से विभेद करने की दृष्टि से फॉन रिट् द्वारा किया गया गुड का वर्गीकरण लाभदायी होगा। रिट् पाँच प्रकार की अच्छाईयों या 'गुडनैस' की व्याख्या करता है। वे हैं–

साधना के रूप में अच्छा, जैसे तेज़ चाकू। द्वितीय, तकनीकी अच्छाई, जैसे अच्छा इंजीनिअर या अच्छा डॉक्टर। तृतीय, उपयोगिता–मूलक अच्छाई, जैसे उपयोगी परामर्श। चतुर्थ, सुखवादी अच्छाई या सुखप्रदता, जैसे सुस्वादु भोजन और पंचम, मानव का कल्याण। दुःखद यह है कि यद्यपि रिट् ने नैतिक अच्छाई का उल्लेख किया है, पर दुर्भाग्यवश उसे उपयोगितामूलक अच्छाई का ही एक उपवर्ग माना है, जबकि नीतिशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र जिन मूल्यों का अध्ययन करते हैं उनमें से अधिकांश का संबंध उपयोगिता से नहीं है।

कभी-कभी मूल्य को ऐसी चीज़ के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसे मनुष्य महत्त्व देता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मूल्य विशुद्धतः विषयीगत हैं, क्योंकि इस परिभाषा में मनुष्य शब्द का प्रयोग व्यक्ति के लिये न किया जाकर, मानव के लिये किया गया है।

आज तक मूल्य की जो परिभाषायें की जाती रही हैं उन्हें मुख्यतः निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

सर्वप्रथम यह माना जाता रहा है कि मूल्य वह है जो मानवेच्छा को संतुष्ट करे; किन्तु यह परिभाषा प्रबुद्धवर्ग द्वारा स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि इच्छा-तुष्टि अपने आप में मानव-जीवन का ध्येय नहीं है। वस्तुतः यह जीवन-रक्षा एवं विकास के लिये अपेक्षित है।

फलस्वरूप कुछ चिंतकों की दृष्टि में मूल्य वह है जो जीवन-रक्षा एवं विकास करता है, परंतु यह परिभाषा भी स्वीकारणीय नहीं है क्योंकि यह जैविक मूल्य की परिभाषा है।

अधिकांश चिंतक उस तीसरी परिभाषा को पसंद करने हैं जिसके अनुसार मूल्य वह है जो आत्मपूर्णता या सद्जीवन में सहायक होता है। यह परिभाषा अपेक्षाकृत सम्यक् है क्योंकि यह मानव-मूल्यों की संपूर्ण प्रणाली की ओर संकेत करती है।

मूल्यमीमांसात्मक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि समय-समय पर मूल्यों के विभिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किये जाते रहे हैं; पर चूँकि अर्बनकृत वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक या समावेशी है अतः उसका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। अर्बन सामान्य व्यक्ति के द्वारा मान्य आठ प्रकार के मानव मूल्य एवं उनके महत्त्व की चर्चा करता है।

सर्वप्रथम वह समस्त मूल्यों को जैविक तथा अतिजैविक मूल्यों के व्यापक विभागों में वर्गीकृत करता है। पश्चात् जैविक मूल्यों के अन्तर्गत शारीरिक

आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्यों की चर्चा करता है। भारतीय परंपरा में इन मूल्य को "अर्थ" तथा "काम" संबोधित किया गया है। ये सभी इस दृष्टि से जैविक मूल्य हैं कि वे मानवजीवन की रक्षा एवं विकास से संबंधित हैं। दूसरे, ये भौतिक मूल्य हैं अर्थात् इनका संबंध इच्छापूर्ति तथा देह और मन की संतुष्टि से है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये तीनों साधन मूल्य हैं अतः इन्हें साध्य मानकर जीवनयापन करना मानव-प्रगति को अवरुद्ध करना तथा मानव दृष्टि को सतही तथा संकीर्ण बना देना होगा।

भारतीय दार्शनिक परंपरा में सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ माना गया है, तथा उनकी व्याख्या प्रायः 'धर्म' और 'मोक्ष' के अन्तर्गत सविस्तार की गई है। अर्बन भी सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा करता है जिन्हें सामान्यतः सभी सुसंस्कृत समाज महत्त्व देते हैं। इन्हें पूर्व उल्लिखित मूल्यों से भिन्न दर्शाने के लिये उसने अति-जैविक संबोधित किया है। समाज तथा व्यक्ति के लिये यें मूल्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक रहे हैं और उनकी यह प्रभावोत्पादकता उनके विस्तार के साथ-साथ बढ़ती जाती है। अन्य विभेदक विशेषता उनकी सार्वभौम स्वीकृति है।

सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत अर्बन साहचर्य तथा चारित्रिक मूल्यों का उल्लेख करता है। भारतीय पारंपरिक दार्शनिक शब्दावली में समस्त सामाजिक मूल्यों को "धर्म" कहा जा सकता है जिसके अन्तर्गत समाज तथा परिवार के सदस्य के रूप में व्यक्ति से अपेक्षित समस्त कर्तव्यों (सत्कर्मों) तथा सद्गुणों को रखा जाता है। इस सन्दर्भ में धर्म-दर्शन के विद्यार्थी यह जानते ही हैं कि धर्म शब्द अंग्रेजी के "रिलीजन" शब्द का पर्यायवाची कदापि नहीं है। अर्बन द्वारा चर्चित साहचर्य के मूल्यों की व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्यों या वर्णधर्म आदि से तुलना की जा सकती है तथा चारित्रिक मूल्यों की व्याख्या सद्गुणों या सच्चरित्रता तथा आश्रम धर्म से संभव है। वस्तुतः सच्चरित्रता से व्यक्ति के उन समस्त सामान्य धर्मों (मानव के रूप में उसके कर्तव्यों) तथा सद्गुणों का बोध होता है जो उसे मानव या मनुष्य बनाते हैं। सर्वविदित है कि संसार में जितने भी जीव सत्तावान् हैं, उनमें से केवल मानव ही आत्मचेतनासंपन्न व विवेकशील होने के कारण "व्यक्ति" शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। परिणामस्वरूप केवल व्यक्ति के संदर्भ में ही सत्कर्म-दुष्कर्म, सद्भावना-दुर्भावना सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सच्चरित्र–दुष्चरित्र आदि भेद संभव हैं। यदि बुद्धि ही उसकी सत्ता का सर्वोच्च सत्य होती तो बुद्धि का दुर्बुद्धि तथा सद्बुद्धि में विभाजन संभव नहीं होता। वस्तुतः बुद्धि के इस भेद का निर्णायक "विवेक' है, और

नैतिक चेतना इस विवेक का एक अपृथक्सिद्ध या अभिन्न अंग है। न केवल मूल्य-चेतना अपितु मूल्यों के क्रम-निर्धारण में यह विवेक प्रारंभ से ही मानव की सहायता करता आया है क्योंकि यह मानव की संरचना में समाविष्ट है।

उपर्युक्त सामाजिक मूल्य आंतरिक मूल्य भी हैं और बाह्य भी। आंतरिक इसलिये कि वे अपने आप में अभीष्ट हैं जैसे सच्चरित्रता या सत्यनिष्ठता, ईमानदारी, सेवाभाव आदि; किन्तु दूसरी दृष्टि से वे बाह्य या साधनमूल्य मी हैं, क्योंकि वे व्यक्ति तथा समाज के सम्यक् विकास एवं कल्याण के लिये अपेक्षित हैं।

बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक मूल्य को पृथक् श्रेणी में न रखते हुये अर्बन ने उन्हें आध्यात्मिक मूल्य ही माना है। इनके अतिरिक्त वह धार्मिक मूल्य को मानता है जो सहज ही स्वीकार्य है क्योंकि धार्मिक मूल्य वस्तुतः नितान्त आंतरिक होते हैं। वे व्यक्ति के अन्तरतम या आत्मन् को संस्पर्श करते हैं। यहां उस भ्रांति की ओर संकेत करना समीचीन होगा जिसके कारण केवल ईश्वर के प्रत्यय या ईश्वर संबंधी विश्वास के आधार पर धार्मिक मूल्य की व्याख्या की जाती है। ईश्वर एक धार्मिक मूल्य है, पर केवल वही एक मात्र धार्मिक मूल्य है ऐसा मानना अनीश्वरवादी धर्मों — यथा. जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि, को धर्म के उच्चासन से विस्थापित करना होगा जो तथ्यनिषेधक होने के साथ-साथ असंगत भी है। परार्थ तथा परमार्थ से सम्बद्ध प्रत्येक मूल्य धार्मिक मूल्य संबोधित किया जा सकता है। संभवतः इसीलिये धार्मिक मूल्यों को निर्वैयक्तिक मूल्यों की कोटि में रखा जाता है। यद्यपि प्राथमिक रूप से ये स्वरूपतः आंतरिक या साध्य मूल्य हैं तथापि कभी-कभी इनकी व्याख्या साधन मूल्य के रूप में भी की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि धर्म पवित्र व दिव्य जीवन तथा आनंद व शांति की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

अर्बन ने नैतिक मूल्यों का एक पृथक् वर्ग न बनाकर, उन्हें आध्यात्मिक मूल्यों के वर्ग में ही वर्गीकृत किया, और समस्त नैतिक मूल्यों का व्यंजक उन्होंने शुभ या 'शुभत्व' को माना। अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों के समान वे भी शुभ के अतिरिक्त सत्य तथा सौंदर्य इन अन्य दो आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार करते हैं इस तरह सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की मूल्यत्रयी द्वारा वे आध्यात्मिक मूल्यों को समझाने का प्रयास करते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में भी आध्यात्मिक मूल्यों की त्रयी पाई जाती है, किन्तु यह त्रयी सत्, चित्, आनंद की है। इन तीन मूल्यों को सर्वोच्च माना गया है तथा इन्हें परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से संबद्ध माना जाता रहा है कि अध्यात्मवादियों ने परम तत्त्व को "सच्चिदानंद" घोषित किया है।

दूसरे जिस बिन्दु पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह है कि भारतीय चिंतन परंपरा में नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्यों के मध्य कोई विभेदक रेखा खींचना असंभव है। इसका कारण यह है कि भारतीय दृष्टिकोण सर्वांगीण दृष्टिकोण है जो शास्त्रगत विशेषज्ञता से पनपे द्वैत या पृथक्ता की अपेक्षा अद्वैत या ऐक्य को अधिक महत्त्व देता रहा है।

यदि हम शारीरिक सुख, मानसिक सुख तथा आत्मिक सुख में भेद करें और सुविधा के लिये उन्हें क्रमशः सुख, मनोरंजन तथा आनंद संबोधित करें तो पाते हैं कि अर्थ या आर्थिक मूल्य एवं काम या मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक मूल्य सुख व मनोरंजन प्रदान करते हैं, पर उन्हें आनंद प्रदायक नहीं माना जा सकता। जहाँ तक उनके शाश्वत होने का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि वे इस दृष्टि से अवश्य शाश्वत हैं कि जबतक मनुष्य की सत्ता है, तब तक वह इन मूल्यों को 'मूल्य' मानता रहेगा; उन्हें महत्त्व देता रहेगा, किन्तु यदि मूल्यों के श्रेष्ठता-क्रम की दृष्टि से उनके स्वरूप को समझने का प्रयास किया जाये तो हम पाते हैं कि वे शाश्वत नहीं, अस्थायी हैं। श्रेष्ठतर मूल्यों की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाने के उपरान्त व्यक्ति की दृष्टि में ये मूल्य महत्त्वहीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि अनुभव करने वाला व्यक्ति शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य को महत्त्व नहीं देता। तीसरे, इन मूल्यों की एक सीमा होती है। अतः निरंतर उपयोग से ये समाप्त हो जाते हैं, जैसे अर्थ। चौथे, इन्हें साधन मूल्य कहा जाना चाहिए क्योंकि ये अपने आप में साध्य नहीं होते, अपितु विशिष्ट साध्य-सुख या मनोरंजन के साधन होते हैं। यही कारण है कि जो मनुष्य इन्हें साध्य मूल्य मानकर जीवन यापन करते हैं, समाज उनकी कटु आलोचना करता है। इस आलोचना के फलस्वरूप ही अर्थ या धन को साध्य माननेवाले को लोभी अथवा कंजूस आदि तथा काम को साध्य माननेवाले को कामुक या स्वार्थी आदि कहकर उसकी निंदा की जाती है। ये मूल्य अपने परिणामों के कारण मूल्य कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इन मूल्यों का महत्त्व उनके परिणामों के कारण-है।

कुछ ऐसे चिंतक भी हैं जो समस्त मूल्यों को विधानात्मक मूल्य तथा निषेधात्मक मूल्यों की श्रेणी में विभाजित करते हैं। वे विधानात्मक उन मूल्यों को कहते हैं जो साध्य मूल्य की प्राप्ति में सहायक है, और जो सहायक नहीं है उसे निषेधात्मक मूल्य नाम देते हैं। मेरे मतानुसार "निषेधात्मक मूल्य" शब्दावली वदतोव्याघाती या आत्म-विरोधी है क्योंकि मूल्य शब्द का तो अर्थ ही किसी चीज का महत्त्वशाली होना है, फिर चाहे वह साध्य के रूप में महत्त्वशाली हो या साधन के रूप में। "निषेधात्मक मूल्य" के स्थान पर मूल्यहीन कहना अधिक बुद्धिसंगत होगा!

उपर्युक्त मूल्यों के विपरीत चारित्रिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आनंद प्रदायक तथा स्थायी होते हैं। ये सांध्य मूल्य हैं। उदाहरणस्वरूप, सद्‌गुण या सच्चरित्रता अपने आप में इष्ट हैं। इसी तरह सामाजिक कल्याण तथा आत्म-साक्षात्कार या आत्मपूर्णता अपने आप में साध्य हैं।

अर्बन की इस बिन्दु पर भी आलोचना संभव है कि वह बौद्धिक मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों का ही एक उपवर्ग मानता है, जो अनुचित है। संभवतः इसका कारण उसके चिंतन पर पाश्चात्य परंपरा का सहज स्वाभाविक, अचेतन रूप से पड़ा प्रभाव है जिसके फलस्वरूप वह बौद्धिकता तथा आध्यात्मिता के मध्य कोई विभाजन रेखा, साधारण व्यक्ति की दृष्टि से, खींचने में असमर्थ रहा है।

मूल्यों के श्रेष्ठता--क्रम के निर्धारण में अर्बन द्वारा वर्णित संगठन के तीन सिद्धान्तों से सहमत हुआ जा सकता है। उनमें से पहला सिद्धांत है कि साध्य मूल्य साधन मूल्यों से श्रेष्ठ हैं। द्वितीय सिद्धांत, अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा शाश्वत मूल्य श्रेष्ठ हैं। तृतीय सिद्धांत, अनुत्पादक मूल्यों से उत्पादक मूल्य श्रेष्ठ हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि उत्पादकता से क्या तात्पर्य है? यहाँ उत्पादकता' अर्थ परिणाम मनोनुकूल परिणामक को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से है अथवा प्रभावोत्पादकता से?

मूल्यमीमांसात्मक दृष्टि से सात प्रकार के मूल्यों की गणना अस्थायी रूप से की जा सकती है। वे सात हैं - सांस्कृतिक मूल्य, उपयोगितावादी अथवा व्यवहारवादी मूल्य (सुखं आदि), अनुभवात्मक मूल्य, नैतिक मूल्य (धर्म), धार्मिक मूल्य (ईश्वर आदि), आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष, आत्म, साक्षात्कार आदि), तथा सौन्दर्यात्मक मूल्य (सौन्दर्य आदि)। नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य इस दृष्टि से अनुभवात्मक तथा उपयोगितावादी मूल्यों से भिन्न हैं कि इन मूल्यों से संबंधित कथनों को अनुभवात्मक अथवा उपयोगितावादी विधियों से जांचा व प्रमाणित नहीं किया जा सकता है? पेरी और टेलर उन आठ क्षेत्रों की चर्चा करते हैं जिनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट मूल्य का प्रतिनिधि है। ये क्षेत्र हैं नैतिकता (नैतिक मूल्य), कला (सौन्दर्यात्मक मूल्य), विज्ञान (बौद्धिक मूल्य), धर्म (धार्मिक मूल्य), अर्थशास्त्र (आर्थिक मूल्य), राजनीति (राजनैतिक मूल्य), कानून (न्याय), प्रथा एवं सामजिक व्यवहार (सामाजिक मूल्य)। इस तरह हम देखते हैं कि मूल्यों के विभिन्न वर्गीकरण समय समय पर प्रस्तुत किये जाते रहे हैं जिसका कारण मुख्यतः यह है कि मनुष्य अपनी सृजनात्मकता के माध्यम से निरंतर मूल्यों के क्षेत्र में नये मूल्य घोषित करता रहा है।

मूल्यों में उपर्युक्त विभिन्नतायें होने के बावजूद कुछ ऐसी विशेषतायें भी हैं जो सभी प्रकार के मूल्यों में पाई जाती हैं। सर्वप्रथम हम यह पाते हैं कि मूल्यों के संबंध में सत्यता-असत्यता का प्रश्न नहीं उठता। तात्पर्य यह कि सत्यासत्य की

कसौटी पर उन्हें नहीं तौला जा सकता। उनकी प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर करती है कि वे मानव जीवन तथा मानव के सुख तथा कल्याण के साधक हैं अथवा नहीं।

समस्त मूल्य आत्मसम्बद्ध अथवा व्यक्तिसम्बद्ध भी हैं। इस अर्थ में वे व्यक्ति-सम्बद्ध हैं कि उन मूल्यों में से किस मूल्य को व्यक्ति महत्त्व देगा, यह उस व्यक्ति के स्वभाव, व्यक्तित्व तथा चेतना के विकास के स्तर पर आधृत रहता है। निःसंदेह हमारा चेतना का स्तर हमारी मूल्य चेतना को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ यदि हम शरीर को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं और आत्मन् जैसी कोई सत्ता स्वीकार नहीं करते, तो हम भौतिकवादी मूल्यों को महत्त्वपूर्ण मानेंगे तथा आध्यात्मिक मूल्य को नकारेंगे।

यद्यपि सभी मूल्य महत्त्पूर्ण हैं तथापि किसी विशेष समय में, परिस्थितियों के कारण, हमें इनमें से एक या दो मूल्यों को प्रधान मूल्य के रूप में चुनना होता है। विशेष परिस्थिति या कालावधि-विशेष में तात्कालिक रूप से सर्वश्रेष्ठ अथवा सर्वाधिक प्रासंगिक मूल्य को चुनना वांछनीय है जबकि सर्वांगवाद के समर्थक यह विश्वास करते हैं कि हमें समस्त मूल्यों को एक संगठित रूप में प्राप्त करना चाहिए।

एक दृष्टि से यह दावा किया जा सकता है कि मूल्य वस्तु-जगत् से संबंधित नहीं हैं, क्योंकि वे वस्तुओं के रूप में, देश व काल में अवस्थित नहीं हैं। वे तथ्य के रूप में सत्तावान् नहीं हैं। वे वास्तविक हैं, सत्य हैं, किन्तु सत्तावान् नहीं हैं।

मूल्य केवल मनुष्य के लिये हैं। तात्पर्य यह है कि केवल बौद्धिक तथा आत्मचेतन प्राणी के संदर्भ में इनकी चर्चा संभव है, और मनुष्य दो रूप में इन मूल्यों से जुड़ा रहता है। वह मूल्यों का उत्पादन भी करता है तथा मूल्यों का आनंद भी उठाता है।

मूल्यों के संबंध में जो अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उसका कारण यह है कि किसी एक मूल्य की व्याख्या में हम जो उपाय, उपयोगी मानकर, अपनाते हैं, उसी उपाय को दूसरे मूल्य की व्याख्या में भी अपनाकर एकता स्थापित करने का असफल व असंगत प्रयास करते हैं। वस्तुतः यह गलती इसलिये होती है कि हम यह भूल जाते हैं कि मूल्यों में गुणात्मक भेद होता है।

समस्त मूल्यों को 'संस्कृति तथा सभ्यता' के अन्तर्गत माना जाता है।

दर्शनशास्त्र का कार्य विभिन्न प्रकार के मूल्यों की चेतना को जगाने के साथ ही साथ मनुष्य को मूल्यों के महत्व-क्रम से परिचित कराना भी है। दर्शनशास्त्र मुख्यतः उन मूल्यों का अध्ययन करता है जो व्यक्ति विशेष के लिए महत्त्वपूर्ण न होकर, संपूर्ण मानवता के लिए महत्त्व रखते हैं। उदाहरणार्थ, आदर्शात्मक

विज्ञान या नीतिशास्त्र के रूप में दर्शनशास्त्र मात्र उपयोगितात्मक मूल्यों का अध्ययन नहीं करता क्योंकि उपयोगिता किसी न किसी व्यक्ति से संबंधित होती है। कोई साधन किसी एक व्यक्ति के लिये उपयोगी हो सकता है; पर यह आवश्यक नहीं है कि वही साधन किसी अन्य व्यक्ति के लिये भी उपयोगी हो। दूसरे शब्दों में, दर्शनशास्त्र केवल सार्वभौमिक या सर्वोच्च मूल्यों का ही अध्ययन करता है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल्यों की श्रृंखला में स्थित मूल्यों के महत्त्व-क्रम या श्रेष्ठता-क्रम को हम कैसे जानते हैं ? मेरी दृष्टि में यह श्रेष्ठता-क्रम मानव ने समग्र निरीक्षण तथा गहरे आत्मनिरीक्षण के आधार पर निर्धारित किया है।

पश्चिमी दृष्टि से समस्त मूल्यों में तीन सर्वोच्च मूल्य सर्वाधिक चर्चित हैं। वे हैं-सत्यम्, शिवम् तथा सुंदरम। इन्हें अति-वैयक्तिक मूल्य माना जाता है। ये मूल्य या आदर्श व्यक्ति-निरपेक्ष हैं, यद्यपि व्यक्ति इनकी प्राप्ति हेतु निरंतर सचेष्ट रहता है, क्योंकि आत्मपूर्णता के लिए ये तीनों अपेक्षित हैं। इन्हें आदर्श इसलिये कहा जाता रहा है कि इनमें से प्रत्येक मानव व्यक्तिव के तीन आधारभूत पक्षों का वस्तुगत साध्य है। सामूहिक रूप में वे मानव की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों, और वौद्धिक, भावनात्मक तथा संकल्पात्मक पक्षों----संपूर्ण व्यक्तित्व ---को संतुष्ट करते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें अपने आप में साध्य अथवा आंतरिक मूल्य कहा जाता है। वे पृथक् पृथक् नहीं वरन् घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्वद्ध हैं; किन्तु मानव-बुद्धि इस संबंध को समझने में असमर्थ है। यह कहा जाता रहा है कि आधारभूत दृष्टि से वे 'एक' हैं तथा मानव स्वभाव की तात्त्विक एकता को इंगित करते हैं। ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा संकल्पात्मक पक्ष के ऐक्य के द्योतक हैं, तथापि मानव-बुद्धि उनके ऐक्य को नहीं समझ सकती है।

यहां " शिवं " शुभ या नैतिक मूल्य का प्रतीक है। यह सत्य व सौन्दर्य से जुडा है। चूंकि नैतिक मूल्य इस लेख के द्वितीयांश का विवेच्य विषय है अतः यहां उसकी विवेचना करना उचित न होगा।

-छाया राय

दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर–४८२००१

चित्सुखाचार्य के मतानुसार तम की भावरूपता

कहा जाता है कि प्रायः सभी अद्वैतवेदान्तियों में अधोलिखित तीन प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में मतैक्य है :

१. ब्रह्म ही एक मात्र सत् है,
२. जगत् मिथ्या है, तथा
३. जीव एवं ब्रह्म तत्त्वतः अभिन्न हैं।

यहां पर यह विचारणीय है कि ये तीनों क्या तीन भिन्न-भिन्न प्रतिज्ञप्तियां है अथवा ये भिन्न-भिन्न प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं हैं। यदि ये तीन भिन्न-भिन्न प्रतिज्ञप्तियां मानी जायेंगी तो अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् में तीन पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हो जायेंगी। किन्तु ऐसा मानने से स्वयं अद्वैतवाद खंडित हो जायेगा। अतएव प्रतिज्ञप्ति तो एक ही है वह है "ब्रह्म सत्य है" जो स्वयं सिद्ध है। अन्य दो प्रतिज्ञप्तियां इस स्वयंसिद्ध सत्ता की पुष्टि के लिये हैं। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। इसे हमारी बुद्धि ग्रहण करने में साधारणतया असमर्थ होती है क्योंकि हमारे अन्दर यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि यह दृश्य जगत्, जिसके साथ हमारा सम्पूर्ण व्यवहार जुड़ा हुआ है, क्या है? अर्थात् उसका स्वरूप क्या है? वे सब जीव जिन्हें हम अलग-अलग अनुभव करते हैं (कोई सुखी है तो कोई दुःखी है, कोई कर्मरत है तो कोई निद्रामग्न है) उनके विषय में हमारी क्या अवधारणा होगी? इन स्वाभाविक प्रश्नों के उत्तर के रूप में ब्रह्म सत्य के साथ अन्य दो प्रदत्त प्रतिज्ञप्तियों का औचित्य स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् जगत् को मिथ्या मानेंगे और जीव–ब्रह्मैक्य के ज्ञान को प्राप्त होंगे तभी श्रुतिवाक्य 'एकमेवाद्वितीय'[1] एवं 'नेहनानास्तिकिंचन'[2] का अर्थ भी 'ब्रह्मसत्य' साथ ही साथ स्पष्ट होगा। अतः जगत् को मिथ्या कहना और जीव ब्रह्म ही है यह प्रमाणित करना, ब्रह्म की एक मात्र सत्ता निरूपित करने के लिये आवश्यक होने से यह कहा जा सकता

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

है कि दूसरी व तीसरी प्रतिज्ञप्तियां, प्रथम प्रतिज्ञप्ति (जो स्वयं सिद्ध है) के विस्तार मात्र हैं।[३]

अद्वैतवादियों का विचार दो दृष्टिकोणों से है– १. पारमार्थिक और २. व्यावहारिक। उपर्युक्त विचार तो पारमार्थिक दृष्टिकोण से है। व्यवहार में जगत् सत्य है या परमार्थ के ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) न होने तक उसकी सत्ता है। अत: अद्वैतवादियों ने जगत् को मिथ्या कहा न कि असत्। इसे स्पष्ट रूप से समझना है तो शंकराचार्य के उन तीन सत्ता की कोटियों पर विचार करना है जिनके मध्य वे भेद स्थापित करते हैं। सत्ता की तीन कोटियां क्रमश: १ सत् २. असत् और ३. सदसद्विलक्षण हैं। सत् उस कोटि की सत्ता है जो त्रिकालाबाधित[४] है अर्थात् जिसकी सत्ता तीन काल– भूत, भविष्य और वर्तमान– में अबाधित या अखंडित रहे या जिसकी सत्ता प्रत्येक काल में बनी रहे। ब्रह्म ही वह सत्ता हैं।

इस सत्ता की एक और भी विशेषता है और वह है उसमें वस्तुस्वतंत्रता का होना। सत् की इस विशेषता का अर्थ समझने के लिए इसके विपरीत सिद्धान्त पुरुषतंत्रता पर भी विचार करना आवश्यक है। पुरुषतंत्रता का अर्थ है बुद्धि या इच्छा की स्वतंत्रता। किन्तु ज्ञान या अनुभूति को पुरुष-बुद्धि या इच्छा की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ज्ञान सिद्ध वस्तु विषयक ही होता है[५]। सत् को, जो ज्ञानस्वरूप है, अपने ज्ञान के लिये पुरुष-बुद्धि या इच्छा की अपेक्षा नहीं होती या अपने ज्ञान के लिये उसे मात्र अपनी ही अपेक्षा होती है।[६] फलस्वरूप उसे हम जाने या न जाने या गलत रूप में जाने उसके अपने स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं आता, उसका जैसा स्वरूप है वैसा ही बना रहता है। उसमें किसी प्रकार की विपर्यय नहीं रहता क्योंकि वस्तुतंत्रता मनुष्यबुद्धि निरपेक्ष होती है और विकल्प तो मानव बुद्धि पर निर्भर करता है।[७] वस्तुतंत्रता व पुरुषतंत्रता को निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है–

जब हमें अधंकार में रज्जु पड़ी मिलती है, तब हमारे मन में प्रश्न उठता है- यह क्या है या क्या यह सर्प है अथवा क्या रज्जु है ? इनमें में से प्रथम दो विकल्प मिथ्या हैं या भ्रम हैं क्योंकि वे अन्तिम ज्ञान 'यह रज्जु है' से बाधित हो जाते हैं। अत: अन्तिम ज्ञान जो बाधक होता हुआ अन्य दो को बोधित करता है सत्य है और अन्य दो बाधित होने के कारण सत्य के पर्याय में नहीं रखे जा सकते हैं। इस उदाहरण का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि रज्जु का जो निजी स्वरूप है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, चाहे हम उसे रज्जु के रूप

में ग्रहण करें, चाहे हम सर्प के रूप में ग्रहण करें या, चाहे हम उसे बिलकुल ही ग्रहण न करें। कहने का तात्पर्य यह है कि रज्जु पूर्णरूपेण स्वयं अपने ज्ञान के लिये हमारी बुद्धि से स्वतंत्र है। उसे सर्प के रूप में तो जानना हमारी बुद्धि का कार्य है और हम यह विचार कर ही चुके हैं कि सर्प का ज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। अतः वस्तुतन्त्र स्वरूप का ज्ञान जब होगा तब सभी को उसी रूप में होगा जिस रूप में वह है। पुरुषतन्त्र स्वरूप के ज्ञान में विकल्प होने से यदि हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तो यह अनिवार्य नहीं है कि सभी को उसमें सर्प की प्रतीति हो ही क्योंकि रज्जु का वास्तविक स्वरूप सर्प नहीं है रज्जु ही है।

दूसरी कोटि, जिसे असत् कहा गया है, सत् का विपरीत होने से त्रिकालबाधित का भी विपरीत होगा अर्थात् सत् के विपरीत इसकी सत्ता तीन काल में से किसी भी काल में संभव नहीं होगी। इस कोटि के अन्तर्गत शशशृंग, आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र को रखा जाता है क्योंकि शश के श्रृंग या आकाश में कुसुम या वन्ध्या का पुत्र न तो कभी भूतकाल में किसी ने देखा था, न वर्तमान काल में कोई देखता है और न ही भविष्य में उनके देखे जाने की आशा ही है।

तीसरी कोटि सदसद्विलक्षण है। सदसद्विलक्षण का अर्थ होता है जो न सत् और न ही असत् हो या जो सत् और असत् दोनों से विलक्षण हो। इसके अन्तर्गत जगत् को रखा जाता है। इस कोटि की सत्ता को रज्जु–सर्प के उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। रज्जु में सर्प दृष्टिगोचर होता है। उसके विषय में यदि यह प्रश्न उठे कि क्या वह सत् है तो उसका उत्तर होगा नहीं। ऐसा इसलिए कि सत् त्रिकालाबाधित होने से (जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) उसकी सत्ता कभी भी बाधित नहीं होती है। परन्तु हम अनुभव में यह पाते हैं कि अन्धकार का लोप हो जाने से सर्प की सत्ता बाधित हो जाती है और हमारे सम्मुख हम रज्जु को ही पड़ा प्राप्त करते हैं। इसी स्थान पर दूसरा प्रश्न यह भी उठ सकता है कि क्या सर्प असत् है? इस प्रश्न का उत्तर भी निषेधात्मक ही होगा क्योंकि असत् से तो हमारा परिचय हो ही चुका है और हम यह जानते हैं कि उसकी सत्ता तीन काल में से किसी भी काल में संभव ही नहीं है, जबकि सर्प की वर्तमान सत्ता (उसका प्रतीत होना) का निषेध नहीं किया जा सकता। अब यदि हमें इस प्रश्न का उत्तर देना हुआ कि रज्जु में प्रतीत सर्प की सत्ता क्या है तो यही कहना होगा कि वह न तो सत् और न ही असत् होने से सदसद्विलक्षण है या मिथ्या सत्ता अतः अद्वैतवादियों के जगत् को मिथ्या कहने का आशय यही है कि वह शशश्रृंग के समान असत् नहीं है। दूसरे शब्दों में, यदि

जगत् सत् नहीं हैं तो असत् भी नहीं है या वह असत् के अर्थ में मिथ्या नहीं है वरन् सदसद्विलक्षण के अर्थ में मिथ्या है।

अद्वैतवादियों ने जगत् के मिथ्यात्व को माया के सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित किया है। यह माया, जिसका आश्रय एवं विषय दोनों ब्रह्म ही है, दो प्रकार से कार्य करती है— १. ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देती है, २. जो नहीं है उसका विक्षेपण करती है। ये दोनों क्रियाएं माया की जिन शक्तियों से हैं, वे क्रमशः आवरण और विक्षेप कहलाती हैं। अतः ब्रह्म रूपी अधिष्ठान में जगत् वैसे ही भासित होता है जैसे रज्जु में सर्प। माया की वे दो शक्तियाँ क्रमशः अभाव व भाव रूपी मानी जा सकती हैं। माया को मात्र अभाव रूप मानने में क्या कठिनाई हो सकती है, या माया के भावरूप का क्या प्रयोजन है ऐसा प्रश्न उठ सकता है क्योंकि न्याय-वैशेषिक के यहाँ "अभाव" सातवे पदार्थ के रूप में गृहीत होता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि इसी प्रश्न के उत्तर से यह स्पष्ट हो जायेगा कि माया के अभावरूप के साथ-साथ उसका भावरूप यदि नहीं स्वीकार किया जाये तो अद्वैत वेदान्त का सारा सिद्धांत ही ढह जायेगा। यदि माया में मात्र अभावात्मिक शक्ति ही मानी जाये तो ब्रह्म पर उसका आच्छादन ही संभव होगा और फलस्वरूप ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित हो जायेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व अन्धकार के कूप में समा जायेगा। विक्षेप शक्ति माया की वह शक्ति है जिससे जगत् भासित होता है। इसके अभाव में भासमान जगत् की व्याख्या कैसे संभव है? जैसे जगत् को सत् मानने में अद्वैत का खंडन हो जाता है वैसे ही जगत् को असत् मानने से प्रतीति के साथ वदतोव्याघात होता है। अतः इस वदतोव्याघात से रक्षा पाने के लिए माया का भावरूप होना अत्यावश्यक है। अतः माया या अविद्या या अज्ञान या तम भावरूप भी है। इसीकी पुष्टि चित्सुखाचार्य वाद शैली के आदर्श उदाहरण तत्त्व प्रदीपिका में करते हैं। अतः अब हम चित्सुखाचार्य द्वारा दिए गए उन सारे तर्कों की चर्चा करेंगे जिससे तम की भावरूपता प्रमाणित होती है।

चित्सुखाचार्य के मुख्य प्रतिद्वन्दी नैयायिक हैं जो "अभाव" पदार्थ को मानते हैं। अतः चित्सुखाचार्य तम की भावरूपता का प्रतिपादन नैयायियों के ही प्रश्नों का उत्तर देते हुये करते हैं। चित्सुखाचार्य स्वयंज्योति श्रुति से आत्मा का स्वप्रकाशत्व प्रमाणित करने के अवसर पर उसकी अन्तिम पंक्ति में कहते हैं- आत्मस्वरूप वह ज्ञान, अविद्या-कल्पित प्रपञ्च का भासक और अविद्या रूप अन्धकार का निवर्तक होने से "ज्योति" शब्द से संबोधित होता है जैसे कि रात्रिगत भावरूप अन्धकार के निवर्तक एवं जगत् के भासक सूर्यादि ज्योति कहे जाते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रंथकार ने जिस प्रकार स्वप्रकाश की चर्चा करने के पूर्व वह नृसिंह नारायण जो स्वयंप्रकाश हैं, उनका मैं नमस्कार करता हूँ। [११] (मङ्गलाचरण की अन्तिम पंक्ति) कहकर नाटकों में नान्दी की तरह स्वयंप्रकाश का प्रसंग छेड़ा, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी तम या अन्धकार को भावरूप प्रतिपादित करने के लिए उसी शैली का प्रयोग किया, अर्थात् तम का भी प्रसंग छेड़ा। पूर्वपक्ष (नैयायिक), जो अन्धकार के भावरूप को अस्वीकार करते हैं, पूछते हैं– यदि अन्धकार जैसा कोई सत्ता है तो क्या उसे पदार्थ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ? तम भावरूप होने से सातवाँ पदार्थ अभाव को छोड़कर बाकी छः पदार्थ को लेकर ही उपर्युक्त प्रश्न है। यदि उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक है तो तम का यः तो इन्हीं छः पदार्थों में अन्तर्भाव होगा, नहीं तो वह इनसे अतिरिक्त कोई पदार्थ होगा। प्रथम विकल्प को यदि समर्थित किया जाए तो प्रश्न होगा कि क्या तम को प्रथम पदार्थ अर्थात् द्रव्य माना जा सकता है ? नैयायिक पूरे नौ द्रव्य [१२] मानते हैं अतः तम को द्रव्य मानने में भी दो विकल्प होंगे–या तो १. उन्हीं नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव हो, नहीं तो २. इनके अतिरिक्त वह दसवाँ द्रव्य हो।

मान लिया कि प्रथम विकल्प माना जाता है, अर्थात् यह माना जाता है कि तम इन्हीं नौ द्रव्यों में से एक है। नैयायिक अब इस विकल्प के समर्थन में दोष दिखाते हुए कहते हैं–दिक्, काल, आकाश और आत्मा नित्य द्रव्य होने के कारण तम का अन्तर्भाव इनमें नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि तम नित्य नहीं है, यह सर्वविदित है। अपिच नौ द्रव्यों में पांच से लेकर चौदह गुण पाए जाते हैं। पृथ्वी के चौदह गुण होते हैं [१३]। पृथ्वी की तरह जल में भी चौदह गुणों में से उसके विशेष गुण गन्ध का अभाव एवं जल के विशेष गुण स्नेह का भाव होता है। [१४] आत्मा भी पृथ्वी और जल की भांति चौदह गुणों का आधार होता है [१५]। तेज में ग्यारह गुण अधिष्ठित होते हैं। [१६] तेज के ग्यारह गुणों में से यदि प्रथम (रूप) व दशम (द्रवत्व) का बहिष्कार कर दिया जाए तो अवशिष्ट नौ गुण वायु के कहलाते हैं। [१७] वायु के नौ गुणों में से प्रथम (स्पर्श) को त्याग दिया जाए तो शेष आठ गुण मन के माने जाते हैं [१८]। आकाश को छः गुणों का आधार माना जाता है [१९]। आकाश के छः गुणों में से यदि प्रथम (शब्द) का त्याग किया जाए तो अवशिष्ट पाँच गुण दिक् और काल दोनों के होंगे। [२०] तम में गुणाभाव के कारण उन नौ द्रव्यों में उनका अन्तर्भाव असंभव है। दूसरा विकल्प भी दोषयुक्त है, जिसका समर्थन द्रव्य की परिभाषा से हो जाता है। द्रव्य की परिभाषा है-वह जिसमें गुण हो [२१] और अन्धकार गुणहीन है इसकी चर्चा भी

हो ही गयी है। अतः न्याय द्वारा चर्चित नौ द्रव्यों के अतिरिक्त दसवें द्रव्य के रूप में तम गृहीत नहीं हो सकता। नैयाधिक पुनः कहते हैं कि इस पर यदि यह कहा जाए कि नीला कमलदल जैसा श्याम एवं महान् गुणवाला प्रतीत होने से तम गुणहीन कैसे कहला सकता है, तो यह युक्त नहीं है। गन्धादि का सहवर्ती श्यामरूप गन्धादि का व्याप्य है (जैसे धुआं अग्नि का व्याप्य है और अग्नि धुएं का व्यापक है)। अतः व्यापक गन्धादि का तम में अभाव होने से व्याप्य श्यामरूप का भाव कैसे संभव हो सकता है ?

नैयायिक पुनः कहते हैं– यदि अन्धकार को भिन्न द्रव्य मान भी लिया जाए तो एक और भी समस्या आती है क्योंकि वहां यह स्वाभाविक प्रश्न होगा कि तम को सावयव माना जाए अथवा निरवयव ? यह सावयव नहीं हो सकता क्योंकि सावयव मानने पर प्रश्न उठेगा कि उसके आरम्भक अवयव सस्पर्श होंगे या निःस्पर्श ? प्रथम कल्प अनुचित है क्योंकि अन्धकार में स्पर्श नहीं होता। आरम्भक अवयवों को निःस्पर्श मानने पर मन की तरह (जो निःस्पर्श है) उसे भी द्रव्य का आरम्भक नहीं माना जा सकता। दूसरा कल्प, कि क्या तम को निरवयव माना जा सकता है, भी युक्त नहीं है क्योंकि निरवयव होने के लिए उसे नित्य होना होगा और तम नित्य नहीं है क्योंकि प्रकाश से इसका निवर्तन होना सबको विदित है।

इस बात की चर्चा के उपरान्त कि तम को द्रव्य नहीं माना जा सकता (चाहे नैयायिकों के नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव मानकर माना जाए या दसवे द्रव्य के रूप में माना जाए) नैयायिक अब यह बताने की चेष्टा करते हैं की तम को नैयायिकमान्य दूसरा पदार्थ अर्थात् गुण भी मानना असम्भव है। तम को गुण मानने पर प्रश्न होगा (१) क्या इसका अन्तर्भाव रूप में होगा या (२) दुसरे गुण में? प्रथम विकल्प मानने में पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों के गुणों में से किसी में इसका अन्तर्भाव मानना होगा क्योंकि यही तीन रूपवान् द्रव्य हैं। परन्तु इनकी उपलब्धि की शर्त है आलोक का सहचार। इसके विपरीत तम का आलोक से सहचार होने से उपलब्धि के स्थान पर नाश होगा या अनुपलब्धि होगी। तम आकाश और वायु का गुण भी नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों में रूप नहीं है। आकाश का गुण शब्द [२२] है और वायु का गुण स्पर्श [२३]। दिशा, काल और मन के गुण भी नहीं हो सकते क्योंकि उनमें विशेष गुण का अभाव रहता है [२४]। आत्मा का भी गुण बनना असम्भव है क्योंकि आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रिय से नहीं होता जबकि तम का प्रत्यक्ष नेत्रेन्द्रिय से होता है।

अतः यदि अन्धकार न द्रव्य है और न ही गुण है तो स्वाभाविक प्रश्न होगा कि तब क्या इसे कर्म माना जा सकता है जो तीसरे पदार्थ के रूप में गृहीत है ? अन्धकार का कर्म होना भी संभव नहीं है क्योंकि वैशेषिक संयोग और विभाग के असमवायिकारण को ही कर्म मानते हैं। अतः संयोग और विभाग का अन्धकार में प्रश्न ही न होने से वह कर्म होने से रह जाता है।

इसी तम को अवशिष्ट तीन पदार्थ सामान्य, विशेष और समवाय भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि व्यक्ति की उपलब्धि के पश्तात् ही विशेष की व सम्बन्ध की उपलब्धि के पश्चात् ही सामान्य (जाति) की, आश्रय की उपलब्धि के पश्चात् समवाय की प्रतीति संभव है ऐसा नियम है। परन्तु अन्धकार की प्रतीति बिना किसी व्यक्ति, आश्रय या संबन्धी की उपलब्धि किये ही होने से उसे उपर्युक्त तीन पदार्थों में से किसी के भी अन्तर्गत मानना असम्भव हो जाता है।

इतने विश्लेषण के पश्चात् नैयायिक इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तम का किसी भी (छः भावरूप) पदार्थ में अन्तर्भाव संभव नहीं हो पाने से उसे भावरूप मानना सर्वथा अनर्थक है।

नैयायिक तम को भावरूप मानने में एक और कठिनाई की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि भावरूप मानकर तम की प्रतीति संभव नहीं है क्योंकि फिर उसके उपलब्धिकता को मानने की आवश्यकता हो जायगी। नेत्र को उपलब्धि कराने वाला या उपलम्भक मानने से बात नहीं बनती क्योंकि नेत्र बन्द करने पर उसकी प्रतीति रुकने के स्थान पर होती रहती है। दूसरी बात नेत्र को भी प्रत्यक्ष करने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है। यह कथन हमारे अनुभव पर आधारित है, क्योंकि हमने सर्वदा यही देखा है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष तभी होता है जब वहां अन्धकार न हो या प्रकाश हो। यदि मन को उसका उपलम्भक माना जाए तो भी उचित नहीं है। क्योंकि मन भी बाह्य पदार्थ के प्रत्यक्ष के लिए बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा करता है।

अतः अब तम को भावरूप होने के लिए कोई भी मार्ग खुला न रहने के कारण यही मानना उचित दीखता है कि वह भावरूप नहीं है।

यहां तक पूर्वपक्ष को जितने भी तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं उसका पूरा-पूरा अवकाश दिया गया। तत्पश्चात् उत्तरपक्ष या सिद्धान्तपक्ष का तम के भावरूप होने के क्या-क्या तर्क हैं, उसका विचार किया जायेगा। सिद्धान्ती

तम को भावरूप प्रमाणित करने के लिए सर्वप्रथम उसे द्रव्य प्रमाणित करते हैं। द्रव्य होने के लिए उसमें गुण और क्रिया दोनों का होना आवश्यक है। अत: तम के द्रव्यत्व को प्रमाणित करने के लिए दो हेतु, (१) श्यामरूप जो उसका गुण है और (२) चलन जो उसकी क्रिया है, देते हैं। सिद्धान्ती का कहना है कि तम द्रव्य ही है परन्तु नैयायिक सम्मत नौ द्रव्य के अतिरिक्त यह दशम द्रव्य है। सिद्धान्ती इस स्थल में तर्क यह देते हैं कि तम का नौ द्रव्यों में अन्तर्भाव न हो पाने से उसे द्रव्य कैसे माना जा सकता, क्योंकि क्या नौ से अतिरिक्त दसवां द्रव्य नहीं हो सकता ? इसमें स्पष्ट रूप से तमाल के सामान श्यामलता (गुण) की प्रतीति सबको होती ही है। यहाँ कोई यह आपत्ति कर सकता है कि वास्तव में प्रकाश की प्रतीति न होने के कारण शामलता की प्रतीति का भ्रम है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यही कहना होगा कि जिसकी प्रतीति नहीं होती उसका व्यवहार भी नहीं होता है; परन्तु यहाँ अन्धकार-विषयक व्यवहार होता है। अत: उसकी प्रतीति को भ्रम नहीं कहा जा सकता है। यहाँ यह भी शंका की जा सकती है कि श्यामल शब्द का व्यवहार वैसा ही औपचारिक है जैसा कि शुभ्र वस्त्र मलिन होने पर उसे कृष्ण कहा जाता है[२६]। परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं समझनी चाहिए। गौण प्रयोग या औपचारिक प्रयोग वहीं होता है जहाँ मुख्य अर्थ में बोध में कोई बाधक हो। यहाँ ऐसी कोई बात न होने से औपचारिक प्रयोग की संभावना नहीं कही जा सकती। इस पर पूर्तपक्ष पुन: कहता है कि रूपवान् पदार्थ, नेत्रजन्य ज्ञान का विषय तब होता है जब वहाँ प्रकाश हो। प्रकाश के अभाव में नेत्र रूपवान् को देखने में समर्थ नहीं होता। परन्तु तम के क्षेत्र में तो प्रकाश का रहना ही उसकी विषयता को बाधित करता है। यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि प्रकाश के अनुरोध पदार्थ के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश सहकृत होना अनिवार्य है किन्तु तम, जो कि प्रकाश का विरोधी है, उसमें प्रकाश व्यङ्ग्यःता नहीं है। अत: उसके प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं है। पुन: प्रश्न हो सकता है कि सर्वत्र आलोक सापेक्ष ही वस्तु प्रत्यक्ष करने वाले चक्षु में तम प्रत्यक्ष के स्थल पर उसमें आलोक निरपेक्ष प्रत्यक्ष की सामर्थ्य कैसे मानी जाए ? इस विषय में यह समझना चाहिए कि किसी भी वस्तु की सामर्थ्य का ज्ञान उसके द्वारा किये गये कार्य से होता है। चक्षु के आलोक निरपेक्ष होकर भी प्रत्यक्ष की सामर्थ्य का भान तो आलोक विरोधी तम के प्रत्यक्ष स्थल पर ही संभव हैं। यदि ऐसा न माना जाए तब तम को प्रकाशाभाव मानकर भी उस अभाव का प्रत्यक्ष संभव नहीं होगा। अत: आलोक विरोधी तम के प्रत्यक्ष में आलोक की अपेक्षा किसी भी प्रकार से नहीं है। इसे सिद्धान्ती अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध करते हैं— आँख प्रकाश से अजन्य, रूपी द्रव्य के साक्षात्कार का जनक है, रूपी

द्रव्य का ग्राहक इन्द्रिय होने के कारण, जैसे त्वक् इन्द्रिय। इस अनुमान में पूर्वपक्ष 'रूपरहितेन्द्रियत्व' उपाधि देकर उपाध्यभाव से साध्याभाव की अनुमिति करने की चेष्टा करने पर सिद्धान्ती रूपी 'रूपिद्रव्याग्राहकत्व' दूसरी उपाधि देकर पूर्वपक्ष की उपाध्यभाव से साध्यभाव की अनुमिति खंडित कर देते हैं जिससे सिद्धान्ती द्वारा दिया गया अनुमान आँख प्रकाश से अजन्य रूपी द्रव्य के साक्षात्कार का जनक है; रूपी द्रव्य का ग्राहक इन्द्रिय होने के कारण, जैसे त्वक् इन्द्रिय सिद्ध हो जाता है। अर्थात् आलोक निरपेक्ष चक्षु अन्धकार का ग्राहक है, यह प्रमाणित हो जाता है।

यदि यह कहा जाए कि नेत्र बंद कर लेने पर अर्थात् नेत्र के व्यापार न होने पर भी अन्धकार का भान हो जाता है जबकि चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय घट, पट आदि का प्रत्यक्ष नेत्र के खुले रहने पर ही होता है। अतः तम को चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता है। इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि नेत्र बंद कर लेने पर बाह्य अन्धकार का प्रत्यक्ष तो नहीं होता। जिस अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है वह पलकों के अंदर का अन्धकार होता है। यह वैसे ही होता है जैसे कर्णेन्द्रिय बन्द कर लेने पर बाहय ध्वनि तो नहीं सुनाई पड़ती परन्तु अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती है।

यह आपत्ति की जा चुकी है कि पृथ्वी में गन्ध के साथ ही साथ रूप भी होता है परन्तु तम में तो गन्ध का अभाव रहता है अतः तम में रूपाभाव भी होना चाहिए। परन्तु यह व्याप्ति युक्त नहीं है। इसका खण्डन इस प्रकार से हो सकता है— पृथ्वी में गन्ध के साथ ही साथ अनुष्णाशीत स्पर्श होता है जबकि वायु में गन्ध के अभाव होने दर भी अनुष्णाशीत को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ पूर्वपक्ष अपने मत को खंडित होते देख यह कह सकते हैं कि पृथ्वी में अनुष्णाशीत स्पर्श से आशय पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श से है अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श से नहीं। अतः वायु में गन्ध के न रहने पर उससे पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की निवृत्ति होगी न कि अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की। अर्थात् यह कहकर सिद्धान्तियों द्वारा दी गयी व्याप्ति को ही खंडित करने की चेष्टा करते हैं परन्तु इससे सिद्धान्त पक्ष का मत ही समर्थित हो जाता है, क्योंकि यही बात प्रकृत में भी कही जा सकती है। अर्थात् तम में गन्ध का अभाव होने पर पाकज नीलरूप की निवृत्ति होगी (क्योंकि गन्धादि का व्याप्य पाकज नीलरूप है) परन्तु अपाकज नीलरूप वहाँ विद्यमान होगा।

यदि यह शंका की जाए की तम में स्पर्श का अभाव होने से उसमें रूप

सामान्य का भी अभाव होगा अतः रूप (नीला रंग) तम में कैसे रह सकता है तो यह युक्ति सही नहीं है क्योंकि वायु में भी रूप सामान्य का अभाव है किन्तु वहाँ स्पर्श है अतः उपर्युक्त अनुमान कि तम में रूपाभाव है क्योंकि वह स्पर्शाभाववाला है, खंडित हो जाता है।

पूर्वपक्ष पुनः यह कह सकता है ति तम द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे द्रव्य होने के लिए उसके परमाणुओं को उसका आरम्भक [२७] होना चाहिए और उसके परमाणुओं को उसका आरम्भक होने के लिये तम में स्पर्श होना चाहिए परन्तु तम स्पर्शरहित है (जैसे मन स्पर्शरहित होनें से किसी द्रव्य का आरम्भक नहीं है)। अतः तम द्रव्य नहीं हो सकता है। पूर्वपक्ष का उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आरम्भक परमाणुओं से सृष्ट द्रव्य भोग्य होता है और जो भी तम (छोटा, या वड़ा) है वह भोग्य भी होता है जैसे आम की छाया सुखस्पर्शी व वट की छाया उष्णस्पर्शी होती है। [२८] अतः तम के परमाणु अनारम्भक होने पर भी चूंकि तम भोग्य है, अतः इस आधार पर उसे द्रव्य कहने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

नैयायिकों की आपत्ति का उत्तर नैयायिक रीति से दे देने के पश्चात् सिद्धान्ती अपने कुछ सिद्धान्त की बात करते हुए कहते हैं कि तम तो अवयव या परमाणु से जन्य ही नहीं है। वह तो ब्रह्म से वैसे ही जन्य है जैसे मेघमंडल से महाविद्युत् का जन्म होता है। [२९] फिर तम (या अविद्या) तो अनादि है अतः उसके आरम्भक का भी प्रश्न नहीं उटना चाहिए।

अतः तम को द्रव्यान्तर मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करनी चाहिए। श्यामलता (गुण) हेतु से सिद्धान्ती उसे द्रव्य प्रमाणित कर लेने के उपरान्त अब दूसरा हेतु "क्रिया रूप चलन" देकर भी उसे द्रव्य प्रमाणित करते हैं। ऐसा इसलिए कि द्रव्य होने के लिए उसमें गुण और क्रिया दोनों का होना आवश्यक है। तम में क्रिया मानने से कोई यह कह सकता है कि तम में जो क्रिया दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी स्वाभाविक क्रिया नहीं है। क्योंकि प्रकाश के ले आने व ले जाने से उसमें वैसे ही क्रिया की प्रतीति होती है जैसे वस्तु को हिलाने डुलाने से उसमें हिलने डुलने वाली क्रिया की प्रतीति होता है। अर्थात् पूर्वपक्षी तम में किसीका अनुकरण करने से ही उसमें क्रिया की प्रतीति का होना मानना चाहते हैं, स्वाभाविक क्रिया को नहीं। परन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि सुवर्ण जो द्रव्य है वह दूसरे का अनुकरण करता हुआ भी उसमें उसकी अपनी स्वाभाविक क्रिया का वहिष्कार नहीं हो सकता है। क्योंकि सोने में जब कोई अन्य धातु जैसे

तांबा का मिश्रण कर दिया जाता है तभी उसे मोड़ने पर वह तांबे का अनुकरण करता हुआ मुड़ता है। परन्तु क्या उसे ऊपर उछालने पर उसमें पतन की क्रिया को कोई अस्वीकार कर सकता है। तम का "अनुकरण करने वाला" कहने वाले से यह पूछा जा सकता है कि तम किस द्रव्य का अनुकरण करता है– १) प्रकाश का अवरोधक छत्रादि का या २) अन्धकार का निवर्तक प्रकाश का? ये दोनों ही कल्प युक्त नहीं हैं क्योंकि यह देखा जाता है कि पर्वत (जो छत्रादि का कार्य करता है) स्थिर होने पर भी छाया चलती है या तम चलता है। दूसरी बात प्रकाश के ले आने से तम जाता हुआ पाया जाता है और ले जाने पर आता हुआ दीखता है। इन दोनों स्थितियों को देखते हुये तम को अनुकरण करने वाला कहना युक्त नहीं है। अतः तम में अनुकरण करने से ही उसमें क्रिया का प्रतीत होना या उसमें स्वाभाविक क्रिया का न होना यह कहना कदापि युक्त नहीं है। निष्कर्षार्थ तम में क्रिया के प्रमाणित होने से भी वह द्रव्य ही है।

उपसंहार

तम के भावरूपत्व के संबन्ध में आचार्य चित्सुख द्वारा दिये गये तर्कों का विश्लेषण ही इस लेख का उद्देश्य है। तम या माया मात्र अभावरूप नहीं है। अभाव से विलक्षण बताने के लिए औपचारिक रूप से उसके भावरूपता का प्रतिपादन किया जाता है। वास्तव में वह इन दोनों से विलक्षण है।

उपर्युक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए चित्सुख मुनि ने दो तरह से कार्य किया–

अ) अपने ऊपर आये हुए आक्षेपों की चर्चा की जिसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि नैयायिकों के अनुसार तम का न तो अभाव के अतिरिक्त छः पदार्थों में अन्तर्भाव हो सकता है न ही वह छः पदार्थों के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ हो सकता है। अतः वह भावरूप नहीं है या उसे अभावरूप मानना चाहिए। और

ब) अपने विपरीत सिद्धान्त का खंडन तम को नौ के अतिरिक्त दसवाँ द्रव्य जो पदार्थ ही है, प्रमाणित करके किया।

–गौरी मुकर्जी

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. छान्दोग्योपनिषद्

२. कठोपनिषद् ४-११ बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.१९.

३. Philosophy is the self-evident elaboration of self-evident– K. C. Bhattacharya, *Concept of Philosophy*, p. 103

४. अद्वैतसिद्धि with the commentary बालबोधिनी by M. M. Dr. Yogendranath. Bagchi, Vol. I, Tara Publication, Varanasi, 1971। प्रथम परिच्छेद सत्त्वनिर्वचने सिद्धान्तपक्ष ३१७–३४१ एवं साक्षिबाधोद्धार: ३४२ से ३५२.

५. यहाँ ज्ञान शब्द यथार्थ ज्ञानवाची ही है।

६. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। वस्तुतंत्रमेव तत्। शांकर भाष्य १.१.२,

७. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा: - शांकर भाष्य १.१.२.

८. स्थाणुर्वा पुरुषो वा।

९. गीता भाष्य – १३–२.

१०. - - - - आत्मरूपमविद्यापरिकल्पितप्रपंचावभासकत्वादविद्या तमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योति:शब्दाभिधेय, यथा भावरूपशावरादि तमोनिवर्तनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम्।

चित्सुखी, स्वामी योगीन्द्रानन्दकृतेन. षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान वाराणसी, १९७४ पृ. ४६-४७.

११. - - - - नमस्कुर्मो नृसिहाय स्वप्रकाशचिदात्मते वही, पृ. ४.

१२. द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्य विशेषसंज्ञयोक्तानि नवैवेति।

प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थ धर्म संग्रह), श्रीधरभट्ट का न्यायकंदली भाष्य सहित, संपादक पं. दुर्गाधर झा, वाराणसी, १९६३, पृ. २०.

१३, रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व गुरुत्वद्रवत्वसंस्काराश्चतुर्दश।

नयनप्रसादिनी, स्वामी योगीन्द्रानन्दसंपादितेन, वाराणसी, १९७४ पृ. ४७:

१४. गन्धरहिता: स्नेहसहितास्ते एवं चतुर्दश सलिलगुणा:। वही

१५. संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मा - धर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणा:– वही

१६. रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्व संस्कारा इत्येकादशगुणास्तेजसः– वही

१७. रूपद्रवत्वहीनास्ते एव नव गुणा वाय्वेः– वही

१८. स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणाः– वही

१९. शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः षड् गगनगुणाः– वही

२०. शब्दवर्जितास्ते एव पंच दिक्कालयोः– वही

२१. पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः स्वात्मन्यारम्भकत्वं गुणवत्वम् । प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थ धर्म संग्रह) ।
श्रीधरभट्ट का न्यायकंदली भाष्य सहित, संपादक श्री दुर्गाधर झा, वाराणसी, १९६३, पृ. ५४.

२२. शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वादयावद् द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः । ··· ··· परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिगम् – वही पृष्ठ १४४-१४५.

२३. वायुत्वाभिसंबन्धाद्वायुः स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् । वही पृ. १११

२४. नापि दिक्कालमनसाम्, एतेषां विशेषगुणरहितत्वात् । चित्सुखी पृ. ४८.

२५. संयोगासमवेतसंयोगासमवायिसमवेतवत् कर्म - लक्षणावली, उदयनाचार्य, ब्रज बी. दास एण्ड कम्पनी, वाराणसी, १८९७, पृ. १६

२६. व्यवहार में हम मलिन शुभ्रवस्त्र को उसकी धुलाई के पश्चात् जितना शुभ्र पाने की आशा रखते हैं, उतना न पाने से अतिशयोक्ति ही करते हुये यह कहते हैं कि अरे यह तो काला है । यही औपचारिक प्रयोग या गौणप्रयोग कहलाता है ।

२७. पृथ्वी, अप्, तेज और वायु के परमाणु, जिनमें स्पर्श होता है, जब किसी द्रव्य का निर्माण करते हैं तो उसकी निम्न प्रक्रिया होती है – १) दो परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है २) द्व्यणुक से त्रसरेणु बनता है और ३) त्रसरेणु से द्रव्य । अतः द्रव्य का निर्माण करने वाले परमाणु द्रव्य का आरम्भक कहलाते हैं ।

२८. नयनप्रसादिनी – पृ. ५३
"इह पुनस्तमसो महतो रूपवतः सम्भवति भोगसाधनत्वं इति नारम्भवैयर्थ्यम्" की व्याख्या ।

२९. ··· ··· झटिति महाविद्युदादिजन्मवज्जन्म सिद्धयति–विवरण, पृ. ८.

ग्रामीण परिवेश और आज का साहित्य

इस लेख में हिन्दी साहित्य में ग्रामीण परिवेश का जो चित्रण हुआ है उसके सम्बन्ध में कुछ पहलू पाठकों के सामने अत्यधिक विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं।

साहित्य मूलतः जीवन की व्याख्या है । जीवन से अलग हट कर साहित्य की सर्जना हो ही नहीं सकती । जीवन में भी मनुष्य का जीवन प्रमुख है । वैसे पशुपक्षी,[१] पेड़ पौधे, जंगल पहाड़ के जीवन का अंकन भी साहित्य का अभीष्ट होता है, परन्तु वह मनुष्य के कल्याणार्थ ही संभव है । मैथ्यू अर्नाल्ड ने कहा है- "साहित्य जीवन की आलोचना है ।"[२] जीवन के विविध आयामों को ही उसमें औचित्य की वाणी मिलती है । दिनकर ने भी साहित्य का आधार जीवन बताया है- " साहित्य की अट्टालिका जीवन की आधार-शिला पर खड़ी होती है और साहित्यकार के हृदय के तार तबतक नहीं बजते, जबतक उनपर जीवन का आघात नहीं होता ।"[३]

भारत गाँवों का देश है । छः लाख गाँव हैं यहां । महात्मा गांधी कहते थे- " यदि तुम देश का विकास चाहते हो, तो गांवों की ओर लौट चलो। देश की आत्मा गाँवों में निवास करती है ।"[४] देश के सर्वांगीण विकास के लिये न केवल गाँवों का आर्थिक व सामाजिक विकास करना है, वरन् गाँवों की समग्र साफ-सुथरी तसवीर भी खींचनी है, उनकी आशा-आकांक्षाओं, स्वप्न-सम्भावनाओं का मूल्यांकन भी करना है । इसलिये पूरे विश्व में एक प्रवृत्ति पनपी-गाँवों की ओर लौटने की । हेन्री वान् की कविता में गाँव की ओर लौटने का संकेत है, जिसमें बालक की सरलता के दर्शन हैं ।[५] अंग्रेजी में टॉमस हार्डी, शार्लट् ब्रोंटि. जॉर्ज इलियट और अर्नाल्ड बेनेट प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यासकार हुए । उन्होंने अपने-अपने ग्रामीण परिवेश को बखूबी उभारा और वहाँ की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन का व्यापक चित्रण किया ।[६]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

सच पूछिये, तो भारतवर्ष में भी आंचलिकता की इस प्रवृत्ति का प्रभूत विकास हुआ। आंचलिक शब्द उपन्यास, कहानी, काव्य नाटक आदि सब को अपने में समाविष्ट कर लेता है। आंचलिक रचनाओं में कोई विशिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग व गाँव ही प्रतिपाद्य व विवेच्य होता है। आंचलिकता कीं सिद्धि के लिये स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारण की विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत और व्यावहारगत विशेषताएँ, उनका अपना रोमान्स, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाना अपेक्षित है, ताकि ग्रामीण जीवन के इन अन्यान्य पहलुओं का जितना हो सके उतना यथार्थ चित्रण हो सके।

जो सबसे अधिक उत्पीडित, उपेक्षित और शोषित को अपनी सहानुभूति दे सके, उसे गले मिल कर रो सके,वही सच्चा लेखक है। जो कलाकार भारतीय जन-जीवन का सच्चा चित्रण करता है, उसे निश्चित रूप से आधुनिक सभ्यता से दूर गाँवों में रहनेवाले संघर्षरत किसान तक पहुँचना पड़ेगा। माखनलाल चतुर्वेदी लिखते हैं – " कला गाँवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पक्वान्न खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं– काश किसान पर रीझते, तो कितना अच्छा होता ! जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले में साँप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिपड़ा लिपटा हो और पास में पार्वती-पर्वत-पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब पर मस्तक झुके, तभी कला की सच्ची पूजा है। साँप टैक्स है, चिथडे गरीबी हैं पार्वती उसकी पत्नी है। साहित्यिक कहता हैं मेरी कविता में अलंकार है, मेरी कला सुन्दर है। मुझे उस किसान से क्या सम्बन्ध ? ' भाड में जाय तेरा अलंकार और तेरी कला। तीस करोड़ अलंकार खेतों में लहलहा रहे हैं और और तू अपने अलंकारों और कला को ले कर चिल्ला रहा है। मानव के इतने बड़े दुश्मन् तुम्हें हम साहित्यक कहें ? "[७]

भारतीय संस्कृति मूलतः एक होते हुए भी हिन्दुस्थान के अनेक अनदेखे अंचलों में वह बिखरी हुई है। चाहे लखनऊ हो या वाराणसी, दरभंगा हो या पूर्णिया (बिहार), वरसोवा कें मछुओं की जिन्दगी हो या नटों की – सबकी संस्कृति अपने आपमें विशिष्ट है। विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में गावों के इस अनदेखे सौन्दर्य को सहानुभूति के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। स्वाधीनता के पूर्व अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जगाना और गतिशील रखना ही साहित्य का प्रमुख उद्देश्य की ओर स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद देश-प्रेम की यह उदात्त भावना जन-विकास या किन्तु

उन्मुख हुई, जिसके अन्तर्गत सहृदय लेखक पिछडे जन-जीवन, गाँव, किसान खेती हर मजदूर की ओर रुचि लेने लगा। वर्गों से शोषित और उपेक्षित जीवन जर्जर विश्वासों का पुलिन्दा बन गया था। इस प्रकार के शोषण के आर्थिक पहलू से ऊपर उठकर ग्रामवासियों के समूचे अस्तित्व को उभारने की आवश्यकता महसूस हुई दिखायी देने लगी।

प्रेमचंद ग्रामीण जीवन के श्रेष्ठ कथाकार सिद्ध हुए। उन्होंने अपने साहित्य में ग्राम, ग्रामीण जीवन और ग्रामीण संस्कृति का सर्वाधिक प्रामाणिक चित्रण किया है। उनके द्वारा किये ग्रामों की आर्थिक अवस्था के चित्रण अत्यन्त दर्दनाक एवं हृदयस्पर्शी हैं। 'वरदान' उपन्यास में विरजन मझगाँव के किसानों की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं – "टूटे –फूटे फूस के झोंपडे मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कडू–करकट के बड़े– बड़े ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें, दुर्वल गायें ये सब दृश्य देख कर जी चाहता है कहीं चली जाऊँ।" ८ प्रेमाश्रम में माया शंकर भी अपने क्षेत्र के किसानों की अवस्था देखने जाता है। वहाँ दरिद्रता और मुखभरी का ऐसा आलम है कि आँखे बरवस करुणार्द्र हो जाएं। गोदान तो होरी की आर्थिक दरिद्रता एवं संघर्ष की ही कथा है। न भरपेट भोजन न तन ढँकने को कपडे और फिर भी–दूध का अंजन मिल जाये यह कैसे सम्भव था ? पाँच साल पुरानी भिजंई और पैतृक संपत्ति के रूप में मिला कंबल ही उसकी संपत्ति है। पूस की रात का हल्कू भी इसी विपन्नता दरिद्रता एवं शोषण से ग्रस्त है। प्रेमचन्द किसानों की दुरवस्था के चित्रण के साथ उसके कारणों पर भी विचार प्रस्तुत करते चलते हैं। प्रेमाश्रम का प्रेमशंकर कहता है– "उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है। और वे परिस्थितियाँ क्या हैं ? आपस की फूट, स्वार्थपरता और ऐसी एक संस्था का विकास, जो उनके पाँवों की बेड़ी बनी हुई है।" १०

एक ही वाक्य में गोबर ग्रामीणों की दयनीय अवस्था का कारण स्पष्ट कर देता है– "किसी को सौ रुपये उधार दिये और उससे जिन्दगी भर काम लेते रहे, पर मूल्य ज्यों का त्यों। यह महाजनी नहीं, खून चूसना है।" ११ प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में ग्रामीण जीवन की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अवस्थाओं का भी विस्तार से चित्रण किया है। कृषक जीवन के विश्वास, जीवन-पद्धति, रहन-सहन, परंपराएँ, रूढियाँ आदि सभी उनके साहित्य में साकार हो गयी हैं। उनकी दृष्टि में धर्म का सही रूप सेवा, त्याग और प्रेम में था। सेवा-धर्म ही सच्चा धर्म है। कर्मभूमि में अमर और सुखदा, प्रेमाश्रम में प्रेमशंकर

अछूत और किसानों की मुक्ति के लिये संघर्ष करते हैं। **कर्मभूमि** में कहा गया है– "दु:ख और सेवाभाव में ईश्वर का वास है, उसे पाकर ही व्यक्ति वास्तविक मुक्ति और ईश्वर प्राप्त कर सकेगा।" १२

प्रेमचंद की कहानियों में भी ग्रामचेतना का चित्रण है तथा उद्धार का संकल्प भी। 'पंचपरमेश्वर,' 'सवा सेर गेहूँ', 'प्रायश्चित', 'भंग', नमक का दारोगा', 'कफन' आदि कहानियों में ग्रामीण जीवन की समस्याओं को उकेरते चलते हैं और उनके समाधान का संकेत भी देते हैं।

आंचलिकता की प्रवृत्ति के विकास के साथ-साथ ग्रामीण जीवन का व्यापक चित्रण करना प्रारंभ हुआ– विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में। "आंचलिकता लेखक की अपनी कृति को एक अंचल-विशेष की आधार-भूमि पर निर्मित करने तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति है।" १३ अंचल-विशेष के जन-जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यास हैं– फणीश्वरनाथ रेणु का **मैला आंचल** (१९५४) और **परती परिकथा** (१९५७), नागार्जुन का **बलचनमा** (१९५२), देवेंद्र सत्यार्थी का **ब्रह्मपुत्र**, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का **बहती गंगा** (१९५२), राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का **जंगल का फूल** (१९६०), बलभद्र ठाकुर के **नेपाल की वो बेटी** (१०५७), आदित्यनाथ (१९५९), तथा **घने और बने** (१९६०), दयानाथ झा का **जमींदार का बेटा** (१९५९) तथा रामदशरथ मिश्र का **पानी के प्राचीर** आदि।

रेणु के **मैला आंचल** में पूर्णिया (विहार राज्य का एक जिला) के मेरीगंज तथा **परती परिकथा** में परानपुर गाँव का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही उपन्यासों में रेणु ने उस अंचल के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन का आँखों देखा चित्रण किया है।

आंचलिकता की हिन्दी में चर्चा के पूर्व भारतीय ग्राम्य जीवन के एक सशक्त कथाकार के रूप में नागार्जुन अपनी पहचान बना चुके हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय ग्राम्य जीवन का वह वृत्त विशेष रूप से उभरा है, जो उनका जाना पहचाना था और जिसके वे एक अंग थे। किन्तु उनका कोई भी उपन्यास उठा लिया जाय, उस उपन्यास के भीतर से कोई अंचल-विशेष नहीं, वह मनुष्य ही अपने सुख-दु:ख की सम्पूर्ण गाथा तथा अपनी लड़ाकू चेतना से हमारी पहचान कराएगा, जो सदियों से सामंतवादी शिकंजे को छिन्न-भिन्न करने के लिये दरभंगा जिले के गाँवों में ही नहीं, समूचे देश के गाँवों और शहरों में संघर्ष कर रहा है, हार रहा है, जीत रहा है। "एक स्तर पर अपने संस्कारों से तथा दूसरे स्तर पर बाहरी विधानों तथा व्यवस्था की अमानवीय साजिशों से जूझते-लड़ते मनुष्य की यह

केंद्रीयता ही नागार्जुन के उपन्यासों को तथाकथित आंचलिक उपन्यासों से बड़ी इयत्ता प्रदान करती है और उन्हें ग्राम्य जीवन का चित्रण करने वाली प्रेमचंद परम्परा से जोड़ती है।"[१४] यह उक्ति है डॉ. शिवकुमार मिश्र की, जिसमें नागार्जुन को आंचलिक ही नहीं, ग्रामीण जीवन का असली व्याख्याता कहा गया है।

ग्रामीण जीवन में यौन-पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया गया है और उससे उत्पन्न भयावह अमानुषिक विसंगतियाँ भी देखी गयी हैं। इसके विरुद्ध जिहाद केड़ली कहानियों में उल्लेखनीय हैं– जहां हसद नहीं (यशपाल), कापालिक (इलाचन्द्र जोशी), कर्मनशा की हार (शिवप्रसाद सिंह), काला धुआँ और और कटी हुई किरणें (हिमांशु जोशी), निकैल्ले (कृष्णा अग्निहोत्री), एक औरत एक जिंदगी और आधुनिक (राम दरश मिश्र), शिनाखन (मेहरुन्निसा परवेज) और अंधेरे की आँखें (श्रवण कुमार)।

प्रगतिशील कहानियों में ग्रामीण जीवन के यथार्थ को और भी नजदीक से देखा जा सकता है। मधुकर सिंह गाँव छोड़ते नहीं हैं। वह वहीं अपने मोर्चे पर डटे हैं। हार नहीं मान रहे हैं। इनकी कहानियों की केन्द्रीय चेतना इसी वर्ग-बोध और वर्ग–संघर्ष में है। उनमें गाँवों में, विशेषकर बिहार के पिछड़े इलाकों में, बदलती हुई सामाजिक स्थिति, नित नये रूप धरती मध्यवर्गीय राजनीति, उससे समझौता कर उसी में शामिल होकर क्रान्ति का मुहावरा झाड़ने वाले रंगबाज बुद्धिजीवियों की स्वार्थनीति, पुलिस दमन, नौकरशाही का नंगानाच ग्रामवासियों में सामंती संस्कारों का अवशेष और तज्जन्य आपसी कलह, कपट और मारकाट, नेताओं के हिंस्र कार्य का चित्रण है। गरज कि गाँवों में आज किसी भले आदमी का रहना असंभव हो गया है।[१५]

दो आबा (लघु उपन्यास) में राम सुरेश ने मन्नीपुर के दोनों टोले (कमिन टोला और पासिन टोला) के आपसी संघर्ष तथा दोनों मिला कर रंजीतपुर के ठाकुर के द्वारा उनके शोषण और व्यथा-कथा का अंकन किया है। दिनरात हरिजनों तथा अवर्णों का शोषण करनेवाले ठाकुरों को पता चला था कि ऊपर से इस तरह के आदेश आ रहे हैं कि हरिजनों को तरह-तरह की रियायतें दी जायें। मन्नीपुर और उसके इर्दगिर्द के छोटे-छोटे गाँवों में रहनेवाले हरिजनों पर होने वाले अत्याचार के खिलाफ कुछ कार्यवाही होनेवाली है। फिर क्या था- प्रसिद्ध कांग्रेसी और सरकार के एक बड़े अधिकारी के रिश्तेदार ज्वालाप्रसाद को बुला कर एक सभा कर ली गयी और हरिजनों से बयान दिलाया गया कि वे सब तरह से ठाकुरों के संरक्षण में सुखी हैं। इस प्रकार शोषण के नाना हथकंडों और उसमें पीसती ग्रामीण जिन्दगी का करुण दस्तावेज है दो आबा।

विवेकी राय ने लोकऋण में संघर्ष के एक दूसरे रूप को उभारा है। उपन्यास का लक्ष्य है स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में समूचे विकास के बावजूद टूटते विखरते गाँवों का चित्रण करना। उन्होंने विखरते हुए गाँवों को उसके सम्पूर्ण यथार्थ में चित्रित किया है। परन्तु उन्होंने गाँवों में होनेवाली कृषि-क्रांति संस्थागत परिवर्तनों के नये आयामों के आधार पर भी गाँव के विकास पर विचार किया है।

लेखों, कविताओं और नाटकों में भी ग्रामीण परिवेश व्यंजित हुआ है पर वहाँ जो अधिकतर ग्रामीण समस्याएँ उठायी गयी हैं, उनका यथोचित समाधान भी दिया गया है, पर गाँवों को सम्पूर्णता में नहीं उभारा गया है। इधर कुछ प्रगतिशील युवा कवि इस ओर प्रवृत्त हुए दिखते हैं। उन्हें अपने ज़मीन से गहरा लगाव है। उससे कटना उन्हें स्वीकार नहीं। फलतः ऐसे भावबोध की कविता का सृजन भी होता रहा है। युवा कवि मदन कश्यप की एक कविता इस संबंध में ध्यातव्य है–धूल की घुंघ से धूसर गाँव फागुनी। पगड़ंडी को चूमती हुई मटर की लतरें। कहीं कोमियाँ न कुचल जाएँ। थाह थाह कर पैर रखती। जा रही वह साँवली लड़की। हँसती हुई एक उदास हँसी।"[16]

ग्रामीण परिवेश में जो भी साहित्य लिखा गया है उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के परिवेश के ऐसे अनेक पहलु हैं जो सशक्तता के साथ अभी तक प्रस्तुत भी नहीं हो पाये हैं। 'न भदेसपन, आंचलिकता के दुराग्रह को ही तरजीह दिया जा सकता है। अपेक्षा मुख्यतः दो प्रकार की है : एक ओर गाँव की जमीन से जुड़े यथार्थ और सही चित्र उभर कर सामने आएँ ताकि ग्रामीण जीवन की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट हो और दूसरी ओर ऐसी समस्याओं का हल कैसे किया जा सकता है इसके पर्यायी मार्गों का न केवल दिग्दर्शन किया जाय बल्कि उक्त मार्गों को अपना कर ग्रामीण लोगों के सामने होनेवाली समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करनेवाले निःस्वार्थी कार्यकर्ता भी उनकी सहायता करें।

– मृत्युञ्जय उपाध्याय

'वृन्दावन'
राजेन्द्र पथ धनबाद–८२६००१
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. ‘गौ’ कहानी, लेखक : जैनेन्द्र कुमार, जैनेन्द्र की कहानिनाँ, पूर्वोदय प्रकाशन

१. “Literature is a criticism of life- ” Mathew Arnold

३. “साहित्य की उपयोगिता” शीर्षक निबंध– दिनकर

४. किसान आन्दोलन को सम्बोधित कर दिये गयें भाषण की पंक्ति,

५. *Retrear*, Henry Vauphri

६. साहित्यकोश, भाग–२, पृ. ९५, ज्ञानमंडल, वाराणसी

७. नया जीवन, मई, १९५५, पृ. ४८

८. वरदान, प्रेमचंद; पृ. ६८

९. “चारों तरफ तबाही छायी हुई थी। ऐसा विरला ही कोई घर था जिसमें धातु के बर्तन दिखायी देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक नहीं थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़ कर झोपड़े में और कुछ न दिखायी देता था।” प्रेमाश्रम, पृ. ४३३.

१०. प्रेमाश्रम, पृ. २१८

११. गोदान, पृ. १९२

१२. कर्मभूमि, पृ. २७३

१३. The tendency of some writers to set their works in a particular locality presented in some detail as affecting the lives and fortunes of the inhabitants.” Joseph T Shipley; *Dictionary of World Literrary Terms*; pp. 337—338.

१४. नागार्जुन के रचना-संसार से गुजरते हुए– डॉ. शिव कुमार मिश्र, पृ. ३०, आलोचना, पृ. ५४–५५ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

१५. प्रेमचन्द के आगे की कहानियाँ– डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय पृ. १५३; मूल्यांकन पत्रिका; सं. डॉ. चंद्रशेखर कर्ण, हजारीबाग

१६. फागुनी हँसी–मदन कश्यप, पृ. ५५; असरा; हिन्दी भवन; शामला हिल्स, भोपाल (मध्यप्रदेश)

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (३)

सांसर्गिक प्रतियोगिता

नव्यन्याय में 'प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग अत्यधिक पाया जाता है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत कई पदार्थों की व्याख्या इसी शब्द के आधार पर की जाती है। जैसे, कार्यत्वम् = प्रागभावप्रतियोगित्वम्,[१] कारणत्वम् = कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्, नित्यत्वम् = ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाप्रतियोगित्वम्[२], प्रकारत्वम् = भासमानवैशिष्टय-प्रतियोगित्वम्[३], व्याप्तिः = सकलसाध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्[४] इत्यादि इत्यादि। इसके अतिरिक्त विभिन्न पदार्थों के लक्षणों में भी नव्यन्याय में प्रतियोगिता अन्त:प्रविष्ट रहती है ऐसा स्वीकार किया गया है।[५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतियोगिता' को नव्यन्याय में एक पारिभाषिक पदार्थ के रूप में ही नहीं बल्कि अन्यान्य पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट करने के साधन के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अत: यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'प्रतियोगिता' शब्द का क्या अर्थ है और उसका पदार्थों के स्वरूप के स्पष्टीकरण में किस प्रकार प्रयोग किया जाता है? नव्यन्याय में प्रतियोगिता मुख्यत: दो प्रकार की स्वीकार की गयी है: सांसर्गिक प्रतियोगिता (संसर्ग याने सम्बन्ध के आधार पर स्पष्ट की जानेवाली) और अभावीय प्रतियोगिता (अभाव के आधार पर स्पष्ट की जानेवाली)। इस लेख में इनमें से सांसर्गिक प्रतियोगिता का विवेचन किया है। अगले लेख में अभावीय प्रतियोगिता का विवेचन किया जायगा।

सामान्यरूप से व्यवहार में भी 'प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे, वादविवाद प्रतियोगिता, खेलकुद प्रतियोगिता, चुनाव प्रतियोगिता आदि। यहां 'प्रतियोगिता' शब्द का अर्थ है होड़ या स्पर्धा। लगभग यही अर्थ नव्यन्याय में भी स्वीकार किया गया है। लगभग ऐसा इसलिये कहा कि विरोधी में रहने-

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

वाली विशेषता के अर्थ में 'प्रतियोगिता' यह शब्द नव्यन्याय में भी प्रयुक्त होता है। होड़ या स्पर्धा में विरोध की भावना होने से उसे प्रतियोगिता कहा जाता है। परन्तु न्याय में विरोधी में रहनेवाले धर्म या शक्ति के अर्थ में तो इसका प्रयोग होता हीं है। लेकिन सम्बन्धी में रहनेवाले धर्म या शक्ति के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।

'प्रतियोग' शब्द का सामान्य अर्थ विरोध है। विरोध जिनमें होता है वे सभी समान रूप से प्रतियोगी कहलाते हैं, जैसे किसी भी स्पर्धा में भाग लेनेवाले सभी स्पर्धक एक-दूसरे के प्रतियोगी कहलाते हैं। परन्तु नव्य-न्याय में 'प्रतियोगी' यह पारिभाषिक शब्द है और यहाँ जिन दो (वस्तु या पदार्थों) में 'विरोध' बतलाया जाता है उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहला जाता है। 'प्रतियोगिन्' शब्द के बाद भावार्थक 'त्व' लगाने से प्रतियोगित्व तथा 'तल्' प्रत्यय लगाने से प्रतियोगिता शब्द निष्पन्न होता हैं। 'प्रतियोगित्व' तथा 'प्रतियोगिता' स्थूल रूप से समानार्थक शब्द हैं।

सामान्य रूप से प्रतियोगी शब्द विरोधी के अर्थ में रूढ होने पर भी नव्य-न्याय में यह शब्द अभाव के विरोधी (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय के मतानुसार हरेक कार्य उसके प्रागभाव का प्रतियोगी माना जाता है।) तथा सम्बन्ध के सम्बधी के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[६] यहाँ एक तो अभाव के द्वारा उसके विरोधी पदार्थ के या तो सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धी के निरूपित किये जाने का तात्पर्य है। इसलिये प्रतियोगी के स्वरूप या धर्म के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'प्रतियोगिता' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं: सांसर्गिक (सम्बन्ध के द्वारा निरूपित) प्रतियोगिता तथा अभावीय (अभाव के द्वारा निरूपित होनेवाली) प्रतियोगिता। सांसर्गिक प्रतियोगिता से मतलब है सम्बन्ध के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ का धर्म या प्रतियौगिता, तथा अभावीय प्रतियोगिता से मतलब है अभाव के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ का धर्म या प्रतियोगिता। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्यायमतानुसार किसी भी धर्मी का ज्ञान उसके धर्मों के द्वारा होता है। लेकिन जिन धर्मों के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान होता है वे एक तो अभाव के द्वारा अभिव्यक्त हुए हों या सम्बन्ध के द्वारा। याने धर्मी के धर्म का जो ज्ञान हमें होता है वह केवल धर्म एक तो अभाव के द्वारा निरूपित किया जाने से होता है या संबंध के द्वारा। इसलिए अभावीय तथा सांसर्गिक प्रतियोगिता याने धर्म का न्यायशास्त्र में अनन्यसाधारण महत्त्व है।

लेकिन यह 'प्रतियोगिता' क्या वस्तु है? या कौनसा पदार्थ है? इसके

विषय में नव्यन्याय में बहुत मतभेद हैं। कुछ लोग इसे 'घडे में पानी है' 'पानी में घडा नहीं है' इस प्रकार के प्रतीतिभिन्नता के आधार पर सिद्ध होने वाला, या यों कहें कि इस प्रकार की प्रतीति-भिन्नता के नियामक स्वरूपसम्बन्ध का एक प्रकार मानते हैं, जबकि अन्य लोग इसे एक भिन्न पदार्थ मानते हैं जो न प्रतियोगी है और न प्रतियोगी का विशेष ही है।

सांसर्गिक प्रतियोगिता का निरूपण न्याय के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है, जैसे 'शब्दशक्ति' को पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध कहा गया है जिसका अर्थ होता है पदानुयोगिक अर्थप्रतियोगिक सम्बन्ध या अर्थानुयोगिक पदप्रतियोगिक सम्बन्ध।[८] (पद और अर्थ इनमें से कौन किसका निरूपक माना जाय इस आधार पर पद अनुयोगिक या प्रतियोगिक, तथा अर्थ को प्रतियोगी या अनुयोगी स्वीकार किया जायगा। 'अनुयोगी' और 'प्रतियोगी' इन पारिभाषिक पदों का अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा।) मतलब यह हुआ कि यहाँ पद और पदार्थ के बीच होनेवाले शब्दशक्ति रूप सम्बन्ध का पद या अर्थ अनुयोगी या प्रतियोगी बनता है। पद में या अर्थ में रहनेवाली जो प्रतियोगिता है वह सांसर्गिक याने सम्बन्ध के द्वारा निरूपित प्रतियोगिता है। इसी प्रकार द्रव्य और उसके गुणों में रहनेवाले समवाय सम्बन्ध का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। द्रव्य और उसके गुणों का समवाय सम्बन्ध न्याय में स्वीकार किया गया है। यहाँ गुण में रहनेवाली जो समवाय की सम्बन्धिता है वह सांसर्गिक प्रतियोगिता है।

सम्बन्ध होने के लिए कम-से-कम दो वस्तु या पदार्थों की आवश्यकता होती है। याने, सम्बन्ध दो वस्तु या पदार्थों में हुआ करता है, जैसे, घडे में जल है। यहाँ घडा और जल इनमें होने वाला सम्बन्ध घडा और जल इन दोनों में रहता है, क्योंकि घडा और जल उक्त संबंध के सम्बन्धी हैं। कोई वस्तु किसी सम्बन्ध से कहीं रहती है, जैसे, जल घडे में रहता है, घडा जल में नहीं। या भूमि पर मनुष्य निवास करता है, मनुष्यों पर भूमि निवास नहीं करती। इसका कारण क्या है? यदि केवल सम्बन्ध का ही प्रश्न होता, याने इस प्रकार की प्रतीति का अगर केवल सम्बन्ध ही नियामक होता, तो सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में समान रूप से रहता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में जिस प्रकार जल घडे से सम्बन्धित है वैसे घडा जल से, या जैसे मनुष्य भूमि से सम्बन्धित है वैसे भूमि मनुष्यों से। परन्तु व्यवहार में 'घडे में जल है' या 'भूमिपर मनुष्य रहते हैं' यही प्रयोग होता है, 'जल में घडा है' या 'मनुष्य पर भूमि है' इस प्रकार का नहीं। यहाँ मुख्य बिन्दु यह है कि इस प्रकार की भिन्न प्रतीतियों का किसी सम्भ्रान्ति को उत्पन्न न होने देते हुए स्पष्टीकरण किया जाना चाहिये। न्याय के मतानुसार इस प्रकार

की भिन्न प्रतीतियों का स्पष्टीकरण उनके निरूपक प्रतियोगी और अनुयोगियों में होने वाले भेद के आधार पर किया जा सकता है। सम्बन्ध का एक संबंधी अनुयोगी होता है तथा दूसरा संबंधी प्रतियोगी होता है। जिस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है वह उस सम्बन्ध से दूसरे सम्बन्धी में रहता है, तथा दूसरा सम्बन्धी, चूंकि उसमें पहला सम्बन्धी रहता है इसलिये, अनुयोगी बनता है। मनुष्य भूमि पर रहते हैं। अतः मनुष्य और भूमि के बीच होने वाले सम्बन्ध के मनुष्य प्रतियोगी हैं तथा भूमि अनुयोगी है। जहाँ सम्बन्धियों में आश्रित तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रतीत होता है वहाँ आश्रित प्रतियोगी तथा आश्रय अनुयोगी माना जाता है, क्योंकि आश्रित आश्रय में रहता है, आश्रय आश्रित में नहीं रहत है। तथापि यहाँ यह ध्यातव्य है कि सम्बन्धियों में होनेवाले सम्बन्ध का ज्ञान होने के लिये उनकी आश्रित तथा आश्रय रूप प्रतीति होना अनिवार्य नहीं है। इस बिन्दु का अधिक स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक होती है। (याने संबंधियों का हमें होनेवाला ज्ञान संबंध के द्वारा होता है।) अर्थात्, जिसका सम्बन्ध जहाँ (जिससे) होता है वहाँ वह उस सम्बन्ध से रहता है। जैसे, जल का सम्बन्ध घडे से होता है इसलिये जल घडे में रहता है। जिसका सम्बन्ध होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, और जिससे सम्बन्ध होता है वह उस संबंध का अनुयोगी कहलाता है। जब हम 'जिसका सम्बन्ध' कहते हैं तो वहाँ 'जिसका' कैसे पहचाना जाय? स्वीकार किया गया है कि जिस शब्द के बाद हम सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करते हैं वह शब्द 'जिसका' का परिचायक है। लेकिन वह संबंध क्या है? उत्तर में बताया गया है कि वही सम्बन्ध सांसर्गिक प्रतियोगिता है और वह सम्बन्ध विशिष्ट सम्बन्धी में अर्थात् उस संबंध के प्रतियोगी में रहता है।

ऊपर हमने कहा कि सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक होती है। लेकिन केवल सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक नहीं होती। वैसे देखा जाय तो जल एक संयोगी है। लेकिन जल संयोगी होने पर भी वह अन्य किसी भी संयोगी से संयुक्त नहीं हो सकता। जैसे, संयोगी होने की वजह से संयोग सम्बन्ध जल में रहने पर भी उसमें संयोग सम्बन्ध से अग्नि की सत्ता नहीं रह सकती, क्योंकि जल में संयोग सम्बन्ध से अग्नि रह ही नहीं सकता। अर्थात्, जल में रहनेवाले संयोग सम्बन्ध का अग्नि प्रतियोगी नहीं हो सकता। इसलिये जल में संयोग सम्बन्ध के रहने पर भी अग्नि जल में नहीं है।

अग्नि जिसका प्रतियोगी (सम्बन्धी) है ऐसा संयोग सम्बन्ध जल में नहीं रहता है, इसलिये अग्नि भी जल में नहीं रहता।

'अग्निमान् पर्वतः' यह प्रतीति दो प्रकार की होती है। एक में किसी एक (विशिष्ट) पर्वत पर अग्नि प्रतीत होता है, तथा दूसरी में पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर अर्थात् सभी पर्वतों पर) अग्नि प्रतीत होता है। (न्याय की परिभाषा में इनमें से पहली प्रतीति 'सामानाधिकरण्येन विशिष्टबुद्धि' है तो दूसरी 'अवच्छेदकावच्छेदेन विशिष्टबुद्धि' है।) तथापि आपाततः देखने पर इन दोनों प्रतीतियों का बाह्य आकार समान दिखायी देता है। परन्तु अधिक विश्लेषण करने पर दोनों में होनेवाली भिन्नता को व्यक्त करनेवाले तत्त्व सामने आते हैं। जैसे, गाय का दूध और भैंस का दूध रूप, रंग आदि में बाह्यतः समान होने पर भी विश्लेषण के आधार पर उनके भेद-तत्त्व प्रकट हो जाते हैं। किसी एक विशिष्ट पर्वत पर अग्नि प्रतीत होने पर तथा पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होने पर अग्नि के पर्वत के साथ रहने वाले संयोग सम्बन्ध में भेद हो जाता है। जब पर्वत की किसी इकाई पर (याने विशिष्ट पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होता है उस समय अग्नि का और उक्त पर्वत का शुद्ध संयोग सम्बन्ध प्रतीत होता है, तथा जब पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर) अग्नि प्रतीत होता है तो वहाँ अग्नि का पर्वत के साथ होनेवाले संयोग से पर्वतत्व धर्म व्याप्त हो जाता है, और वह संयोग हरेक पर्वत के साथ जुडने वाला याने जहाँ-जहाँ पर्वतत्व विद्यमान है वहाँ-वहाँ रहने वाला संयोग होता है। इसके विपरीत जब अग्नि और पर्वत में केवल संयोग प्रतीत होता है तब उस संयोग में रहनेवाली संसर्गता नामक शक्ति शुद्ध संयोगत्व रूप धर्म से नियन्त्रित होती है। चूंकि संयोग एक संसर्ग (सम्बन्ध) है अतः उसमें रहनेवाली शक्ति संसर्गता संयोगत्व से नियन्त्रित होती है। लेकिन पर्वत मात्र पर (याने किसी भी पर्वत पर) अग्नि की प्रतीति में संयोग में रहनेवाली संसर्गता शुद्ध संयोगत्व से नियमित नहीं होती है। (कारण शुद्ध संयोग यह विशिष्ट पर्वत और अग्नि में होनेवाला संसर्ग है, किसी भी पर्वत और अग्नि में होनेवाला संसर्ग नहीं।) अपितु वह (संसर्गता) पर्वतत्व जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ रहनेवाले अग्नि-संयोग के धर्म से नियमित होती है। पर्वत मात्र पर अग्नि प्रतीत होने पर अग्नि का पर्वत के साथ होनेवाला संयोग वह होता है जो जहाँ-जहाँ पर्वतत्व धर्म विद्यमान रहता है वहाँ-वहाँ पाया जानेवाला होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ शुद्ध संयोग प्रतीत होता है वहां संयोग में रहनेवाली संसर्गता नामक शक्ति केवल संयोगत्व रूप धर्म से नियमित होती है, परन्तु जहाँ-जहाँ पर्वतत्व है (पर्वतत्वव्यापक) वहाँ-वहाँ रहनेवाला

अग्नि का संयोग जब प्रतीत होता है तब इस प्रकार के संयोग में रहनेवाली संसर्गता 'पर्वतत्व' जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ रहनेवाले अग्नि-प्रतियोगित्व' तथा 'संयोगत्व' इन दो धर्मों से नियमित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांसर्गिक प्रतियोगिता माने बिना और उसकी भिन्नता को स्वीकार किये बिना 'पर्वतमात्र पर अग्नि है' और 'किसी एक विशिष्ट पर्वत पर अग्नि है' इन दो प्रतीतियों का हम भेद नहीं कर सकते। क्योंकि सामान्य रूप से इन दो प्रतीतियों का आकार 'पर्वतः अग्निमान्' यही होते हुए भी ये दो प्रतीतियाँ भिन्न हैं और उन्हें इस प्रकार भिन्न प्रतीतियाँ दिखाने का साधन सांसर्गिक प्रतियोगिता है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कभी-कभी एक आश्रय में किसी वस्तु-विशेष की प्रतीति (सामानाधिकरण्येन विशिष्टबुद्धि) में वस्तु-विशेष का सम्बन्ध के प्रतियोगी के रूप में ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि 'अग्नि प्रतियोगीवाले संयोग सम्बन्ध से पर्वत द्रव्यवान् है' तो उस ज्ञान में विषय होनेवाले संयोग में रहनेवाली 'संसर्गता' संयोगत्व के साथ ही 'अग्निप्रतियोगिकत्व' धर्म से भी नियमित होती है। इसलिये एक आश्रय में आश्रित को व्यक्त करने वाली प्रतीति में भी कभी-कभी संसर्गता संसर्ग (संयोग) के धर्म (अग्नि-प्रतियोगित्व) से नियमित होती है। इसलिये जहाँ संसर्गता युद्ध संयोगत्व से नियमित होती है वही बोध एक आश्रय में वस्तुसत्ता का प्रतिपादक बोध नहीं है, अपितु जिस ज्ञान में संसर्ग में प्रतीत होनेवाली संसर्गता आश्रय के धर्म से व्याप्त आश्रित प्रतियोगित्व से नियमित नहीं होती वही बोध आश्रय (एक) में होनेवाला आश्रित का बोध कहलाता है। आश्रय मात्र में आश्रित के बोध में आश्रित के सम्बन्ध में रहनेवाली संसर्गता आश्रय के धर्म (नियामक) व्यापक आश्रित प्रतियोगित्व से नियमित होती है। पर्वत मात्र में अग्निज्ञान में अग्निसंयोग में रहनेवाली संसर्गता 'पर्वतत्व व्यापक अग्निप्रतियोगिकत्व' से भी नियमित होती है।

आश्रय की (किसी एक) इकाई में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रय मात्र में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि में रहनेवाली विलक्षणता ही आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रित वस्तु के अभाव की सत्ता की बुद्धि में विरोध प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिये पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान, पर्वत में अग्नि के अभाव की सत्ता के ज्ञान का विरोधक होता है; परन्तु किसी एक पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान किसी (अन्य) एक पर्वत में अग्नि के अभाव के ज्ञान का विरोधी नहीं होता। आश्रय के एक घटक में जब आश्रित वस्तु की सत्ता

प्रतीत होती है, उसी समय उसके दूसरे घटक में उसी वस्तु का अभाव प्रतीत हो सकता है। इन दो प्रतीतियों में कोई विरोध नहीं है। परन्तु जब आश्रय मात्र में आश्रित वस्तु की सत्ता प्रतीत होती है, अर्थात् जब सभी पर्वतों में अग्नि की सत्ता प्रतीत होती है तब एक भी पर्वत पर अग्नि का अभाव प्रतीत नहीं हो सकता। जहाँ वस्तुसत्ता या वस्तु के अभाव की सत्ता (विशिष्ट प्रकार के) सभी आश्रयों में प्रतीत होता है वहां पर ही इस प्रकार की प्रतीति का उसके विरोधी की सत्ता के ज्ञान के साथ विरोध होता है।

आश्रय की किसी एक इकाई में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि और आश्रय मात्र में आश्रित वस्तुसत्ता की बुद्धि में रहनेवाली विलक्षणता (भेद) को हम निम्नलिखित तरह से अच्छी तरह समझ सकते हैं:

(१) आश्रित की किसी एक इकाई में वस्तुसत्ता का बोध—(कोई एक) पर्वत अग्निमान् है।

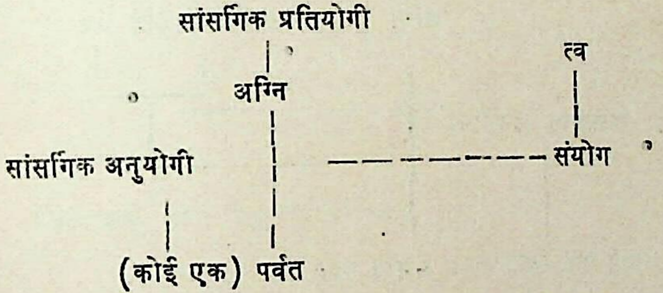
सांसर्गिक प्रतियोगी
त्व
अग्नि
सांसर्गिक अनुयोगी
संयोग
(कोई एक) पर्वत

(२) आश्रय मात्र में वस्तुसत्ता का बोध—(हरेक) पर्वत अग्निमान् है।

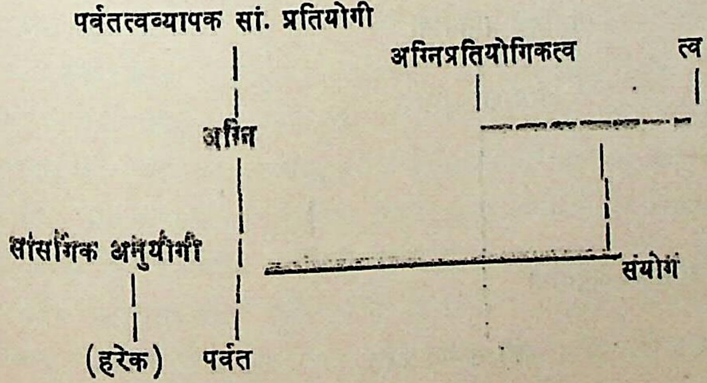
पर्वतत्वव्यापक सां. प्रतियोगी
अग्निप्रतियोगिकत्व
त्व
अग्नि
सांसर्गिक अनुयोगी
संयोग
(हरेक) पर्वत

निम्न स्थिति में विरोध नहीं है।

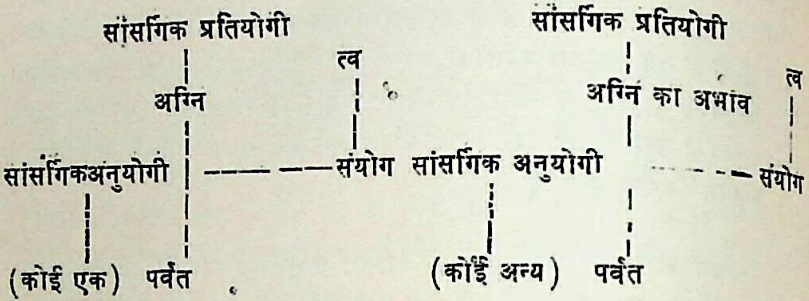
सांसर्गिक प्रतियोगी
त्व
अग्नि
सांसर्गिकअनुयोगी
संयोग
(कोई एक) पर्वत
सांसर्गिक प्रतियोगी
त्व
अग्नि का अभाव
सांसर्गिक अनुयोगी
संयोग
(कोई अन्य) पर्वत

परन्तु निम्न स्थिति में विरोध है।

(१)

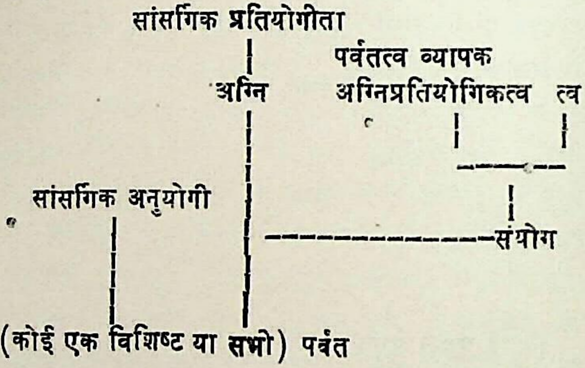
सांसर्गिक प्रतियोगीता
पर्वतत्व व्यापक
अग्नि
अग्निप्रतियोगिकत्व
त्व
सांसर्गिक अनुयोगी
संयोग
(कोई एक विशिष्ट या सभी) पर्वत

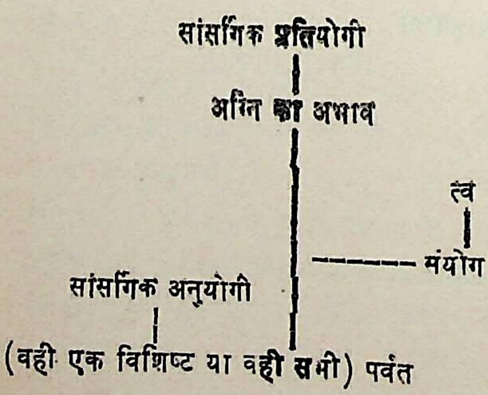
सांसर्गिक प्रतियोगी
अग्नि का अभाव
त्व
संयोग
सांसर्गिक अनुयोगी
(वही एक विशिष्ट या वही सभी) पर्वत

अथवा

(२)

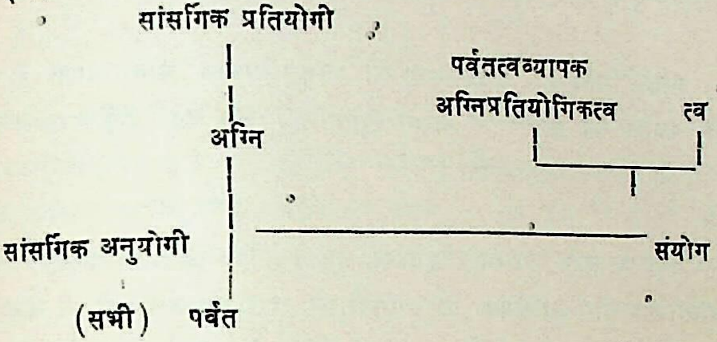
सांसर्गिक प्रतियोगी
पर्वतत्वव्यापक
अग्निप्रतियोगिकत्व
त्व
अग्नि
सांसर्गिक अनुयोगी
संयोग
(सभी) पर्वत

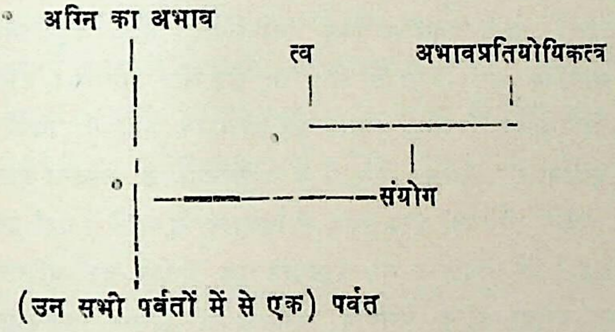
अग्नि का अभाव
त्व
अभावप्रतियोगिकत्व
संयोग
(उन सभी पर्वतों में से एक) पर्वत

सांसर्गिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता का पृथक् स्वरूप उनके व्यवहार पर आधारित है। जैसा कि जगदीश ने सिद्धान्तलक्षण में कहा है– "संयोगः (अत्र) पर्वते वन्हेः सम्बन्धः न तु वन्हे पर्वतस्य", अर्थात् (यहाँ) पर्वत के साथ अग्नि का संयोग (निहित) है, अग्नि के साथ पर्वत का नहीं। इस प्रकार के प्रतीतिव्यवहार के आधार पर सम्बन्ध का कोई प्रतियोगी होता है और कोई अनुयोगी होता है। सम्बन्ध का निरूपण जिससे होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है। सम्बन्ध उसके प्रतियोगी के द्वारा निरूप्य है। यद्यपि सम्बन्ध उसके अनुयोगी तथा प्रतियोगी में समान रूप से रहता है, तथापि उसका निरूपण जिसके द्वारा होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी कहलाता

है और उसमें रहनेवाली प्रतियोगिता को सांसर्गिक प्रतियोगिता कहा जाता है। यह स्वरूप सम्बन्ध का ही एक विशेष प्रकार है या कि भिन्न वस्तु यह एक अलग विचार-बिन्दु है।

प्रतियोगिता और अनुयोगिता को स्वरूप सम्बन्ध मानने वालों के मत में उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना सुगम नहीं है। अतः इन्हें स्वतन्त्र पदार्थ मानना ही उचित प्रतीत होता है।[८]

यहां पर प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि सांसर्गिक प्रतियोगिता को आधेयता-रूप तथा सांसर्गिक अनुयोगिता को आधारता-रूप क्यों न माना जाय, क्योंकि "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में अग्नि की आधेय तथा पर्वत की आधार रूप में प्रतीति होती है। अतः आधेय में आधेयता और आधार में आधारता होनी चाहिए। इनसे भिन्न उपर्युवत प्रतीयोगिता और अनुयोगिता नहीं है। इसलिए सांसर्गिक अनुयोगिता को आधारता-रूप और सांसर्गिक प्रतियोगिता को आधेयता-रूप मानना ही ठीक होगा। इस विषय में नव्य नैयायिकों का कथन है कि जहां आश्रय और आश्रित वस्तुओं में वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है (वृत्तिनियामक सम्बन्ध की चर्चा अन्य प्रसंग में विस्तार से करेंगे। यहाँ इतना ध्यान में लेना पर्याप्त है कि आधारत्व या आधेयत्व एक प्रकार का वृत्तिनियामक संबंध है। इसके अलावा संयोग, समवाय, कालिक या दैशिक विशेषणता भी वृत्तिनियामक संबंध हैं। इनकी चर्चा बाद में करेंगे।) वहाँ आधारता और आधेयता की प्रतीति होती है; जहाँ वृत्यनियामक (वृत्ति-अनियामक) सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध के (इसकी भी चर्चा बाद में करेंगे।) सम्बन्धियों में आधाराधेय भाव प्रतीत नहीं होता है। इसलिये वहाँ आधारता और आधेयता के स्थान पर प्रतियोगिता और अनुयोगिता का ही ग्रहण होता है। अतः सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोगिता को आधेयता और आधारता से भिन्न प्रकार की शक्तियाँ मानना अनिवार्य है।

नव्यन्याय में प्रतियोगी पद का उपयोग निरूपक के अर्थ में भी पाया जाता है।[९] मथुरानाथ ने "हेत्वधिकरणतानिरूपित आधेयता" के स्थान पर

"हेत्वधिकरणताप्रतियोगिक आधेयता" का प्रयोग भी किया, है। यहाँ अधिकरणता और आधेयता के मध्य (बीच में) 'प्रतियोगि-अनुयोगि भाव' से तात्पर्य न हो कर उनके निरूप्य-निरूपकभाव (इसकी भी चर्चा बाद में करेंगे।) से तात्पर्य हैं।

सांसर्गिक प्रतियोगिता का ज्ञान सम्बन्ध के रूप में भी होता है। जैसे, घटसंयोगवद्भूतलम् इस ज्ञान में संयोग का जो घट के साथ संबंध प्रतीत होता है वह प्रतियोगिता सम्बन्ध ही है, क्योंकि घट संयोग का तात्पर्य घट-प्रतियोगिक संयोग है। इसलिये संयोग और घट के बीच जो सम्बन्ध है वह प्रतियोगिता सम्बन्ध है।

सामान्य रूप से विचार करने पर सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोगिता सम्बन्धिता से भिन्न नहीं है। परन्तु उन सम्बन्धिताओं का विश्लेषण करने पर तथा उनमें होनेवाला अन्तर्गत भेद खोजने पर उन्हें प्रतियोगिता और अनुयोगिता के रूप में ही अलग करना पड़ेगा। इस प्रकार सांसर्गिक प्रतियोगिता और सांसर्गिक अनुयोगिता नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत स्वतन्त्र पारिभाषिक पदार्थ हैं।

जिस प्रकार 'योग' शब्द के साथ 'प्रति' उपसर्ग लगाने से विरोध यह अर्थ बनता है उसी प्रकार योग (सम्बन्ध) के सम्बन्धियों के साथ 'प्रति' तथा 'अनु' को जोड़ कर उक्त सम्बन्ध के दो सम्बन्धियों में भेद किया जाता है।

इस लेख में सांसर्गिक प्रतियोगिता का परिचय करा दिया। अब अगले लेख में अभावीय प्रतियोगिता के बारे में सोचेंगे।

— बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे- ४११००७

टिप्पणियाँ

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी, प्रत्यक्षखण्डे

२. वही

३. जगदीश तर्कालङ्कार; तर्कामृतम्

४. तत्त्वचिन्तामणि, पूर्वपक्षव्याप्ति, व्याप्तिप्रकरणे

५. तत्त्वचिन्तामणि, सिद्धान्तव्याप्ति प्रकरण

६. तत्र विशिष्टबुद्धौ प्रकारतया भासमानं संसर्गस्य प्रतियोगि, विशेषतया भासमानं संसर्गस्यानुयोगीति भेदः। वाचस्पत्यम्

७. कृष्णकान्त; शक्तिवादटीका

८. रघुनाथ तर्कवागीश; अतिरिक्त एव पदार्थ इत्यैकदेशिनः। सिद्धान्तलक्षण, दीधिति

९. गदाधर भट्टाचार्य; निरूपकत्वं चात्र यदि प्रतियोगित्वम् ......। सामान्य निरुक्ति, गादाधरी

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिन्दी) के खण्ड ८, अंक १ में डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन का लेख "युद्ध, शान्ति और धर्म" देखा। विद्वान् लेखक से निम्नलिखित बिन्दुओं पर मेरी असहमति है–

१. युध्द और संघर्ष में भेद स्पष्ट करते हुए लेखक का मत है कि युध्द पूर्वनियोजित होते हैं और उसके परिणाम दूरगामी होते हैं, जबकि संघर्ष पूर्वनियोजित नहीं हैं, तात्कालिक हैं और उनके परिणाम दूरगामी नहीं होते। (पृ. ५८)

मेरी दृष्टि में युद्ध और संघर्ष में भेद तो अवश्य है किन्तु यह भेद स्वरूप और परिणाम का है। युध्द मानव-निर्मित एक विभीषिका है जबकि संघर्ष प्रकृति की एक स्वाभाविक, सहजगामी प्रक्रिया है। युद्ध के परिणाम ध्वंसात्मक होते हैं। युद्ध विकास की प्रक्रिया में बाधक है, जबकि संघर्ष विकास की प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त अगर युद्ध पूर्वनियोजित होते हैं तो संघर्ष भी पूर्वनियोजित ही होता है, तथा इसके विपरीत युद्ध भी कभी–कभी अनायास ही हो जाते हैं। (जैसे १९६२ में चीन-भारत युद्ध। भारत ने इस युध्द में हिस्सा अवश्य लिया, किन्तु उसकी भागीदारी पूर्वनियोजित नहीं थी।) जहाँ तक परिणामों की दूरगामिता का प्रश्न है, तो युद्ध के परिणाम अगर किसी देश को सदियों तक प्रभावित करते हैं तो संघर्ष के परिणाम समस्त सृष्टि की विकासात्मक प्रक्रिया को सदैव के लिये प्रभावित करते हैं।

२ डार्विन और लमार्क के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए लेखक ने 'योग्यतम' और 'युद्ध' पदों का व्यवहार किया है। डार्विन ने वस्तुतः विकासवाद में 'फिटेस्ट' शब्द का व्यवहार किया है, जिसका सही अनुवाद अगर 'योग्यतम' हो तब भी 'योग्यतम' की वह व्याख्या डार्विन के 'फिटेस्ट' से मेल नहीं खाती जो व्याख्या विद्वान् लेखक का अभिप्रेत है। 'फिटेस्ट' का अर्थ 'सबलतम' नहीं है

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ३, जून, १९८७

(जैसा कि विद्वान् लेखक के विवेचन से ध्वनित होता है) वल्कि उसका अभिप्राय 'सर्वाधिक अभियोजनशीलता' से है ।

डार्विन ने भी विकास-प्रक्रिया को समझाने के लियें 'युद्ध' का नहीं संघर्ष का प्रयोग किया है । संघर्ष और युद्ध में भेद है– यह तो स्वयं लेखक महोदय भी स्वीकारकरते हैं ।

३ चर्चिल के मत की आलोचना करने हुए लेखक लिखते हैं– शक्ति-सन्तुलन बिगड़ता है तो युद्ध शुरू हो जाता है । लेकिन् क्यों शुरू हो जाता है ? (पृ ६०)

क्या इस 'क्यों' का यह उत्तर पर्यात नहीं है कि शक्ति-सन्तुलन बिगड़ता है तो युद्ध शुरू होते हैं ? फिर यहाँ इस 'क्यों का क्या औचित्य है ? चर्चिल के मत से स्पष्ट है कि चर्चिल युद्ध और सन्तुलन में कार्य-कारण संबंध स्थापित करते हैं । जब हम किसी भी दो घटनाओं क और ख के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो यहाँ यह प्रश्न निरर्थक होता है कि इनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध क्यों है ? हाँ, यह प्रश्न अवश्य ही पूछा जा सकता है कि क और ख के बीच जिस प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध वतलाया गया है उसे स्वीकार करने का आधार क्या है ? चर्चिल ने तो यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार शक्ति-सन्तुलन युद्ध को प्रभावित करता है । (देखें पृ. ६०)

४. लेखक फ्रॉइड के इस मत से सहमत हैं कि युद्ध समूह-मन की यौन-विकृति का द्योतक है ।

यहाँ ध्यातव्य है कि फ्रॉइड एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने जीवन और सृष्टि की समस्त क्रियाओं के मूल में सेक्स को देखा है । यह सत्य है कि सेक्स प्राणीमात्र की संरचना का एक अपरिहार्य तत्त्व है और एक प्राथमिक आवश्यकता भी। किन्तु इस स्वीकृति का क्या आधार है कि सेक्स प्रत्येक व्यक्ति को कुण्ठित करता है और सेक्स-जनित कुष्ठा ही युद्ध का कारण है ? वस्तुत: , सेक्स और सेक्स-जनित कुण्ठा अनेक युध्दों का कारण बनी है यह तो सत्य है, किन्तु समस्त युद्धों का एकमात्र कारण यह कुण्ठा ही है यह सिद्ध नहीं हो पाया है । युद्ध को समूह-मन की यौन-विकृति का द्योतक स्वीकार करना तो और भी वड़ी भूल है । युद्ध किसी भीड़ के मनों-मस्तिष्क की उपज नहीं होता। भीड़ दंगे तो कर सकती है, पर युद्ध नहीं। युद्ध सदैव राजनायकों के मनों-मस्तिष्क की उपज है, जिसमें सामान्य जन (समूह) या सेना (समूह) को झोंक दिया जाता है, जहाँ आत्म-रक्षा का सर्वाधिक सबल हथियार हिंसा होती है ।

५. लेखक ने स्वीकार किया है कि "यौद्धिक मनोवृत्ति धर्म से ही उपचारी जा सकती है।" (पृ.६४)

विश्व में नित नए धर्मों का उदय हुआ है, परन्तु इससे युद्ध की विभीषिका पर कितना असर हुआ है? बौद्ध और जैन धर्मों का उदय जिस काल में हुआ (इन धर्मों के देशव्यापी और युग-व्यापी प्रभाव हुए) उस काल में भी क्या युद्ध रुक सके? इतिहास साक्षी है कि जितने युद्ध धर्म के नाम पर हुए हैं उतने अन्य किसी कारण नहीं।

अन्ततः, युद्ध का एकमात्र कारण सत्ता-लोभ और अहंकार ही दृष्टिगत होता है। अहंकार के वशीभूत ही मानव सत्यं, शिवं, सुन्दरम् भूलता है और सत्यं, सुन्दरम् का बोध ही अहंकार के निराकरण का एकमात्र उपाय है। सत्य, शाश्वत और शुभ – ये नीतिशास्त्रीय सम्प्रत्यय हैं। अतएव युद्ध के मूल में मानव का नैतिक पतन कार्य करता है। जबतक राजसत्ताधारी और राजसत्ता का गठन करने वाले मानव समुदाय नैतिक रूप से दीक्षित नहीं होते, तबतक युद्ध जारी रहेंगे।

– नीलिमा सिन्हा

दर्शनशास्त्र विभाग
गौतम बुद्ध महिला महाविद्यालय
गया (बिहार)

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

– १ –

१. तिवारी, (डॉ.) नरेश प्रसाद; **चार्वाक का नैतिक दर्शन**; विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८६; पृ. १७२; अजिल्द; मूल्य: पन्द्रह रुपये.

२. तिवारी, (डॉ.) नरेश प्रसाद; **भारतीय भौतिकवाद–उत्पत्ति और विकास (चार्वाक दर्शन का विकास-क्रम)** : श्री ग्रन्थालय, सुलतानगंज (भागलपुर); १९८६; पृ. ३८; अजिल्द; मूल्य : आठ रुपये पचास पैसे.

डॉ. नरेश प्रसादजी की उक्त दो पुस्तकों में से पहली पुस्तक उनके अपने **चार्वाक का नीतिदर्शन : एक समीक्षात्मक अध्ययन** नामक शोध–प्रबन्ध का पुस्तकाकार प्रस्तुतीकरण है। उक्त शोध-प्रवन्ध राँची विश्वविद्यालय के द्वारा १९८१ में स्वीकृत किया गया था। उसमें चार्वाक के नीतिदर्शन का 'निष्पक्ष एवं स्वतंत्र दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयास किया गया था और इसी प्रयास को कुछ संशोधित (बिल्कुल नगण्य) रूप में पुस्तकाकार देने की कोशिश की गयी है'। आमुख, (पृ. २१. अधोरेखित शब्दों पर बल हमारा) उक्त पुस्तक विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत भारत सरकार के मानव-संसाधन विकास मन्त्रालय (शिक्षा विभाग) के शत-प्रतिशत अनुदान से विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना के द्वारा प्रकाशित की गयी है। डॉ. प्रसाद जी की दूसरी छोटी 'पुस्तक का आधार दक्षिणारञ्जन शास्त्रीकृत *A Short History of Indian Matertalism, Sensatinonalism and Hedonism* तथा उमेश मिश्र कृत *History of Indian Philosophy* ये दो पुस्तकें हैं'

(दो बातें)। ये दोनों लेखक दिवंगत हो चुके हैं। अतः उनके दृष्टिकोण तथा सामान्यतः भारतीय भौतिकवाद के तथा प्रधानतः चार्वाक दर्शन के बारे में उनके मत निःपक्षपाती रीति से प्रस्तुत हुए हैं या नहीं इसका ठीक तरह से उनकी ओर से पता लगाना मात्र कष्टसाध्य ही नहीं एक दुष्कर कार्य भी है।

"भारतीय दर्शन की प्रणालियों में चार्वाक दर्शन अपवादस्वरूप एवं तिरस्कृत प्रणाली के रूप में प्रचलित है। इस प्रणाली की वास्तविक आत्मा की अभिज्ञान-शून्यता उसे उपयुक्त स्थान नहीं दिला पाई है" और इस प्रकार की उसकी अभिज्ञान-शून्यता उक्त प्रणाली के "मूलग्रन्थों के अभाव" से उद्भूत हुई है। "मूलग्रंथ के बिना किसी दर्शन-प्रणाली की वास्तविक आत्मा से परिचित नहीं हुआ जा सकता" (आमुख)। इस प्रकार "उपलब्ध चार्वाक दर्शन की प्रामाणिकता सन्देहास्पद है क्योंकि उसकी जानकारी उक्त दर्शन के विपक्षियों के द्वारा मिलती है"। (तत्रैव) इस प्रकार की कठिनाईयों के बावजूद चार्वाक दर्शन जैसे एक उपेक्षित दर्शन-प्रणाली, में रुचि तथा औत्सुक्य रख कर उसके कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष तथा पहलू (यथावस्थित रूप में ?) जिज्ञासु पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का डॉ. नरेश प्रसाद जी का प्रयास कम-से-कम आपाततः इसलिए सराहनीय है कि इस प्रकार के प्रयासों के आधार पर हमारी लुप्तप्राय तथा आमतौर पर तिरस्कृत चार्वाक जैसी दार्शनिक प्रणालियों पर आज तक किए गए वैचारिक तथा दार्शनिक अन्याय का यथासंभव निराकरण या परिमार्जन कर उन्हें समुचित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से इस प्रकार के प्रयासों का अपना वैचारिक महत्त्व है। अन्यान्य भारतीय दार्शनिक परंपराओं की प्रधान प्रेरणाएें कौन सी थीं, उनके पक्षधरों के द्वारा उक्त प्रेरणाओं का किस प्रकार समर्थन किया गया, तत्कालीन प्रचलित अन्य दार्शनिक प्रेरणाओं के बारे में उनका क्या मत था, इन परम्पराओं के समर्थकों में जो वैचारिक सम्प्रेषण तथा संघर्ष हुआ उसका भारतीय दर्शन प्रणालियों पर किस प्रकार का परिणाम हुआ तथा उक्त दार्शनिक प्रणालियाँ उससे किस प्रकार लाभान्वित हुईं या उन्हें किस प्रकार की क्षति पहुँची इसकी ऐतिहासिक, वैचारिक, तात्त्विक एवं सांस्कृतिक महत्ता को न नकारा जा सकता है न ही उसे दुर्लक्षित भी किया जा सकता है।

इस प्रकार के प्रयासों की उपर्युक्त प्रकार की स्वीकार्य तात्त्विक पृष्ठभूमि होने के बावजूद डॉ. नरेश प्रसाद जी के द्वारा लिखित दो पुस्तकों के बारे में चिन्तनशील पाठकों के सामने कुछ बिन्दु अत्यधिक विचारार्थ विनम्रता से प्रस्तुत करना चाहते हैं। सर्वप्रथम उनकी पुस्तक भारतीय भौतिकवाद: उत्पत्ति और

विकास (चार्वाक, दर्शन का विकास-क्रम) के बारे में दो बिन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। एक; पहला महत्त्वपूर्ण बिन्दु परिभाषा से सम्बद्ध है। संभवतः 'भौतिकवाद' यह डॉ. नरेश प्रसाद जी के द्वारा प्रस्तुत शब्दप्रयोग Materialism का निदर्शक है, Realism (वास्तववाद या यथार्थवाद) तथा Epiphenomenalism (उपतत्त्ववाद) का नहीं। अगर यह सच है तो "भौतिकवाद उस विचार या सिद्धान्त को कहते हैं जो ज्ञेय वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करता है, और मानता है कि ज्ञाता तथा ज्ञान ज्ञेय-वस्तु का ही परिणाम है। ज्ञेय-वस्तु जड़ है, और विश्व में केवल जड़ ही अस्तित्ववान् है।" इस परिभाषा को देखते हुए उपर्युक्त तीन दार्शनिक दृष्टिकोणों के बारे में तथा उनके विभेदक पक्षों के बारे में डॉ. नरेश प्रसाद जी के चिन्तन में दुर्भाग्यवशात् कोई सुस्पष्टता नहीं दिखाई देती। अशिथिल दृष्टि से सोचते हुए जो भी कोई जड़तत्त्व तथा उसके बारे में भी क्यों न हो किए गए विचार को स्वीकार करता है उसे शुद्ध जड़वादी नहीं कहा जा सकता, और इस प्रकार निःशेषतः जड़वादी कोई दार्शनिक है भी नहीं— न पश्चिम में न ही पूर्व में। न इस प्रकार की कोई शुद्ध दार्शनिक परंपरा रही है। और अगर भौतिकवाद, जड़वाद, वास्तववाद, तथा उपतत्त्ववाद इनके विभेदक पक्षों को नज़रअन्दाज़ कर किसी दार्शनिक पक्ष को भौतिकवाद के रूप में स्वीकार करना हो तो उस प्रकार के चिन्तन में उसी प्रकार का शैथिल्य, सुस्पष्टता-रहितता तथा असंगति किसी को भी दिखाई देगी जिस प्रकार डॉ. नरेश प्रसाद जी की उक्त पुस्तिका में देखने को मिलती है। दूसरा, उन्होंने भारतीय भौतिकवाद के विकास-क्रमों को इस प्रकार स्वीकार किया है- '(क) संशयवाद और उच्छेवाद (ख) स्वभाववाद और स्वतंत्रवाद (ग) सुखवाद और उत्शृंखलतावाद, (घ) अवैदिकवाद' (पृ. ३०)। अब तनिक सोचने पर पता चलता है कि किसी भी संशयवादी या उच्छेदवादी को भौतिकवादी किस आधार पर कहा जा सकता है? उसी प्रकार का प्रश्न सुखवादियों, स्वभाववादियों तथा अवैदिकतावादियों के बारे में भी चरितार्थ है। जैसे, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने 'वैदिक कर्मकाण्डों, वैदिक यज्ञों आदि का' विरोध अवश्य किया। लेकिन इस आधार पर उन्हें भौतिकवादी कहना उनके प्रति अन्यायकारक है। तीसरा, इस कुल ३८ पृष्ठों की पुस्तिका में मुद्रण-दोषों की तो भरमार है। शुद्धि-पत्र में भी अशुद्धियाँ हैं और ऐसी कितनी अशुद्धियाँ हैं जिन्हें शुद्धि-पत्र स्पर्श भी नहीं कर पाया है। यह पुस्तिका प्रकाशित करने की इतनी जल्दी क्या थी उसका पता नहीं लगता। संभवतः अधिक सतर्कता से काम किया होता तो पुस्तिका कम-से-कम इस प्रकार के दोषों से तो मुक्त रहती !

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, चार्वाक का नैतिक दर्शन डॉ. नरेश प्रसाद जी का शोध-प्रबन्ध है। उसके बारे में भी दो-तीन बिन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान नमूना के स्तर पर विनम्रता से आकृष्ट करना उचित समझते हैं–एक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित करते समय उसमें 'बिल्कुल नगण्य रूप' में ही संशोधन क्यों किया ? अधिक संशोधन अनावश्यक है इसलिए, या इस प्रकार की आवश्यकता को महसूस करने के बावजूद ? दूसरा, लेखक महोदय एक ओर यह स्वीकार करते हैं कि मूल ग्रन्थ के बिना किसी दर्शन-प्रणाली की वास्तविक आत्मा से परिचित नहीं हुआ जा सकता' (आमुख) और दूसरी ओर उक्त पुस्तक के बारे में अध्यक्ष, बिहार ग्रन्थ अकादमी का यह दावा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ. तिवारी जी की मौलिक कृति है। वह एक सन्दर्भ-ग्रन्थ है और उसे विश्वविद्यालयीन छात्र, अनुसंधानकर्ताओं तथा प्राध्यापकों को सामने रख कर प्रस्तुत किया गया है (प्रस्तावना)। इस दावे को डॉ. तिवारी ने नकारा नहीं है। इनमें से प्रथम पक्ष के बारे में सर्वप्रथम सोचेंगे। डॉ सर्वानन्द पाठक लिखित चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा में जिस मौलिक सामग्री की ओर निर्देश किया गया है या डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के द्वारा लिखित *Lokayat* ग्रन्थ में जिन मौलिक ग्रंथों का उल्लेख आया है, इतना ही नहीं, चार्वाक दर्शन पर लिखित अन्य ग्रन्थों या लेखों में जिन बिंदुओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है उनको छोड़ कर डॉ. तिवारी के द्वारा चावोक दर्शन का ऐसा कौन-सा पक्ष या पहलु प्रस्तुत किया गया है जिसको देखते हुए उनकी कृति को मौलिक कहा जा सके ? मौलिकता से अगर एकत्रीकरण का ही मतलब हो तो चार्वाक-दर्शन पर आज तक लिखित तथा प्रस्तुत सामग्री में से कुछ सामग्री का चयन कर उसे एक पुस्तक की सीमा में डॉ. तिवारी ने अवश्य प्रस्तुत किया है। परन्तु इसमें प्रस्तुतीकरण की मौलिकता है, चिन्तन की नहीं। इस प्रकार के ग्रन्थों से छात्रों, अध्यापकों को अवश्य लाभ हो सकता है, तथापि अनुसंधानकर्ता इससे किस प्रकार लाभान्वित हो सकेंगे इसके बारे में गंभीर आशंका है। साथ-साथ कोई भी मौलिक ग्रंथ लिखने के निम्नलिखित पुस्तकें कैसे आधार हो सकती हैं?– (१) S. C. Chatterjee and D. M: Datta; *An Introduction to Indian Philosophy*. (२) William Lilie; *An Introduction to Ethics* (3) Mackenzie; *Hindu Ethics*, (4) Umesh Mishra; *History of Indian Philosophy*, (5) N. L. Munn; *Psychology* इस प्रकार के ग्रन्थों की महत्ता वे स्नातक-पूर्व कक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रस्तावित किए जाने तक ही सीमित माननी होगी। तीसरा, इस ग्रन्थ का संशोधित रूप में प्रस्तुतीकरण करते समय कुछ बिन्दुओं को विकृत रूप में प्रस्तुत न किया होता

तो उससे पुस्तक की महत्ता बढती । उहाहरण के रूप में पाँच-सात उदाहरणों की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं- (१) 'जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है उसे लिंग या हेतु कहते हैं।' (पृ. २६), (२) 'बौद्ध नैयायिकों के द्वारा व्याप्ति-ज्ञान कारण-कार्य संबंध (तदुत्पत्ति) और तादात्म्य संबंध द्वारा होता है।' (पृ. २९), या 'बौद्ध नैयायिक मात्र उदाहरण और उपनय को ही अनुमान के अवयव मानते हैं।' (पृ. ६९), (३) 'प्रत्यक्ष के अभाव में व्याप्ति को जानना संभव नहीं है' या 'संज्ञा वह है जिसका ज्ञान होता है। संज्ञी वह है जिसके सदृश संज्ञा दीखाता है'। (पृ. ४६), (४) 'नैतिक दर्शन का अग्रेजी रूपान्तर एथिक्स अथवा मॉरल फिलॉसफी है' (पृ. ७८), (५) 'काम का संकीर्ण अर्थ "यौन" है जिसके बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता। इसलिए 'काम सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है'। (पृ. १५१), (६) 'द्रौपदी के पांच पति होना भी स्वच्छन्द कामाचार का प्रतीक है'। (पृ. १५६), (७) 'ऋण को लेकर हम आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयास करते हैं'। (पृ. १५८) आदि।

इस ग्रंथ में भी मुद्रण-शोधन की अनेक त्रुटियाँ हैं। उसको न विषय-सूचि जोड़ी गई है, न ग्रन्थकार-सूची। कम-से-कम तथाकथित सन्दर्भ-ग्रन्थ में तो इस प्रकार की त्रुटियाँ नहीं रहनी चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ छात्रों के लिए एक उपयुक्त ग्रन्थ है। लेकिन वह अनुसंधान-कर्ताओं के लिए कहाँतक लाभप्रद होगा इसके बारे में गंभीर आशंका है।

-- मो. प्र. मराठे

दर्शन विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे--४११००७

— २ —

व्यास, (डॉ.) सूर्यप्रकाश ; बौध्द, वेदान्त एवं काश्मीर दर्शन; विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ, १९८६; पृ. २४४; सजिल्द; मूल्य: १३० रुपये.

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलत: उदयपुर विश्वविद्यालय के द्वारा १९७६ में पीएच्. डी. शोधउपाधि के हेतु स्वीकृत काश्मीर-शैव दर्शन द्वारा वेदान्त एवं बौध्द दर्शन का समालोचन नामक शोध-प्रबन्ध का परिवर्तित एवं संशोधित रूप है। जैसा कि

आचार्य रामचंद्र द्विवेदी जी ने अपने प्राक्कथन में बताया है यह ग्रन्थ एक ओर डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के द्वारा अभिनवगुप्त के चिन्तन को आधार बना कर काश्मीर शैव दर्शन के बारे में जो विचार-विमर्श प्रस्तुत किया था उसका पूरक है, और दूसरी ओर ग्रन्थ में विवेच्य विषय की व्यापक, तलस्पर्शी तथा प्रामाणिक चर्चा प्रस्तुत करने के कारण बौध्द, वेदान्त तथा काश्मीर शैव दर्शन के अनुसन्धानकर्ताओं के लिये उपादेय है ।

भारतवर्ष में जो अन्यान्य दार्शनिक परम्पराएँ प्रसृत हुईं उनका विकास एक-दूसरे से अलगाव रख कर नहीं वल्कि एक-दूसरे से सम्प्रेषण तथा संघर्ष से हुआ । इस प्रकार के दार्शनिक संघर्ष के जैसे न्याय-बौद्ध संघर्ष आदि उदाहरण हैं उसी तरह मीमांसा-वेदान्त, सांख्य-वेदान्त संघर्ष आदि भी । काश्मीर शैव दर्शन या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी इसके लिये अपवाद नहीं गिना जा सकता । उसका एक ओर वेदान्त से और दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन से सम्प्रेषण तथा संघर्ष इन दोनों प्रकार का सम्बन्ध रहा । इन दोनों विधाओं से काश्मीर शैव दर्शन लाभान्वित हुआ । साथ-साथ काश्मीर शैव दर्शन की कुछ असर वेदान्त तथा बौद्ध दर्शनों के कुछ पक्षों पर कालान्तर में हुए विना न रही । प्रस्तुत ग्रन्थ में कारणतावाद, सम्बन्ध–सिध्दान्त, जगत्, परम-तत्त्व तथा मोक्ष इनके बारे में वेदान्त तथा बौद्ध-दर्शन के पक्षधरों के जो दृष्टिकोण रहे उनकी काश्मीर शैव दर्शन के पक्षधरों के हाथ किस प्रकार की आलोचना और समीक्षा की गयी, उनमें किन प्रकार की त्रुटियाँ दिखायी गयीं और उन्हें हटा कर काश्मीर शैव दर्शन का परिमार्जित तथा स्वस्थ रूप कालान्तर में कैसे विकसित और प्रस्तुत हुआ इसकी अच्छी चर्चा मिलती है । काश्मीर शैव दर्शन के प्रधान पक्षों को स्वस्थ तथा अविकृत रूप से प्रस्तुत किया गया है और लेखक के द्वारा न 'किसी महान् उपलब्धि का आग्रह' किया गया है, न मौलिकता का कोई अतिरंजित दावा । लेकिन काश्मीर शैव दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्षों को सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करनेवाला यह एक अच्छा ग्रन्थ है और हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे उसका अध्ययन करें।

इस प्रकार की उसकी संस्तुति करने के साथ-साथ ही विनम्रता से हम लेखक महोदय का तथा पाठकों का ध्यान कुछ बिन्दुओं की ओर आकर्षित करना चाहते हैं । उन्हें इस अपेक्षा से प्रस्तुत कर रहे हैं कि ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में लेखक महोदय उनकी ओर यथावश्यक ध्यान दें ताकि ग्रन्थ का वैचारिक तथा आनुसन्धानिक महत्त्व बढे । पहली बात यह है कि शंकराचार्य के वेदान्त मत के बारे में ही वेदान्त–विषयक विचार सीमित रखने हों तो शंकराचार्य के द्वारा ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य या किसी उपनिषद्भाष्य में न विवर्तवाद शब्द का

प्रयोग किया गया है, न उसका विवेचन किया गया है, तथा न उन्होंने कहीं अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को विवर्तवाद या मायावाद संबोधित किया है। ऐसी स्थिति में शंकराचार्य के किसी अनुयायि के दृष्टिकोण को शंकराचार्य के दृष्टिकोण के रूप में स्वीकृत करना उनके प्रति अन्यायजनक है। उसी तरह भामतीकार तथा वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलिकार के मत में और शंकराचार्य के मत में भिन्नता नहीं है ऐसा स्वीकार करना भी शंकराचार्य के प्रति अन्यायकारक है। अगर ऐसा स्वीकार नहीं किया तो कालान्तर में अद्वैत वेदान्त की परम्परा में भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान जैसे पक्ष प्रस्तुत हुए इस मान्यता को निरर्थक मानना पड़ेगा। दूसरे, बताया गया है कि नैयायिक के असत्कार्यवाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मात्र उपादान कारण या निमित्त कारण से कार्य की उत्पति नहीं मानता अपितु उसके कारणवाद में दोनों का महत्त्व है। (पृ. ५६) यहाँ दो आपत्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं– प्रथमतः, नैयायिक उपादान कारण की परिभाषा स्वीकार नहीं करते और उनके द्वारा स्वीकृत समवायी कारण को वेदान्तियों के द्वारा स्वीकृत उपादन कारण मानना गलत है। द्वितीयतः, उपादान तथा निमित्त कारणों को स्वीकार करने वाले पक्ष को अगर असत्कार्यवाद मानना हो तो शंकरचार्य के अद्वैत वेदान्त को भी असत्कार्यवाद घोषित करना होगा, क्यों कि उनके मतानुसार ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है, और ऐसा मानना उनके अद्वैत वेदान्त का विकृतीकरण मात्र होगा।

तीसरे, ग्रन्थ को विषय-सूचि, ग्रन्थकार सूचि तथा ग्रन्थ-सूचि अगर जोड़ दी होती तो उससे ग्रन्थ का सन्दर्भ-ग्रन्थ-मूल्य बढ़ता। चौथे, ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुद्रण-दोष रह गये हैं। उनकी ओर अधिक सतर्कता से ध्यान दिया जाता तो वह ग्रन्थ की गुणवत्ता तथा महत्ता वृद्धिगत करने में उपकारक होता। इन दोषों के बावजूद जिज्ञासु पाठकों से हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थ का अवश्य अध्यय करें।

– मो. प्र. मराठे

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११००७

हमारे प्रकाशन

Daya Krishna and A. M. Ghose (eds); *Contemporary Philosophical Problems: Some Classical Indian Perspectives, Rs. 13/-*

S. V. Bokil (Tran) *Elements of Metaphysics within the Reach of Everyone, Rs. 25/-*

A. P. Rao; *Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-*

Ramchandra Gandhi (ed) *Language, Tradition and Modern Civilization*, Rs. 55/-

S. S. Barlingay, *Beliefs, Reasons and Reflections*, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Shrivastav (eds); *The Philosophy of Kalidas Bhattacharya*, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) *Studies in Jainism*, Rs. 50/-

R. Sundara Rajan, *Innovative Competence and Social Change*, Rs. 25/-

S. S. Barlingay (ed), *A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities* (Upto 1980) Part I, Rs 50/-

R. K. Gupta; *Exercises in Conceptual Understanding;* Rs. 25/-

सम्पर्क करें
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे –४११००७

स्थायी सदस्य (संस्था)

२०. निबन्धक,
नवनालन्दा महाविहार
नालन्दा– ८०३१११ (बिहार)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१३८. सुश्री अर्चना वर्मा
३१, मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर
दिल्ली-११०००७

१३९. डॉ. चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव
दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर-२७३००१
(उ. प्र.

१४०. डॉ. ब्रजेन्द्रनारायण सिंह
हिन्दी विभाग
हैद्राबाद विश्वविद्यालय
हैद्राबाद–५००१३४

१४१. डॉ. डी. आर्. भण्डारी
६०–ब, सोळंकी भवन
१२–ड सरदारपुरा
जोधपुर-३४२००३ (राजस्थान)

१४२. डॉ. (कु.) प्रेम मिश्र
अजित भवन, राइका बाग
जोधपुर--३४२००६, (राजस्थान)

१४३. डॉ. हरिशंकर प्रसाद
दर्शनशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली--११०००७

१४४. डॉ. एस्. आर्. व्यास
९०४, हिरण्मगरी,
उदयपुर--३१३००१
(राजस्थान)

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी । लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हों । लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा । जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें । जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा ।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा । यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों । प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा ।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया ।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

सुरेन्द्र वर्मा	गांधीजी का धर्म-दर्शन : ईश्वर की अवधारणा	२०
मधुमती	निर्वाण की अवधारणा और सामाजिकता का प्रश्न	२१
रामदास पाण्डेय 'गम्भीर'	कार्ल यास्पर्सीय गुप्तभाषा	२४
राममूर्ति त्रिपाठी	रसबोध	२५
छाया राय	मूल्य : एक पुनरावलोकन	२६
गौरी मुकर्जी	चित्सुखाचार्य के मतानुसार तम की भावरूपता	२६
मृत्युञ्जय उपाध्याय	ग्रामीण परिवेश और आज का साहित्य	२८
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (३)	२८
	प्रतिक्रिया	३०
	ग्रन्थ-समीक्षाएँ	३०

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ८ अंक ४

सितम्बर, १९८७ / भाद्रपद-आश्विन, २०४३

संपादक

सुरेन्द्र वारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

✽ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

✽ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✽ राजेन्द्र प्रसाद ✽ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ✽ रमाकान्त सिनारी ✽ विजयकुमार भारद्वाज ✽ शारदा जैन ✽ संगमलाल पांडे ✽ आर्. बालसुब्रमणियन् ✽ अशोक रा. केळकर ✽ के. जे. शहा ✽ नारायणशास्त्री द्राविड ✽ के. सच्चिदानंद मूर्ति ✽ जी. सी. नायक ✽ ग. ना. जोशी ✽ मोहनलाल मेहता ✽ जे फाईस ✽ सुमन गुप्ता ✽ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ✽ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ✽ सु. ए. भेलके ✽ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें!
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय,
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५-००
	एक प्रति	रु. ०६-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०-००

✽ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

– गांधी दर्शन में सत्य की अवधारणा –

गांधी दर्शन में सत्य की खोज वैज्ञानिक तथ्य की खोज नहीं, बल्कि सत्य गांधी के लिए एक अत्यंत ही व्यापक एवं समन्वयात्मक अर्थ रखता है। कभी वे 'सत्य' शब्द का प्रयोग सत्य वचन के लिए करते हैं, कभी ज्ञान-मीमांसीय अर्थ में यानी जिसे हम सत्य रूप में जानते हैं, कभी तत्त्वमीमांसीय अर्थ में परम सत्य के लिए, कभी नैतिक नियम के लिए, कभी नैतिक अधिकारों एवं न्याय के अर्थ में, कभी अन्तरात्मा की आवाज के लिए और कभी मनुष्य के चरम भवितव्य के लिए 'सत्य' शब्द का प्रयोग गांधी करते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि गांधी की धारणा सत्य के प्रति अस्पष्ट एवं भ्रांतिपूर्ण थी और उन्हें भाषा विश्लेषणात्मक ज्ञान की आवश्यकता थी, बल्कि सत्य के प्रति गांधी का दृष्टिकोण अत्यन्त ही खुला, विस्तृत एवं समन्वयात्मक था। वे सत्य को आनुभविक, बौद्धिक या वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा में आबद्ध नहीं मानते, बल्कि समस्त मानवीय खोजों एवं व्यापारों के मूल में सत्य को देखते हैं। यह सत्य का एक अधिक मानववादी एवं खुला प्रयोग है जो तथ्यपरक के साथ-साथ मूल्यपरक भी है तथा मानवीय विकास के साथ-साथ सतत विकासशील है। गांधी इस बात को मानते हैं कि मनुष्य तथ्य (वैज्ञानिक सत्य) के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनायेगा यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार का सत्य चाहता है। उसके सांस्कृतिक-नैतिक विकास के साथ-साथ प्राचीन काल से ही उसकी सत्य की अवधारणा भी बदलती रही है, अतः मूल्यात्मक विकास सत्य के पहले है तथा मूल्य एवं सत्य अभिन्न है। गांधी कहते हैं कि "यदि महज ज्ञान से ही व्यक्ति महान् हो जाता तो प्रो. मैक्स मूलर संत हो गये होते।"[1] कहने का अर्थ यह कि जो वैज्ञानिकों का सत्य है उससे संतों का सत्य कहीं उच्चतर है और वैज्ञानिक सत्य को लेकर एक संत कभी तृप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार एक संत जिन सत्यों में जीता है वह एक वैज्ञानिक के लिए दुर्बोध होता है। गांधी मानते हैं कि एक वेदांती के लिए सत्य निर्गुण ब्रह्म है, श्रद्धालु के लिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर, वैज्ञानिकों के लिए

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

वैज्ञानिक तथ्य ही सत्य है जबकि एक भूखे के लिए ईश्वर यानी सत्य रोटी के टुकड़े के रूप में आता है। गांधी के सत्य की समन्वयात्मक अवधारणा में हर प्रकार के सत्यों को उचित स्थान एवं दर्जा प्राप्त है। मानव के मूल्यात्मक एवं आध्यात्मिक विकास के अनुरूप उसके सत्यों में भी श्रेणी-भेद है और गांधी का सत्य के साथ प्रयोग उनके नैतिक आध्यात्मिक प्रयोग से भिन्न नहीं है। उनके अनुसार "अनुशासित नैतिक जीवन के द्वारा ही सत्य की उपलब्धि संभव है"।[2] उसी प्रकार जब गांधी "सत्य ही ईश्वर है" अथवा "ईश्वर ही सत्य है" आदि कहते हैं तो इससे ध्वनित होता है कि उनका सत्य सत्तात्मक एवं मूल्यात्मक दोनों है; साथ ही साथ उनके ईश्वर (सत्य) में सत्तात्मक, मूल्यात्मक, धार्मिक निर्गुण, सगुण आदि सभी पहलू देखे जा सकते हैं।

आनुभविक, बौद्धिक एवं अन्तरनुभूत्यात्मक सत्य – मनुष्य अपने विकास के क्रम में नये-नये मूल्यों का सृजन करता है और अपने ज्ञान की संभावनाओं को भी विकसित करता है। जिस प्रकार उसके ज्ञान की क्षमताओं में विकास होता जाता है उसी के अनुरूप उसके सत्य की अवधारणा में भी परिवर्तन होता है। ये तीनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं।

ऐन्द्रिक तल पर व्यक्ति सीमित, क्षणभंगुर तथ्यों की जानकारी प्राप्त करता है। मूल्यात्मक दृष्टि से व्यक्ति अपनी ऐन्द्रिक लालसाओं को तृप्ति के लिए इन्हीं क्षणभंगुर, सीमित वस्तुओं के प्रति भागता है और उसे ही अपने जीवन का सार, सर्वस्व एवं सत्य मानता है। व्यक्ति अपने को शाश्वत एवं सार्वभौम आत्मा मानने के बजाय सीमित पृथक् व्यक्ति मानता है और अधिक से अधिक सुख एवं लम्बी आयु की कामना करता है। वैज्ञानिक भौतिकवाद ऐसे लोगों का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त होता है तथा सुखवाद नैतिक दर्शन। गांधी कहते हैं– "ऐसा इन्द्रियप्रधान व्यक्ति अशुभ एवं अनैतिक होता है लेकिन वही व्यक्ति अपने अंतस्तल में व्यापक ईश्वरीय संभावनाओं का आधार भी होता है।"[3] "मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है।"[4]

इस कारण आध्यात्मिक प्रगति के क्रम में बौद्धिक तल पर जब व्यक्ति पहुंचता है तो वह इन्द्रिय की सीमाओं को लांघ कर व्यापक नियमों (सत्यों) की खोज करता है। क्षणिक एवं परिवर्तनशील सत्य (भूत) मानवीय मूल्यों को तृप्त नहीं कर पाते। वह शाश्वत, सर्वव्यापक मूल्यों की खोज करता है। यह खोज उसे क्षणिक, परिवर्तनशील घटनाओं की असारता (असत्यता) को दिखलाती है तथा उसके मूल में कार्य कर रहे नियमों अथवा शाश्वत अपरिवर्तनशील सत्यों की

खोज के लिए प्रेरित करती है। गांधी कहते हैं कि "मेरे चारों ओर सब कुछ बदल रहा है, मर रहा है, तब भी इन सब परिवर्तनों के नीचे एक जीवित शक्ति है, जो कभी नहीं बदलती।"[५] पर उस अपरिवर्तनशील सत्य को इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि "मैं इन्द्रियों से जिनको अनुभव करता हूं उन में से कोई वस्तु टिकी नहीं रह सकती, नहीं रहेगी।"[६] अतः ये सत्य नहीं हो सकते क्योंकि "जो सत् है उसका नाश कभी नहीं हो सकता"।[७] "सत्य का अर्थ है-- जो (वस्तु) शाश्वत है वह"[८] "इसीलिए अनासक्ति का मार्ग ढूंढा गया है। अनासक्ति अर्थात् इन्द्रियों से परे जाना। यह तो उनमें रहनेवाली आसक्ति को छोड़ने से ही हो सकता है।"[९]

वस्तुतः हम हर बौद्धिक वैज्ञानिक खोज में क्षणिक विशिष्ट परिवर्तनशील घटना की व्याख्या उसमें अंतर्निहित नियम के आधार पर करते हैं। ये नियम हालांकि विशिष्ट वस्तुओं के विशिष्ट सामयिक व्यवहार की व्याख्या करते हैं, पर ये नियम शाश्वत एवं सार्वभौम होते हैं यानी उस वर्ग के सभी वस्तुओं पर सभी समयों में (जब कभी समान अवस्था उत्पन्न हो) लागू पड़ते हैं। इस प्रकार हमारी तमाम बौद्धिक वैज्ञानिक खोज भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक नियम की खोज है जो मूल्यात्मक दृष्टि से ऐन्द्रिय सत्यों यानी क्षणिक परिवर्तनशील घटनाओं से परे शाश्वत एवं सार्वभौम सत्यों (मूल्यों) की खोज है। ये नियम हमारी ऐन्द्रिक इच्छाओं के परे यानी वस्तुनिष्ठ होते हैं। हमारी ऐन्द्रिक लालसाएँ इन वस्तुनिष्ठ नियमों की खोज में बहुधा बाधा डालती हैं और हमें सत्य को इच्छाजन्य विश्वासों अंध-विश्वासों अथवा क्षणिक ऐन्द्रिक सुख देनेवाली अस्थायी वस्तुओं के रूप में देखने के लिए बाध्य करती हैं। लेकिन हमारी बौद्धिक आध्यात्मिक प्रगति हममें व्यक्तिनिष्ठता से ऊपर उठकर व्यापक शाश्वत एवं वस्तुनिष्ठ सत्यों (नियमों) की खोज की अभीप्सा एवं प्रेरणा जगाती है। गांधी भौतिक वादियों के विरुद्ध मानते हैं कि सत्य शुद्ध सत्तात्मक नहीं, बल्कि मूल्यात्मक है, वरना क्षणिक आनुभविक घटनाओं के मूल में शाश्वत अनुभवातीत वैज्ञानिक नियमों को सत्य मानना एवं उनकी खोज करना कोई माने नहीं रखता और न ही ऐसा सत्य हमारे जीवन में मूल्यवान् हो सकता। गांधी कहते हैं कि 'भौतिक घटनाओं का अध्यात्म के साथ संबंध होता है।"[१०] उसी प्रकार सत्य की भौतिक, वैज्ञानिक खोज नैतिक रूप से ऐन्द्रिक विषयासक्ति से ऊपर उठकर, गांधी की भाषा में, "अनासक्ति का मार्ग है"। सत्य की खोज एक नैतिक अनुशासन भी है। गांधी कहते हैं कि "प्राकृतिक विधान और मनुष्य के आचरण में जो संबंध है— उसमें मेरी कुछ ऐसी श्रद्धा है कि मैं उसके सहारे अपने प्रभु के अधिक समीप पहुँच सकता हूं।"[११]

एक वैज्ञानिक की तरह गांधी भी मानते हैं कि संसार नियमों के द्वारा संचालित होता है। हालांकि संसार की भिन्न-भिन्न घटनाएँ भिन्न-भिन्न नियमों के द्वारा संचालित हैं, फिर भी छोटे वर्ग की घटनाएँ अपने बड़े वर्ग की घटनाओं के द्वारा व्याख्यायित होती हैं, उपजातियों पर लागू पड़नेवाले भिन्न-भिन्न नियम जाति के नियम में समाहित होते हैं और इस प्रकार वैज्ञानिक एक मूल सत्ता की खोज करता है जिसके नियम के द्वारा संसार की सभी घटनाओं (नियमों) की व्याख्या संभव है। वेद इस नियम को नैतिक नियम मानता है जिससे संपूर्ण ब्रह्मांड संचालित होता है और इसे ऋत अथवा धर्म की संज्ञा देता है। गांधी भी इस नियम को नैतिक नियम मानते हैं और इसे ही सत्य, ईश्वर अथवा परमात्मा कहते हैं। गांधी कहते हैं कि "शुद्ध न्याय का अर्थ शुद्ध नीति और शुद्ध निर्णय हो सकता है...न्याय एवं निष्काम कर्मयोग दोनों साधन हैं। न्याय बुद्धि का नियम है, निष्काम कर्मयोग हृदय का है।"[१२] अनुभवनिरपेक्ष (इन्द्रिय), शुद्ध न्याय द्वारा प्राप्त सत्य अथवा परम नियम अथवा परमात्मा, जिससे संपूर्ण ब्रह्मांड संचालित होता है, को समझना ही हमारा बौद्धिक आदर्श है तथा ऐन्द्रिक वासनाओं से ऊपर उठकर चेतन रूप से इसी निरपेक्ष आदेश के द्वारा संचालित होना हमारा नैतिक आदर्श भी। इस अर्थ में गांधी सत्य को बौद्धिक मानते हैं और कहते हैं– "ईश्वर विवेक-शक्ति है।"[१३] हालांकि बौद्धिक और नैतिक प्रक्रियाएँ अभिन्न हैं और साथ-साथ चलती हैं, फिर भी गांधी इस, परम सत्य या निरपेक्ष आदेश की खोज अपनी विवेक शक्ति के द्वारा वैज्ञानिक अथवा तत्त्वमीमांसीय पद्धति से करने के बजाय नैतिक पद्धति से करनें पर अधिक बल देते हैं।

गांधी कहते हैं कि "परमेश्वर और प्रकृति एक ही वस्तु है"[१४] पर प्रकृति क्षणिक, ऐन्द्रिक, बेतरतीब, बाहरी वस्तुओं को वे परमात्मा नहीं मानते, बल्कि उन्हें असत् एवं परमात्मा का आभास मात्र मानते हैं। ईश्वर इसका अपरिवर्तनशील स्थायी तत्त्व है, "ईश्वर स्वयं नियम है"।[१५] इस प्रकार मूल सत्ता ईश्वर ऐन्द्रिक अथवा भौतिक नहीं, बल्कि बौद्धिक अथवा चेतन है, और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ हमेशा आनंद है। वहाँ (शाश्वत सत्य के ज्ञान में) विषाद के लिए कोई स्थान नहीं।..." अतः ईश्वर को हम सत्-चित्-आनंद के रूप में जानते हैं।"[१६] ऐसे सत्य को गांधी कहते हैं कि एकाग्रचित्त अभ्यास, और कामरहित अवस्था की साधना अथवा वैराग्य द्वारा ही क्रमशः प्राप्त किया जा सकता है।[१७]

पर हालांकि परम सत्य एवं नियम के रूप में ईश्वर 'तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सही है; किन्तु जैसे युक्लिड की सीधी लकीर या बिन्दु आप नहीं खींच सकते उसी तरह अद्वैत परमतत्त्व है। (अतः) वह ईश्वर में ही बसता है।"[१८] "ऐसा

ईश्वर ईश्वर है ही नहीं जो मात्र बुद्धि को तृप्त करे। ईश्वर को ईश्वर होने के लिए हृदय पर भी शासन करना होगा और उसे परिवर्तित करना होगा"[१९]। व्यवहार में "हम सभी मनुष्य तत्त्वचिंतक नहीं होते।- "हमारा मन धरती में ही रमता है। इसलिए हमें अदृश्य ईश्वर का चिंतन करके संतोष नहीं होता। हम कोई ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसका हम स्पर्श कर सकें, जिसे देख सकें, जिसके आगे घुटने टेक सकें।"[२०] जिससे प्रेरणाएँ ले सकें और अपने हृदय एवं व्यवहार को परिष्कृत कर सकें। "जो ईश्वर का संपर्क चाहते हैं उनके लिए वह व्यक्तित्ववान् ईश्वर है"।[२१] "ईश्वर स्वयं नियम है और नियम बनाने वाला भी"। वह राजाओं का भी राजा है और मनुष्यों को उसके कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करता है। वह प्रेम, दया एवं करुणा की खान है। वह परम सत् एवं परम शुभ है। वह उन सभी उच्च गुणों से युक्त है जिसकी खोज व्यक्ति करता है। सत्तात्मक दृष्टि से "वह सभी प्रकार के परिवर्तनों के मध्य स्थायी परम तत्त्व है। यही सृष्टि का आधार स्रष्टा, संहारकर्ता एवं पुनर्निर्माणकर्ता है।"[२२] नैतिक दृष्टि से "ईश्वर नैतिकता एवं निर्भयता है"[२३]। 'वह प्रेम है"[२४]। "ईश्वर परोपकारी है"[२५]। धार्मिक दृष्टि से "ईश्वर उपास्य है एवं उसकी हम प्रार्थना करते हैं तथा कृपा की अपेक्षा रखते हैं।"[२६] हालांकि गांधी यह बार-बार आगाह करते रहते हैं कि हमें इन प्रतीकों, कल्पनाओं, मूर्तियों को ही सत्ता नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि इसीसे धार्मिक रूढ़िवादिता एवं कट्टरता फैलती है। हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि सत्ता इनके द्वारा अभिव्यक्त होते हुए भी इनसे परे हैं।

गांधी फिर इस बात पर भी जोर देते हैं कि हालांकि अद्वय-ब्रह्म, अथवा सच्चिदानन्द अथवा ईश्वरवादी ईश्वर की अवधारणा सत्ता की हमारी बौद्धिक खोज का आदर्श नमूना है फिर भी सत्ता की खोज को यहाँ पर समाप्त नहीं मानना चाहिए। जिस एकात्मक पूर्ण सत्ता अथवा निगम की खोज बुद्धि करना चाहती है उसे जानने में वह अक्षम है क्योंकि बुद्धि स्वभावतः सत्-असत्, जड़ (ज्ञेय)- चेतन (ज्ञाता), भक्त-भगवान्, आदि के द्वैत पर आधारित है। हर बौद्धिक सगुणीकरण सत्ता के वास्तविक स्वरूप का निषेध है। इसीलिए गांधी कहते हैं कि "वेदों ने उसका परिचय 'नेति' के विशेषण से दिया है"।[२७] अतः सत्ता वह है जिसे बुद्धि जानना चाहती है पर जान नहीं पाती। उसे जानने के लिए हमें बुद्धि के परे जाना होगा, और पूर्ण एकात्मक ज्ञान को विकसित करना होगा जिसे अन्तरनुभूति कहते हैं। यह बौद्धिक ज्ञान की परिपूर्णता है। "अंतरअनुभूति सत्य का स्पष्ट दर्शन है।"[२८] चूंकि अद्वय अवस्था होने के कारण

इसमें जानने और होने में कोई भेद नहीं है, अतः यह मोक्ष भी है। अंतरअनुभूति की हमारी लालसा एवं खोज ही इसकी वास्तविकता का निश्चित प्रमाण है। इस प्रकार गांधी दर्शन में सत्य बौद्धिक नहीं बल्कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म है जो बौद्धिक नहीं बल्कि अंतरअनुभूत्यात्मक है।

साथ ही साथ ऐसी सत्ता नैतिक-धार्मिक दृष्टि से असंतोषजनक है। एकात्मक, अव्याख्येय, अतिबौद्धिक सत्ता अनेकात्मक, परिवर्तनशील बौद्धिक जगत् की परिकल्पना करती है जिसमें सत्ता की खोज की जाय। गांधी मानते हैं कि सत्ता अपने को बौद्धिक ऐन्द्रिक जगत् में अभिव्यक्त करती है और इसे अपने नियम के अनुसार निर्धारित करती है। और यह विश्व भी इस हद तक सत्य है जिस हद तक यह परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। फिर हालाँकि परम् सत्ता अतिबौद्धिक एवं अव्याख्येय है, फिर भी जगत् के स्तर पर यह नियम, सामंजस्य और मूल्यों के रूप में अपने को व्यक्त करता है। गांधी कहते हैं कि "सृष्टि में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इसलिए सृष्टि असत्-अस्तित्वरहित कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है जिसे स्वरूप कह सकते हैं। उस रूप से वह है। उसे भी हमलोग देख सकते हैं। इसलिए वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहें तो भी कुछ आपत्ति नहीं।"[२९] हमारी नैतिक-धार्मिक प्रगति असत् से सत् की ओर ऐन्द्रिक-बौद्धिक अवस्था का क्रमशः अतिक्रमण करते हुए बुद्ध्यतीत अवस्था की ओर है और यही विश्व-विकास की दिशा भी है।

गांधी दर्शन में सत्ता की खोज वस्तुगत एवं आत्मगत, जगत् एवं आत्मा--दोनों ही धरातलों पर हुई है। फ्रायड का मनोविश्लेषण कहता है कि हमारे व्यक्तित्व में दो प्रकार की विरोधी शक्तियाँ कार्यरत हैं–(१) इद– यानी हमारी ऐन्द्रिक सुख की लालसाएँ, और (२) दूसरी सुपर-ईगो यानी हमारी नैतिक सामाजिक चेतना जो हमें निजी सुख से ऊपर उठाकर नैतिक सिद्धान्तों एवं भावनाओं के अनुकूल कार्य करने को प्रेरित करती है। ईगो इन दोनों को ध्यान में रखते हुए अपना निर्णय लेता है और हमें कार्य के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार गांधी भी मानते हैं कि हमारे अन्दर ऐन्द्रिक लालसाओं एवं नैतिक विवेक शक्ति के बीच युद्ध चलता ही रहता है। वे कहते हैं कि हमारे "हृदय में देवासुर-संग्राम चलता ही रहता है। कब हमें असुर भरमाता है और कब हमें देव रास्ता बतलाता है, यह हम नहीं जान सकते।"[३०] हम बहुधा अपनी ऐन्द्रिक शक्ति के प्रभाव में आकर अपने निजी स्वार्थ के स्वरूप काम कर बैठते हैं। पर हमारे अन्दर एक विवेक-शक्ति भी है जो हमारे ऐसे कर्मों को निम्न अनैतिक घोषित करती है, और हमें फलेच्छा से ऊपर उठकर नैतिक नियम के अनुरूप कर्म

करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस नैतिक नियम के अनुरूप कर्म करने पर हमें एक अद्भुत संतोष एवं तृप्ति की प्राप्ति होती है।

इसी नैतिक चेतना में इस बात का संकेत निहित है कि हम वस्तुतः क्या हैं। हम इन्द्रिय अथवा शरीर नहीं हो सकते क्योंकि हमारी नैतिक-अन्तरात्मा व्यक्तिगत ऐन्द्रिक सुख पर आधारित संकल्प को नीचा ठहराती है। थोड़ी देर के लिए हम भले ही स्वार्थ के उद्वेग में नैतिक चेतना को दबाने में समर्थ हो जायें, लेकिन अवसर मिलने पर जब हम अपने कर्मों पर शान्तिपूर्वक विचार करते हैं, तो "हम अपने कर्मों की अनैतिकता को देखने से बाज नहीं आ सकते"[३१] जो हमारे अन्दर एक नैतिक अन्तरात्मा का संकेत देती है, जो हम वस्तुतः हैं पर जिसे बहुधा हमारी शारीरिक ऐन्द्रिक वासनाएं हमसे ओझल किये रहती हैं। 'जीवन का ध्येय बेशक खुद अपने को–आत्मा को– पहचानना है।"[३२]

जब हम अपने या किसी और के संकल्प पर नैतिक निर्णय देते हैं तो नैतिक मूल्यांकन हम अपने या किसी दूसरे की इच्छा या भले को मद्देनजर रखकर नहीं करते, ("नैतिकता और सहानुभूति में भेद है"),[३३] बल्कि वस्तुतः "हम एक पृथक् वस्तुनिष्ठ मापदंड को अपनाते हैं"[३४] हम एक शाश्वत एवं सार्वभौम नैतिक नियम की खोज करते हैं, जो बिल्कुल वैज्ञानिक नियम की तरह होता है और उसी के आधार पर कर्म का नैतिक निर्णय करते हैं।[३५] इससे साबित होता है कि हम मूलतः परिवर्तनशील शरीर विशेष से भिन्न शाश्वत सार्वभौम अद्वय आत्मा हैं। "हमारे शरीर भिन्न-भिन्न हैं तो क्या हुआ? आत्मा तो हमारे अन्दर एक ही है।"[३६] आत्मा एक है और शरीरमात्र में उसका निवास है।"[३७] इस अर्थ में आत्मा ईश्वर अथवा परम सत्य से अभिन्न है। गांधी कहते हैं "आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है सत्य से साक्षात्कार।"[३८]

पर जैसा कि हमनें पहले भी देखा कि जिस आत्मा अथवा परम सत्ता की उपलब्धि हमारी नैतिक बौद्धिक प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है, उसका ज्ञान बौद्धिक स्तर पर असंभव है। उसका ज्ञान एकात्मक बुद्ध्यतीत चेतना अथवा अंतरअनुभूति द्वारा ही संभव है। ऐसी चेतना के द्वारा "जबतक हम प्राणीमात्र के साथ एकता महसूस करना न सीख लें, तबतक आत्मा को पहचान नहीं सकते।"[३९]

फिर चूंकि इस शुद्धावस्था में "आत्मा बौद्धिक ज्ञान के परे है, अतः यह मानना आवश्यक है कि मानवीय स्वरूप में यह अपने को नैतिक नियम अथवा नैतिक अन्तरात्मा के रूप में अभिव्यक्त करती है। गांधी कहते हैं कि परमात्मा अपने को भिन्न-भिन्न जीवों में अभिव्यक्त करता है। शुद्ध आत्मा हालांकि कोई

प्रवृत्ति नहीं करता पर जीव अज्ञानवश शरीर एवं इन्द्रिय के साथ अपने को एकाकार करने के कारण ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्ता बनता है। वह ऐन्द्रिक लालसाओं के पीछे भी दौड़ता है। पर उसका सत् स्वरूप अपने को नैतिक नियम के रूप में अभिव्यक्त करता है तथा उसे तदनुरूप संकल्प करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार " आत्मा अथवा ईश्वर अन्तरात्मा की आवाज है। "[४०] गांधी कहते हैं कि " अहंकार पर दो प्रकार के बल काम करते हैं—सत् और असत्। जब हम सत् बल के साथ तदाकार हो जाते हैं तब गूढ भाषा में यह कहा जाता है कि ईश्वर हमारे जरिये बोल रहा है। "[४१] ज्यों ज्यों हम यम-नियम के पालन के द्वारा विषय वासना से ऊपर उठते जाते हैं और निष्काम हो जाते हैं, त्यों त्यों हम नैतिक नियम को अधिक शुद्धावस्था में जानते हैं और अन्तरात्मा की आवाज स्पष्ट होती जाती है। गांधी कहते हैं कि " जिस प्रकार आवश्यक शिक्षण प्राप्त किये बिना व्यक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे ज्यामिती का ज्ञान है, उसी प्रकार जबतक किसी ने आवश्यक यम-नियमों का पालन नहीं किया तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके पास अन्तःकरण है। "[४२] अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुरूप अपने संकल्प को अनुशासित करते हुए ऐन्द्रिक प्रभावों से अन्तःकरण की शुद्धि करते जाना और अन्ततः विशुद्ध अन्तरात्मा अथवा परम सत्य को उपलब्ध करना ही मानव-नैतिकता का धर्म है।

गांधी दर्शन में " असत् खंडित व्यक्तित्व की निशानी है जबकि सत व्यक्तित्व का संगठन है। "[४३] गांधी कहते है कि मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन ही सत्य है जबकि " सोचना एक चीज, बोलना दूसरा एवं करना तीसरा झूठ (असत्य) है। "[४४] यदि गलत निर्णय के कारण हमें कोई गलत बात ही सत्य मालूम पड़े तो भी हमारा यह नैतिक दायित्व होता है कि हम पूरी शक्ति से उसपर अमल करें। वे कहते हैं कि सुभाष बोस गलत हैं, लेकिन " जबतक वे समझते हैं कि उनका कार्य सही है, उन्हें उसे करने का पूरा अधिकार है और ऐसा करना उनका नैतिक कर्तव्य भी। "[४५] गांधी दर्शन में सत्य वह नहीं है जो सिर्फ बुद्धि को संतुष्ट करे बल्कि इसे हमारे हृदय को भी संतुष्ट करना होता है तथा संकल्प पर भी शासन करना होता है। सत्य के प्रति गांधी का दृष्टिकोण सर्वांगपूर्ण, समन्वयात्मक एवं सामंजस्यपूर्ण है। जीवन एवं जगत् का कोई पहलू इसके बाहर नहीं है।

इस प्रकार सत्य की कसौटी के रूप में गांधी अनुभव अथवा सादृश्य (कॉरस्पॉण्डन्स), बुद्धि अथवा संगति (कोहिरन्स) तथा उपयोगिता अथवा

मानवीय मूल्यों की संतुष्टि (प्रैग्मैटिक थ्योरी) -तीनों को स्थान देते हैं। पर अनुभव से उनका अभिप्राय मात्र ऐन्द्रिक अनुभव नहीं, बल्कि अन्य प्रकार के उच्चतर अनुभव भी हैं। उसी प्रकार तार्किक क्षेत्र में सत्य की कसौटी महज आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के बीच व्याख्यातरहितता को पाना नहीं हैं। क्योंकि ज्यों ज्यों हम सत्य के साथ प्रयोग करने में अपनी अनुभूति का संवर्धन करतें जाते हैं, नये नये प्रकार के सत्य हमारे जीवन में आते हैं, जो परस्पर विरोधी भी हों सकते हैं। गांधी कहते हैं कि बौद्धिक क्षेत्र में "हमारा उद्देश्य मेरे पुराने कथनों के साथ संगत होना नहीं बल्कि खास समय में सत्य का हमें जो अनुभव हो रहा उसके साथ संगत होना है।"[४६] उसी प्रकार उपयोगितावादी क्षेत्र में गांधी कहते हैं कि "सही कर्म ही सब कुछ का प्रमाण है।[४७] "सिद्धान्त व्यवहार के द्वारा प्रमाणित होता हैं। यह व्यर्थ है अगर यह काम न करे।"[४८] पर काम तो स्वार्थमूलक कर्म और परार्थमूलक कर्म—दोनों ही करता है, परंतु वस्तुतः दोनों को समान रूप से सत्य नहीं कह सकते। जो कर्म हमारे उच्चतर मूल्यों को संतुष्ट करता है, उसे उस कर्म से ज्यादा सत्य कहेंगे जो निम्नतर मूल्यों को संतुष्ट करता है। इस प्रकार गांधी का सत्य व्यक्तित्व के हर पहलू—आनुभविक, बौद्धिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक, की संतुष्टि, समन्वय एवं सामंजस्य पर जोर देता है। गांधी कहते हैं कि -मनुष्य मात्र एक बौद्धिक प्राणी नहीं है, न महज एक भौतिक शरीर है, न सिर्फ एक भावनात्मक प्राणी है। बल्कि एक सम्पूर्ण आदमी को बनाने के लिए तीनों का सामंजस्यपूर्ण संगठन आवश्यक है।"[४९]

फिर चूंकि गांधी की मानवीय व्यक्तित्व एवं शुभ की अवधारणा "इस तत्त्वमीमांसीय मान्यता पर आधारित है कि मानव का सार-स्वभाव मूलतः सबों के साथ एक एवं अभिन्न है"[५०], अतः उनका सत्य व्यक्तित्व का संगठन केवल व्यक्तिगत लच पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक एवं सामूहिक तल पर भी करता है। क्योंकि सत्य, जो नैतिक अन्तरात्मा अथवा नैतिक नियम है, के बल पर अपने और पराये, स्वार्थ और परार्थ का भेद मिट जाता हैं। जबतक हमारा मन ऐन्द्रिक लालसाओं के पीछे भागता है, हमारे अन्दर भिन्न-भिन्न इच्छाओं में एव सामाजिक नैतिक चेतना में द्वन्द्व होता रहता है; साथ ही बाहर समाज एवं बाह्य परिणामों के साथ भी हमारा संघर्ष होता रहता है, जिसमें हमारा व्यक्तित्व खंडित होता है। पर जब हमारा मत आत्मा में स्थित हो जाता है और हम

स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं, तो हमारी इच्छाएँ एवं संकल्प वस्तुनिष्ठ नैतिक नियमों द्वारा संचालित होती हैं जहाँ किसी भी प्रकार का भेद एवं संघर्ष नहीं है।

—राजेश कुमार सिंह

ग्राम पो.–खैरा
वाया–रजौन, जिला–भागलपुर (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. "हिन्दु धर्म" : ले. महात्मा गांधी: नवजीवन, अहमदाबाद, १९९०, पृ. १२

२. पोलिटिक्ल फिलॉसॉफी ऑफ महात्मा गांधी ऐण्ड सर्वोदय: डा. व्ही. पी. शर्मा, में उद्धृत, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल ऐज्युकेशनल पब्लिशर्स, आगरा, १९६५, पृ. ४६।

३. गांधी, एम. के. : "नॉट क्वाईट सो बॅड" हरिजन, जुलाई २८, १९४०।

४. गांधीजी : नवजीवन, १७.६.१९२६।

५. नीती:धर्म:दर्शन: गांधीजी, सं. श्री रामनाथ सुमन, पृ. ८२५।

६. वही।

७. नवजीवन: ३०-७-१९३५।

८. महादेव भाई की डायरी: ८-४-१९३२, भाग-१, पृ. ८२।

९. वर्धा, ४-१२-१९३४: बापू के पत्र कु. प्रेमा बहन कंठक के नाम, नवजीवन प्रकाशन मंडल, पृ. २६०।

१०. हरिजन सेवक: २०-४-१९३४।

११. वही. २३-२-१९३४।

१२. १२-५-१९३२-महादेव भाई की डायरी, भाग-१ पृ. १४८।

१३. नीति:धर्म:दर्शन: गांधीजी : सं. रामनाथ सुमन, पृ. ८०६।

१४. वही, पृ. १७७।

१५. वही, पृ. ८२१।

१३. दि सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी: सं, श्रीमन्नारायण, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, १९६८. जिल्द-४, पृ. २१३।

१७. वही, पृ. २१४।

१८. १०-१-१०३३, महादेव भाई की डायरी, भाग-३, पृ. ४०।

१९. दि सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, सं. एन. बोस, पृ. ८।

२०. हरिजन सेवक, ३०-१-१९३६।

२१. यंग इडिया, ५-३-१९३५, पृ. ८१।

२२. दि सुप्रीम पॉवरः एम्. के गांधी, सं. ए. टी. हिंगोरानी, भारतीय विद्या भवन, गम्बई, पृ. ६, १९६३।

२३. “ट्रू इज गॉड” महात्मा गांधी, सं. आर. के प्रभु, नवजीवन, १९५६ पृ. १०।

२४. वही।

२५. यंग इंडिया, ३०-४-१९२५, पृ. १५५।

२६. हरिजन, ८-६-३५, पृ. १३२।

२७. नीतिःधर्मःदर्शनः गांधीजी, सं. रामनाथ सुमन, पृ. ८४७।

२८ वही, पृ. १८९।

२९. नवजीवन, २१-१-१९२६।

३०. धर्मःनीतिःदर्शनः सं. रामनाथ सुमन‘ पृ. २६।

३१. सिलेक्टेट वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, जिल्द-४, नवजीवन, १०६८, पृ. १६।

३२. २२-६-१९३२ –महादेव भाई की डायरी, भाग-१, पृ. २३८।

३३ सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन, १९६८, यिल्द-४, पृ. १६।

३४. वही, पृ. १६;

३५- वही, पृ. १७।

३६. नवजीवन, २८-६-१९२४।

३७. वही, २९-६-१९२४।

३८. हरिजन सेवक, १३-१०-१९३३।

३९. ४-८-१९३२ -महादेव भाई की डायरी, भाग-१, पृ. ३५६।

४०. १३-१-१९३३, वही, भाग-३, पृ. ४८।

४१. वही, पृ. ४८-४९।

४२. नीतिःधर्मःदर्शन, गांधीजी, सं. रामनाथ सुमन, पृ. १८९।

४३. दि कोअर ऑफ गांधीज़ फिलॉसॉफी (अन्टुवाहतिनेन), अभिनव पब्लिकेशन' नई दिल्ली, १९७९, पृ. २८ ।

४४. गांधीज़ व्यू ऑफ लाइफ : चंद्रशंकर शुक्ल, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५६, पृ. १-२ ।

४५. महात्मा : लाईफ ऑफ मोहनदास करमचंद गांधी, सं. डी. जी. तेंदुलकर, जिल्द ५, दि टाईम्स ऑफ इंडिया प्रेस, बम्बई, १८५१.५४. पृ. ३७५।

४६. गांधीजी, हरिजन, ३०-९-१९३९, पृ. २८८ ।

४७. दि कोअर ऑफ गांधीज़ फिलॉसॉफि, अन्टु तहतिनेन, पृ. २७ ।

४८. सत्याग्रह: इट्स टेक्निक अॅण्ड हिस्ट्री, हिन्द किताब, बम्बई, १९४६, पृ. ३२ ।

४९. दि इंडिया ऑफ माय ड्रीम्स, एम्. के. गांधी, सं. आर. के प्रभु, हिन्दी किताब, बम्बई, १९४९. पृ. ७६ ।

५०. टोवर्डस् लास्टिंग पीस, एम्. के. गांधी, सं. ए. टी. हिंगोरानी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई' १९५८, पृ. ४५ ।

क्या दयानन्द नास्तिक थे ?

" चार्वाक भी गालीराट् एवं धूर्त्तराट् था और दयानंद भी । दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं । "

यह उदगार हैं मेरठ कॉलेज के एक प्राध्यापक के । दर्शन शास्त्र विभाग के डॉ० राजेन्द्र कुमार गर्ग की पुस्तक गीतास्वरूप निर्णय (पुनीत प्रकाशन, मेरठ) के पृष्ठ ११५ पर यह उद्गार देखने को मिलते हैं । इन उद्गारों का आशय है कि चार्वाक की भाँति ही दयानंद नास्तिक हैं ।

आश्चर्य है, दयानंद–सरीखे व्यक्तित्व को नास्तिक मानना और उसे चार्वाक के तुल्य बताने से क्या डॉ० गर्ग को की विद्वत्ता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लग जाता ? नास्तिक वह है, जो "अस्तित्व " में विश्वास नहीं करता – नास्तिदिष्ट मति : । (पाणिनीसूत्र, ४. ४. ६०) यहाँ अस्तित्व का तात्पर्य ऐसी सत्ताओं से है जिनका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता । आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग नरक, मोक्ष इत्यादि पारलौकिक सत्ताओं का इन्द्रिय प्रत्यक्ष कदापि संभव नहीं । अतएव नास्तिक पारलौकिक सत्ताओं में अनास्थावान् व्यक्ति को कहा जाता है ।

चार्वाक ने ईश्वरादि पारलौकिक सत्ताओं का खंडन किया है । इन सत्ताओं में उसकी अनास्था सर्वविदित है । किन्तु दयानंद ने इन पारलौकिक सत्ताओं में अपना विश्वास प्रकट किया है ।

मनु ने नास्तिक का अर्थ " वेदनिन्दक " से लिया है । (मनुस्मृति, २. ११.) चार्वाक वेद की निन्दा करते हैं, जबकि दयानंद वेद के प्रशंसक हैं । चार्वाक वेद को पाखंडियों, धूर्त्तों, निशाचरों और भाँडों की रचना मानता है । किन्तु दयानंद उसे आर्ष ग्रंथ के रूप में स्वीकारते हैं । उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, और चार्वाक के लिए वे पौरुषेय हैं ।

नास्तिक के उपर्युक्त दोनों अर्थों में दयानंद को " नास्तिक " नहीं कहा जा सकता । इसलिए दयानंद और चार्वाक को " एक ही थैली के चट्टे- बट्टे " कहने

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

का दुस्साहस अनुचित है। यह ठीक है कि चार्वाक और दयानंद दोनों ने हिन्दुधर्म की बुराईयों पर कठोर प्रहार किया है। मूर्तिपूजा, बलिप्रथा, यज्ञादि कर्म (इन सभी कर्मों का सम्मिलित रूप "पुरोहितवाद" कहलाता है।) के विरुद्ध चार्वाक और दयानंद दोनों ने आवाज बुलन्द की।

चार्वाक ने हिन्दू धर्म का खुलकर विरोध किया, और धर्म को व्यर्थ की चीज बतलाया। यही कारण है कि चार्वाक मात्र दो पुरुषार्थों– अर्थ और काम–को स्वीकारता है। दयानंद हिन्दूधर्म के कट्टर समर्थक हैं, इसलिए वे धर्म का खुलकर विरोध नहीं कर सकते। उनके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ अनिवार्य हैं।

हिन्दूधर्म का कट्टर समर्थक होते हुए भी दयानंद धर्म के "बाह्याडम्बरों" को मान्यता नहीं देते हैं। उनके अनुसार ईश्वर मात्र एक है, जो निराकार और स्वयंभू है। वह सर्वशक्तिशाली है, और विश्व का नियंता है। वह पूर्ण है। समस्त विश्व उसके वश में है– 'विश्वस्य भिषतो वशी' विश्व–रचना के लिए उसे किसी अन्य उपादान की आवश्यकता नहीं पडती।

ईश्वर सर्वव्यापक है। इसलिए वह "विष्णु" कहलाता है। वह कल्याण-स्वरूप है। इसलिए उसे "शिव" कहते हैं। वह "ब्रह्मा" है, क्योंकि सृष्टि की रचना करता है। विष्णु, शिव, आदि कोई व्यक्तित्ववान् देवता (ईश्वर) नही हैं। वे एक ही व्यक्तित्वशून्य ईश्वर के विभिन्न कार्यरूप हैं।

चार्वाक ईश्वर के अस्तित्व को मानने से इंकार करता है। इसलिए उसके संदर्भ में न तो साकार और न ही निराकार ईश्वर का प्रश्न है, और न ही व्यक्तित्ववान् तथा व्यक्तित्वशून्य ईश्वर का। दयानंद निराकार और व्यक्तित्वशून्य ईश्वर को नहीं छोड पाते हैं।

दयानंद की मान्यता है कि वेद में साकार और व्यक्तित्ववान् ईश्वर का उल्लेख नहीं है, और यदि है तो वह "प्रक्षिप्तांश" है। दयानंद की यह मान्यता निश्चय ही स्वीकार्य नहीं हो सकती। वेद में साकार और निराकार, व्यक्तित्ववान् और व्यक्तित्वशून्य ईश्वर का उल्लेख बहुतायत से मिलता है। साकार और व्यक्तित्ववान ईश्वर का उल्लेख प्राक्षिप्तांश है, तो इसका प्रमाण क्या है? कौनसी कसौटी के आधार पर इसे प्रक्षिप्तांश कहा जाय?

मानव-सभ्यता के प्रारंभ में और उसके पूर्व भारतीय मानस इतना विकसित नहीं हो पाया था कि वह अपने से भिन्न एक निराकार व्यक्तित्वशून्य ईश्वर

की कल्पना कर पाता। प्रारंभिक स्तर पर उसे साकार व्यक्तित्ववान् ईश्वर की ही कल्पना करनी थी। इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा आदि देवताएँ ईश्वर की प्रथमावस्था के रूप हैं। इन देवताओं से सन्तानोत्पत्ति, आयुवृद्धि, धन-सम्पदा, प्राकृतिक प्रकोप से रक्षा आदि निजी कल्याण की माँग की जाती थी। मंगलदेव शास्त्री के अनुसार साधारण से साधारण लौकिक पदार्थ से लेकर मनःकल्पित स्वर्ग प्राप्ति तक के लक्ष्यों को सामने रखकर ही मनुष्य कामनाप्रधान वैदिक यज्ञों में प्रवृत्त होता था। (भारतीय संस्कृति का विकास, पृ०–७,

वैदिक यज्ञ के दो रूप हैं – विशुद्ध प्रार्थना तथा तामझामसहित धार्मिक (बाह्य) कर्म। वेद के संहिता भाग में "विशुद्ध प्रार्थना" ही है। यह भाग वेद का प्राचीनतम और मौलिक अंश है। वेद का ब्राह्मण भाग "धार्मिक कर्म" (बाह्याडम्बर) पर बल देता है। किन्तु वेद का अंतिम भाग अर्थात् उपनिषद् में धार्मिक बाह्याडम्बर का अभाव है, साथ ही विशुद्ध प्रार्थना का रूप भी बदल गया है। उपनिषद् में "ज्ञान तत्त्व" पर बल दिया गया है। इसलिए उपनिषद् में साकार ईश्वर नहीं वरन् निराकार ईश्वर का चित्रण हुआ है। उपनिषद् व्यक्तित्वशून्य और निराकार ईश्वर को ही एक मात्र सत्य सत्ता स्वीकार करता है।

दयानंद वैदिक यज्ञ के "विशुद्ध प्रार्थना" वाला रूप तथा उपनिषद् के निराकार-व्यक्तित्वशून्य ईश्वर को मान्यता देते हैं। पर "धार्मिक बाह्याडम्बर" वाले वैदिक यज्ञ को अस्वीकार करते हैं। चार्वाक इन तीनों तत्त्वों को अस्वीकारता है।

प्रार्थना के लिए साकार व व्यक्तित्ववान् ईश्वर की अपेक्षा होती है। प्रार्थना के लिए एक प्रत्यक्ष विषय चाहिए। प्रार्थना ध्यान की अवस्था ही है। ध्यान मन की चंचलवृत्ति को स्थिर करने का नाम है। चंचलवृत्ति की स्थिरता तभी संभव है जब कोई प्रत्यक्ष विषय सामने हो। साकार व व्यक्तित्ववान् ईश्वर ही प्रत्यक्ष विषय हो सकता है, और इसलिए उसका मानवीकरण किया गया है। "ईश्वर का मानवीकरण" आगे चल कर मूर्तिपरम्परा में परिणत हो गया। ब्राह्मणकाल मूर्ति-परम्परा का प्रवर्तक-काल माना जाता है। मूर्ति-परम्परा की शुरुआत होते ही धर्म के क्षेत्र में कई बुराईयाँ प्रवेश कर गयीं। इन बुराईयों को हटाने के लिए उपनिषदों ने ब्रह्म- निराकार, व्यक्तित्वशून्य ईश्वर की कल्पना की। अतएव साकार व्यक्तित्ववान् ईश्वर निराकार व्यक्तित्वशून्य ईश्वर की अपेक्षा पहले आता है। दूसरे शब्दों में, साकार- व्यक्तित्ववान् ईश्वर पूर्ववर्ती है और निराकार- व्यक्तित्वशून्य ईश्वर अनुवर्ती है।

दयानंद की भूल यह है कि उन्होंने पूर्ववर्ती ईश्वर को मान्यता नहीं देकर वेद को प्रामाणिक ग्रंथ माना है। यदि वेद प्रामाणिक ग्रंथ हैं, तो पूर्ववर्ती ईश्वर

के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। चार्वाक के संदर्भ में यह विरोधात्मक प्रसंग ही नहीं आता, क्योंकि उसने स्वयं वेद की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है।

चार्वाक धर्म निरपेक्षता, जाति विहीनता और सम्प्रदायविहीनता का प्रचारक रहा है। चार्वाक की दृष्टि में धर्म का अस्तित्व नहीं है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति समान है। वह किसी धार्मिक सम्प्रदाय का रहस्य नहीं हो सकता, और न ही उसकी कोई जाति हो सकती है। दयानंद को भी धर्मनिरपेक्ष, जातिविहीन और सम्प्रदायविहीन व्यक्तित्व की संज्ञा दी जाती है। किन्तु दयानंद द्वारा स्थापित "आर्यसमाज" का वास्तविक स्वरूप साम्प्रदायिक और धार्मिक है। आर्यसमाज का मुख्य कार्य "ईसाई बने हिन्दुओं को पुनः हिन्दू" बनाना है। वैदिक यज्ञ के तामझामी रूप का खंडन करने के बावजूद आर्यसमाज में वैदिक यज्ञ का यह रूप महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर को यज्ञाग्नि में आहुति दिए बिना ईश्वर के प्रति भक्ति या प्रार्थना संपन्न नहीं मानी जाती। 'यज्ञाग्नि में आहुति' धार्मिक आडम्बर मात्र है।

चार्वाक आर्य समाज जैसी किसी संस्था की स्थापना नहीं करता। जहाँ धार्मिक संस्था होती है, वहीं धार्मिक आडम्बर भी है। चार्वाक के लिये इस प्रकार की संस्था बेमानी है। पर दयानंद के लिए इसकी अर्थवत्ता है।

डॉ. गर्ग दयानंद के वेदभाष्य को मिथ्या बताते हैं। (पृ. ११४) उनका कथन है कि दयानंद ने सायणादि आचार्यों के वेदभाष्यों को गलत माना है, और अपने वेदभाष्य को सही माना है। किस भाष्यकार का वेदभाष्य सही है, और किसका गलत– यह प्रश्न ही व्यर्थ है। भाष्यकार की निजी प्रतिभा, तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, और भाष्यकार का देश–काल–इन तत्त्वों पर भाष्य की निर्भरता है। अतएव विभिन्न भाष्यकारों के वेदभाष्य में विभिन्न होना स्वाभाविक है। इस भिन्नता के कारण दयानंद के वेदभाष्य को मिथ्या ग्रंथ कहना अनुचित है। यदि दयानंद का वेदभाष्य मिथ्याग्रंथ है, तो सायणादि आचार्यों का वेदभाष्य भी मिथ्याग्रंथ होना चाहिए। किन्तु डॉ. गर्ग अन्य आचार्यों के वेदभाष्य को मिथ्याग्रंथ नहीं मानते हैं। इसलिए दयानंद के ग्रंथ में भी मिथ्यात्व-दर्शन करना उनके (डॉ. गर्ग) विचार का आत्मव्याघातक स्वरूप ही है।

दयानंद के ग्रंथ में मिथ्यात्व-दर्शन के आधार पर भी उन्हें नास्तिक कहा गया है किन्तु उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि दयानंद को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। चार्वाक ने वेदों पर कोई भाष्य नहीं लिखा है।

चार्वाक का कोई ग्रंथ नहीं है, क्योंकि चार्वाक कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। चार्वाक एक दर्शन प्रणाली का नाम है, जिसके प्रवर्तक लौक्य बृहस्पति हैं। लौक्य बृहस्पति का प्रामाणिक ग्रंथ **बार्हस्पत्यसूत्र** है और यह अलभ्य है। ऐसी हालत में "चार्वाक के ग्रंथ को मिथ्याग्रंथ" कहने का कोई औचित्य नहीं है, जैसा कि उक्त पुस्तक की पृष्ठ संख्या ११५ पर कहा गया है।

लौक्य बृहस्पति निश्चय ही ऋषि थे, ये ऋषि लोक के पुत्र थे। इसलिए इनका विचार "लोकायत" कहलाता है। जिस प्रकार डॉ. गर्ग दयानंद को गाली देते हैं, और उनके अनुयायियों को "दयानन्दी-पोप" कहते हैं, उसी प्रकार लौक्य बृहस्पति को भी उनके विरोधियों ने गालियाँ दीं, और उनके अनुयायियों को "चार्वाक" कहने लगे। वस्तुत: "चार्वाक" शब्द उन लोगों के लिए गाली के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिन्होंने मानव-समाज को आध्यात्मिक वाक्‌जालों तथा धार्मिक बाह्याडम्बरों से मुक्त कराने की कोशिश की है। दयानंद ने भी धार्मिक बाह्याडम्बरों से मानव-समाज को मुक्त कराना चाहा है। इसलिए उन्हें "चार्वाक" कहा जाय, यह अशोभनीय है। दयानंद अपने को आध्यात्मिक वाक्-जाल से बचा नहीं पाते।

चार्वाक दर्शनप्रणाली होने के कारण ऋषि या महर्षि नहीं है। दयानंद एक व्यक्तिविशेष का नाम है। अतएव वह महर्षि हो सकते हैं। और दयानंद को महर्षि कहा भी जाता है। महर्षि मनुष्य के परे का जीव नहीं है पर **गीतास्वरूप निर्णय** के लेखक दयानंद को मनुष्य मानने से भी इंकार करते हैं। (पृ. ११५) (शायद इसलिए लेखक दयानंद को चार्वाक कहने में संकोच नहीं करता है।)

यदि दयानंद मनुष्य नहीं है, तो वह या तो पशु हैं या ईश्वर। दयानंद को पशु मानना डॉ. गर्ग के लिए भी गवारा नहीं होगा।

यदि दयानंद ईश्वर हैं, तो वह स्वयं "वेद का विषय" होगा। किन्तु दयानंद ईश्वर की व्याख्या करते हैं। व्याख्याकार और विषय एक नहीं हो सकते। व्याख्याकार कोई मनुष्य ही हो सकता है। विषय यथार्थ और काल्पनिक, मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं। मनुष्य मात्र यथार्थ और मूर्त होता है। ईश्वर काल्पनिक और अमूर्त सत्ता है। दयानंद को ईश्वर मानने का तात्पर्य है उन्हें अमूर्त और काल्पनिक मानना। एक काल्पनिक व अमूर्त सत्ता के प्रति भी विद्वेष-भावना व्यर्थ है।

विद्वेष या प्रशंसा की भावना एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति ही रख सकता है। अतएव दयानंद भी मनुष्य ही हैं क्योंकि डॉ. गर्ग मनुष्य हैं और उन्होंने दयानंद के व्यक्तित्व का उग्रतापूर्वक छिद्रान्वेषण किया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर दयानंद को चार्वाक के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, अर्थात् उन्हें चार्वाक की भाँति नास्तिक नहीं कहा जा सकता। लेखक आगे चल कर चार्वाक और दयानंद के अन्तर को स्पष्ट करता है, और चार्वाक के प्रति सहानुभूति दिखाता है। किन्तु यह अन्तर सतही है। लेखक के शब्दों में ही इस अंतर का जायका लेना उचित होगा।

"चार्वाकों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व तो एक खुली किताब था, किन्तु दयादन्दियों का व्यक्तित्व और कृतित्व एक बन्द किताब है। उनके व्यक्तित्व में मिथ्याचारिता, द्वैत और पाखंड नहीं था, किन्तु इनमें ये तीनों चीजें नखशिख भरी हैं। उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था, किन्तु इनकी कथनी और करनी में कोई साम्य ही नहीं। वे अन्दर और बाहर एक-जैसे थे, किन्तु ये अन्दर कुछ और बाहर कुछ। यही कारण है कि चार्वाक किसी को भी भरमा नहीं सका और दयानंद भरमाने के सिवाय और कुछ कर नहीं सका।" (पृ. ११४)

न तो चार्वाक न ही दयानन्द ने किसी को भरमाया है क्योंकि दोनों ने अपने-अपने युग की माँग के अनुसार विचार दिये हैं। किन्तु गीतास्वरूप निर्णय के लेखक ही लोगों को भरमा रहे हैं। आज की परिस्थिति में इस प्रकार के विघटनकारी विचार घातक हैं। आज की माँग है- हर क्षेत्र में वैचारिक एकता या समन्वय। चार्वाक के विचार और दयानन्द के विचार को आज त्याज्य नहीं माना जा सकता, वरन् उनके विचारों में समन्वय की आवश्यकता है। कई मायनों में दयानन्द चार्वाक के समान हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि दयानन्द नास्तिक हैं।

-नरेश प्रसाद तिवारी

दर्शन विभाग,
बी. एन्. कॉलेज
पटना, (बिहार)

वेद–संज्ञा और संख्या : एक जिज्ञासा

सत्यापनों ने वाङ्मयों विशेषतः प्राच्य हिन्दू धर्मग्रंथों पर अनेकानेक प्रश्न उपस्थित कर रखे हैं। प्रस्तुत निबंध में श्रीमद् भगवद् गीता के परिप्रेक्ष्य में वेदों की संज्ञा और संख्या से संबोधित प्रश्नों पर विचार किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता "ऋक्सामयजुरेमच"[1] ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद-पद द्वारा तीन वेदों की संज्ञा को निर्देशित करती है। श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह संज्ञाओं का उल्लेख 'गीता महिमा'[2] में किया जाता है। इसमें इसकी पंद्रहवी संज्ञा –'वेदत्रयी' यह स्पष्ट करती है कि– 'श्रीमद्भगवद्गीता उक्त तीन वेदों की संज्ञाओं से संबंधित है।' भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता में चार वेद संज्ञात्मक संख्या के स्थान पर – 'सर्ववेदेषु'[3] 'सर्वेषु वेदेषु'[4] 'वेदानां'[5] जैसे सप्तमी-षष्ठी बहुवचनांत पदों का प्रयोग करके पार्थ-अर्जुन को तीन वेदों की संज्ञा और संख्या का परिचय कराये। उन्होंने अर्जुन को 'धर्म' तथा विद्या के अभिप्राय से भी 'तीन' संख्या को सुस्पष्ट किया है– यथा 'त्रयी धर्मम्',[6] 'त्रयी विद्या'[7]।

प्रश्नोपनिषद् में वेदों की तीन संज्ञा– "ऋचो यजुंषि सामानि यज्ञः क्षत्र ब्रह्म च"[8] ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का उल्लेख है। कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के साथ संयोजित यज्ञानुष्ठाता को अनंत शांति का अधिकारी बतलाये।[9] आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य ने केनोपनिषद् के 'पदभाष्य' में 'मित' नियत अक्षरों से अंत होने वाले– 'यजुर्वेद'– के साथ 'स्वर'-गायन प्रधान 'सामवेद' का उल्लेख किया है।[10] काव्य मीमांसा के लेखक 'राजशेखर' ने 'अथर्ववेद' को ऋक्-साम-यजुर्वेद-वेदत्रय के उद्धरण के रूप में मारण-मोहन, वशीकरण, उच्चाटन विद्या के लिए मानकर इनके समकक्ष का दर्जा नहीं दिया है। "बौद्धों के प्रमाणिक ग्रन्थ अथर्ववेद का उल्लेख नहीं करते, यद्यपि पश्चाद्वर्ती बौद्ध साहित्य अथर्ववेद के स्थान की स्वीकृति देता

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

है। डॉ. राधाकृष्णन् ने उक्त मतों के परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद पर टिप्पणी करते लिखा है कि– "अथर्ववेद बहुत प्रकार के समझौतों का परिणाम है, जिसे वेद की कोटि में स्थान पाने के लिए अनेकानेक संकटों से गुजरना पड़ा"।[१२]

पहले तीनों वेद ऋक्, यजुष् और साम–अपनी संज्ञा, भाषा, विषय एवं आकृति में समानता रखते हैं। ऋग्वेद आर्यों के दिव्य गीतों का संग्रह है। इसमें आर्यों के परवर्ती काल के धार्मिक-कृत्यों एवं दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ चिंतन का यथाविधि आकलन है। यह संबंधी मंत्रों के संग्रह– 'यजुर्वेद' – 'युज्'- यज्ञ करना धातु से निष्पन्न– में कर्मपरक धर्म गद्य और पद्य दोनों में संग्रहित है। ऋग्वेद के कर्मकाण्डी गेयात्मक पदों का संग्रह - 'सामवेद' है। इनके अल[illegible]-मंत्रों की प्रकृति एवं 'अथर्वाङ्गिरस्' अथर्वन्-कल्याणकारी विधियों– 'अंङ्गिरस्'- जादू-टोना विधियों-संज्ञा से 'अथर्ववेद' को मायिक या ऐन्द्रजालिक धर्म का प्रतिपादक माना जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने अथर्ववेद को आर्य–अनार्य संस्कृति की संधि का दिग्दर्शक प्रतिपादित करते लिखा है कि– "ऋग्वेद के बीच यह बहुदेववादी श्रद्धा और मंत्रों से ओतप्रोत आर्य–अनार्य संस्कृति को दिग्दर्शित करता है।[१३] भगवद्गीता तथ्य और कथ्य दोनों में मायिक–विधियों से अलग-अलग है और इसका लक्ष्य 'आत्म–कल्याणार्थ परम श्रेयस् मार्ग का निर्देशन'– का संबंध भी अथर्ववेद से मेल बैठते नहीं दिखता। संभव हो भगवान् श्रीकृष्ण ने अथर्ववेद को इसी से इस ग्रन्थ के कलेवर में स्थान न दिया हो, अथवा अथर्ववेद 'सम्मोह' का आग्रही है और भगवद्गीता 'सम्मोह नाश'[१४] पर विश्रांती लेती है। इससे अंत से भी सम्बन्ध नहीं बैठता। इनसे भगवद्गीता अथर्ववेद को स्थान न देती हो, पर श्रीमद्भगवद्गीता का आधार ग्रंथ 'महाभारत–' में अथर्ववेद को वेदों की श्रेणी में स्थान मिला है।

सम्प्रति प्राच्य और पाश्चात्य मनीषी अथर्ववेद के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति एकमत हैं। आद्य जगदगुरु शंकराचार्य ने भगवद्गीता भाष्य में वेदों की संख्या चार मानते हुए अथर्ववेद के स्वतंत्र और समान अस्तित्व को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि- "चतुर्णाम् अपि वेदानाम्"[१५]–वेद भी चार हैं। परम वैष्णव रामानुजाचार्य ने तो इन चार संख्याओं में 'अथर्ववेद' का स्पष्ट उल्लेख किया है– "वेदानां ऋक्–यजुः सामाथर्वणाम्"–[१६] प्रो. मेक्समूलर ने वेदों का वर्गीकरण करते हुए यजुर्वेद को शुक्ल और कृष्ण–दो संज्ञाओं में रखा है तथा 'अथर्ववेद' को दस हजार श्लोकों का स्वतंत्र वेद उल्लेखित किया है।[१७] हिन्दी भक्ति काल के प्रकाश-स्तम्भ गोस्वामी तुलसीदास ने भी वेदों की संख्या 'चार' स्वीकार की है– "बन्दिऊ चारि वेद–।[१८] लोकमान्य तिलक को वेदों

के संख्या तथा संज्ञा के विवाद में उलझना भाया नहीं, इसलिए उन्होंने संख्या विवेचन के बदले गीता केंद्रित विषय के परिपेक्ष्य में ही वेदीश अवधारणा को ग्रहण किया है।[१९] उक्त मतों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि सभी विद्वान् वेदों की संख्या चार मान कर 'अथर्ववेद' को वेद गिनते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के प्रतिनिधि भाष्यकार शंकर और रामानुज भी चार वेद मानते हैं तथापि भगवद्गीता के – पद से स्पष्ट है यह वेदों की संख्या तीन मानकर–अथर्ववेद को स्थान नहीं देती। राजशेखर प्रभृति विद्वान्– ' 'वेदत्रयी' भगवद्गीता के संज्ञा को, तीन वेदों के अर्थ में ग्रहण करते हैं। सम्प्रति मनीषी इस संख्या और संख्या विवाद का समाधान भगवद्गीता के विषय–प्रतिपादन के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। कल्याण–मासिक–गोरखपुर–(उ. प्र.) के सम्पादक श्री राधेश्याम जी खेमका ने इस समस्या के समाधान में सुझाया है कि "गीता महाभारत का एक स्वल्पांश है विष्णु सहस्त्रनाम की तरह। महाभारत में अथर्ववेद सहित चार वेदों का प्रकरण कई बार आया है .... 'त्रयी' संख्या वेदों के लिए नहीं "अपितु-ज्ञान (विद्या), कर्म एवं तप विषयक विविध मंत्रों वाले आर्ष ग्रंथों के लिए चार वेदों का हेतु है। 'वेदानां,' 'वेदेषु' बहुवचन हैं– उनमें–३ या ४ सभी आते हैं।"[२०]

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व का भाग है। इसके पात्र तथा कथा का संबंध महाभारत से है। महाभारत में चूंकि अथर्ववेद का स्पष्ट उल्लेख है इसलिए भगवद्गीता इससे अलग अवधारणा बनाती है यह मानना न्याय-संगत नहीं है। इसके विपरीत यह ज्ञान, कर्म, भक्ति की त्रिवेणी से जातीय-कर्म-व्यवस्था पर आरूढ़ रहते हुए परम श्रेय को सहज–सुलभ मानती हैं। इस अर्थ में इसका 'त्रयी' पद–संख्या के बदले 'श्रेय मार्ग-दर्शक' है, ऐसा मानना न्याय-संगत है। पर इससे- "ऋक्-सामयजुरेवच" का समाधान नहीं होता। इसलिए 'संज्ञा' के विवाद पर भगवद्गीता - अथर्ववेद को स्थान नहीं देती, यह निष्कर्ष लेना अनुचित नहीं होना चाहिए।

भगवद्गीता के संख्यात्मक तथा संज्ञात्मक विवादास्पद विचारों के साथ-साथ इसके वेदों के प्रति अन्यान्य अवधारणाएं भी विद्वानों, विद्यार्थियों को उलझाती हैं। कुछ स्थलों के आधार पर तो विद्वान् इसे वेद विरोधी सिद्ध करते हैं। ये विद्वान् भगवद्गीता के वेद–संबंधी विचारों को केन्द्र बनाते हैं – भगवद्गीता में आया है कि– "तीनों वेदों के विधान किये हुए सकाम कर्मों के करने वाले स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं और पुण्यक्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार साधन-रूप तीनों वेदों में कहे हुए का आश्रय लेने

वाले बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं"[२१] "सकामी पुरुष वेदवादरत होते हैं।"[२२] इनमें वेद के अनुयायियों को स्वर्गकामी पुनरागमन का अधिकारी तथा परम श्रेयस् के लिए अनधिकारी कहा गया है। जयदयाल जी गोयनका ने उक्त वेद विरोधी अथवा वेदों के निन्दात्मक पदों को अन्यान्य पक्ष में प्रस्तुत करते भगवद्गीता को वेद विरोधी स्वीकार नहीं किया हैं। उन्होंने लिखा है कि-" यद्यपि उपर्युक्त वचनों में वेदों की निन्दा प्रतीत होती है, तब भी ये निन्दा के पद नहीं है। गीता में सकामभाव की अपेक्षा निष्कामभाव को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और भगवान् की प्राप्ति के लिए उसे आवश्यक बतलाया गया है। इसी से उसकी अपेक्षा सकामभाव को नीचा और नाशवान्, विषय-सुख देनेवाला बतलाने के लिए ही उसको जगह-जगह तुच्छ सिद्ध किया है, निषिद्ध कर्मों की भाँति उसकी निन्दा नहीं की है। जहाँ वेदों के फल को लांघ जाने की बात कही गयी है, वहां भी सकाम कर्म को लक्ष्य करके वैसा कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने गीता में वेदों की निन्दा कहीं भी नहीं की है, बल्कि जगह-जगह वेदों की प्रसंशा ही की है।"[२३] जयदयाल जी गोयनका का यह तर्क संगत भी है कि भगवद्गीता वेदों की निन्दा नहीं कर सकती इसलिए कि उत्स की अवमानना करके यह 'अमरबेल' की भाँति नष्टप्राय ही होगी। इसमें प्राणवत्ता है यह इसका प्रमाण है कि यह वेदों का समर्थन करती है।

भगवद्गीता 'वेद' के लिए – 'छंदासि,' स्वाध्याय,' 'ब्रह्मम्,' 'विद्या,' 'धर्मम्' प्रभृति पदों का व्यवहार करती है। इनमें 'छंदासि,' तथा 'स्वाध्याय' पदों को यह नित्य, नैमित्तिक कर्मों के व्यवहार्थ अर्थ में तथा 'ब्रह्मम्' 'विद्या' और 'धर्मम्' पद को व्यवहार्य और परमार्थ अर्थ में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से यह वेदों को जीवन – पथ - दर्शिका ग्रहण करती है। यह लौकिक और पारलौकिक लाभ के लिए वेदों को समर्थ स्वीकार करती है। इस अर्थ में भगवद्गीता को वेदविरोधी स्वीकार करना संगत नहीं। हाँ, सकाम प्रवृत्ति के अर्थ में अल्पफलदायी मानती है। इसे तो प्रायः सभी प्राच्य ग्रंथ स्वीकार करते हैं। इससे- तीन वेदों की भगवद्गीता की अवधारणा का समाधान नहीं होता न ही यथेष्ट उत्तर ही मिलता है। इससे यह निष्कर्ष लेना असंगत नहीं होना चाहिए कि भगवद्गीता ऋक्--साम यजुर्वेद से संबंधित है। अथर्ववेद के कथ्य और तथ्य का प्रयोजन महाभारत के समरांगण में शोक, मोह ग्रस्त अर्जुन के कर्तव्य बोध हेतु भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं हुआ हो। संभव है, इसी से इसमें इसे उल्लेखित नहीं किया हो।

तथापि भगवद्गीता के सभी प्रातिनिधिके भाष्यकार तथा वार्तिककार इसमें 'अथर्ववेद' का उल्लेख करते हैं, इससे खेमका जी का विचार संगत प्रतीत होता है कि–" त्रयी संख्या वेदों के लिए नहीं अपितु ज्ञान-कर्म और तप (भक्ति) विषयक विविध मंत्रों वाले आर्ष ग्रंथों के लिए चार वेदों का हेतु है"।

शोध-छात्र,
चन्द्रशेखरपुर — ४९६६६५
जिला रायगढ़
(म. प्र.)

— गंगाप्रसाद दनसेना

टिप्पणियाँ

१. १/३७-२. भगवद्गीता.

२. गीता गंगा च गायत्री, सीता सत्या सरस्वती, ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्ति मोहनी। अर्द्धमात्रा चिदानंदा भवघ्नी भयनाशिनी 'वेदत्रयी' परानंता तत्त्वार्थ ज्ञानमञ्जरी'।"
'गीता महिमा' – गीता ज्ञान प्रवेशिका
सम्पादक – हनुमानप्रसाद पोद्दार

३. ७/८ भगवद्गीता.

४. २/४६ भगवद्गीता.

५. १०/२२-१ भगवद्गीता.

६. ९/२१ - भगवद्गीता.

७. ९/२० - भगवद्गीता.

८. २/७ प्रश्नोपनिषद्.

९. त्रिणाचिकेतास्त्रिभिरेत्य संधिः।
त्रिकर्मकृत् तरति जन्म मृत्युः।" ११/१७ कठोपनिषद्

१०. मितमितं स्वरः सत्यानृते एष विकारो यस्या तस्या वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या अनभ्युदितं अप्रकाशितमनभ्युक्तम् १/४
शांकर केनोपनिषद् भाष्य

११. दिनकर, रामधारीसिंह – संस्कृति के चार अध्याय पृ. १०२.

१२. राधाकृष्णम् - भारतीय दर्शन, भाग १ - पृष्ठ ११२.

१३. वही - पृष्ठ ११०.

१४. (अ) कच्चिद् ज्ञान संमोह: प्रणष्टस्ते” १७/७२ - भ. गी.
(ब) कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् २/२ भ. गी.
(स) शोकसंविग्न मानस: १/४७ भ. गी.

१५. ११/१८ भगवद्गीता शांकरभाष्य

१६. १६/१२ भ. गी. रामानुजाचार्यभाष्य

१८. १/१४ (ख) - रामचरितमानस

१९. गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र - पृष्ठ, ८०१

२०. श्री राधेश्यामजी खेमका के पत्र का फोटो स्टॅट

२१. त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते । ९/२०-२१ - भगवद्गीता.

२२. वेद वादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: २/४२ भगवद्गीता.

२३. गोयनका, जयदयाल, गीता तत्व विवेचनी पृ. २३

अस्तित्ववाद : एक मूल्यांकन

अस्तित्ववाद क्या नहीं है ?

अस्तित्ववाद मूलत: मानव-अस्तित्व की समस्याओं का दर्शन है। जीवन, मृत्यु व दुःख अस्तित्व की समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ अभी उठाई गयी हों ऐसा यद्यपि नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्राय: सभी भारतीय दर्शन और बौद्धदर्शन विशेष रूप से इन समस्याओं से सम्बद्ध माने जाते हैं। पश्चिम में भी प्राय: प्रारम्भ से ही अस्तित्व की समस्याएँ मानी जाती रही हैं। संत आगस्टाइन एवं पास्कल इसी अर्थ में इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं तथा दोस्तोवस्की जैसे उपन्यासकारों ने भी इन्हीं समस्याओं को लेकर लिखा है किन्तु इनमें से किसी को भी आधुनिक अर्थ में अस्तित्ववादी नहीं कहा जा सकता। अस्तित्ववाद को इस प्रकार इन विचारकों के कार्यों द्वारा आगे बढ़ाना महान् भूल होगी।

सभी दार्शनिक तत्त्व, ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व से किसी न किसी अर्थ में संवंधित रहे हैं किन्तु उन्हें भी अस्तित्ववादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस अर्थ में अस्तित्व इस दर्शन की समस्या नहीं है।

अन्त में किसी दार्शनिक विशेष के सिद्धान्त को भी अस्तित्ववाद नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ किर्केगार्ड या सार्त्र किसी भी अर्थ में अस्तित्ववादी सिद्धान्तों के प्रतिमिधि नहीं हैं वरन् केवल दृष्टिकोण के प्रतिनिधि हैं। इस शताब्दी के चारों अस्तित्ववादियों के सिद्धान्तों में अत्यन्त गहन भेद हैं, तथा उन्हें किसी प्रकार एक नहीं किया जा सकता।

अस्तित्ववाद एक ऐसा दार्शनिक दृष्टिकोण है जो हमारे समय में पहली बार अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में निखर कर आया है। इसके पूर्व के विचारकों को इसे प्रभावित करने वाला अवश्य कहा जा सकता है किन्तु अस्तित्ववादी नहीं कहा जा सकता। पिछली शताब्दी में किर्केगार्ड को ही इसका श्रेय दिया जाता

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

रहा है जबकि प्रभावित करने वाले विचारक अन्य भी हैं। वास्तव में केवल उन्हीं सिद्धान्तों को अस्तित्ववाद का नाम दे सकते हैं जो इन सभी दार्शनिकों में समान रूप से पाये जाते हैं।

अस्तित्ववादी विचारक किर्कगार्ड ने अपनी दार्शनिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास कभी नहीं किया बल्कि उनकी ख्याति मुख्य रूप से हेगेल के आलोचक के रूप में है। उनका विचार है कि हेगेल ने वस्तुनिष्ठता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है और जिस प्रकार हेगेल की मान्यता है उस अर्थ में वाद (thesis) और प्रतिवाद (antithesis) का समझौता कभी नहीं हो सकता। सम्भवत: वे पहले दार्शनिक हैं जिन्होंने यह कहा है कि अस्तित्व मूल स्वभाव या "सार" (essence) से पहले आता है और इस प्रकार अस्तित्ववादी अर्थ में "अस्तित्व" शब्द का प्रयोग करने वाले वे पहले दार्शनिक हैं। उन्हें बौद्धिकता विरोधी भी कहा जा सकता है क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर तक किसी बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता। उनके कथनानुसार "ईसाई-धर्म, जिसके अन्तिम अर्थ की खोज के लिए उनके दर्शन का जन्म हुआ था, अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है क्योंकि उसका बौद्धिक आधार ढूंढ़ना पाप समझा जाता है।" किर्कगार्ड का भय संबंधी (dread) एक विशेष सिद्धान्त है जिसे उन्होंने मनुष्य के अकेलेपन के साथ जोड़ दिया है। अकेलेपन का कारण है एक निरर्थक प्रकार का सम्बन्ध जो ईश्वर तथा मनुष्य के बीच पाया जाता है, जिसके कारण मानव का भाग्य कष्ट के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता।

अस्तित्ववादियों के बीच समान सिद्धान्त–

भिन्न-भिन्न अस्तित्ववादी दर्शनों के बीच सबसे अधिक समान बात है उनका यह विश्वास कि उनके सिद्धान्त का जन्म किसी अस्तित्ववादी अनुभव में होता है। अलग-अलग दार्शनिकों में इस अनुभव का रूप अलग-अलग पाया जाता हैं। उदाहरण के लिए यास्पर्स के अनुसार यह अनुभव है कि अस्तित्व के भुरभुरा होने में तो हाइडेगर मृत्यु की तरफ झुकाव के अनुभव में इस अस्तित्ववादी अनुभव को पाते हैं। सार्त्र अनस्तित्व (nothingness) की सामान्य मन:स्थिति में इस अनुभव को देखते हैं। अस्तित्ववादी इस तथ्य को छिपाते नहीं कि उनके दर्शन का जन्म इसी प्रकार किसी परम व्यक्तिगत अनुभव में होता है इसीलिए हाइडेगर जैसे शुष्क दार्शनिक तक में व्यक्ति की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

सभी अस्तित्ववादी यद्यपि अस्तित्व को अपनी खोज का एकमात्र विषय मानते हैं तथापि अस्तित्व शब्द का अर्थ क्या है? यह निश्चित रूप से कहना कठिन होता है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रत्येक दार्शनिक में अस्तित्व मानव के अस्तित्व का ही एक रूप है। अस्तित्ववान् होना इस दर्शन में मानव की एक अपनी विशेषता मानी जाती है। यह भी कहा जाता है कि अस्तित्व मानव की विशेषता नहीं है बल्कि मानव स्वयं अपना अस्तित्व है। यदि मनुष्य का कोई मूल स्वभाव है तो वही उसका अस्तित्व है या अस्तित्व का अवश्यम्भावी परिणाम।

अस्तित्ववादी दर्शन परिवर्तन का दर्शन है अर्थात् मानव अस्तित्व कोई स्थिर बात नहीं है बल्कि एक सतत सृजनात्मक प्रक्रिया है। प्रत्येक नये क्षण में अस्तित्व न्यूनता और आधिक्य, गुरुता और लघुता का आभास प्राप्त करता है इसीलिए अस्तित्व को कुछ अस्तित्ववादी समय का समानार्थक भी कहते हैं।

बर्गसाँ के प्राणवादी दर्शन तथा इस परिवर्तनवाद में अन्तर है। अस्तित्ववादी मानव को शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ मानते हैं, किसी विश्व-प्रक्रिया की सीमित अभिव्यक्ति नहीं. जैसा बर्गसाँ ने माना है। दूसरे, यह आत्मनिष्ठता भी सृजनात्मक है अर्थात् मनुष्य स्वतन्त्र रूप से स्वयं अपना सृजन करता है और इस प्रकार स्वयं अपनी स्वतन्त्रता है।

किन्तु इसके आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अस्तित्ववादियों के विचार में अस्तित्व अपने आप में निहित सत्ता का नाम है। इसके विपरीत वह एक पूर्ण तथा खुला हुआ सत्य है और उसका स्वभाव उसे अनिवार्य रूप से विश्व तथा अन्य व्यक्तियों के साथ बाँधे रहता है। सभी अस्तित्ववादी इस दोहरी निर्भरता को स्वीकार करते हैं और वह इस प्रकार से कि मानव अस्तित्व विश्व की एक निश्चित स्थिति का सामना करता है और साथ ही वह स्वयं अपनी परिस्थिति भी है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्यों के बीच एक ऐसा विशेष सम्बन्ध पाया जाता है जिसके कारण ही अस्तित्व की विशेषता उत्पन्न होती है।

सभी अतित्ववादी ज्ञाता तथा ज्ञेय के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। फलस्वरूप दार्शनिक दृष्टिकोण से बौद्धिक ज्ञान का भी उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रह जाता। उनके विचार में सच्चा ज्ञान प्रज्ञा द्वारा नहीं होता बल्कि

वास्तविकता को अनुभव करने से होता है और यह अनुभव मूलरूप से उस भव-सम्बन्धी स्थिति में उत्पन्न होता है जो उसे अपनी सीमाएँ तथा कमजोरी देखने पर आभासित होता है और जो इस विश्व में बंधे होने तथा मृत्यु की अनिवार्यता के कारण होता है।

अन्तर –

मुख्य-मुख्य अस्तित्ववादियों में जहाँ थोड़ी-सी समानताएँ हैं वहाँ अति महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं। मार्सेल किर्केगार्ड की भाँति निश्चित रूप से ईश्वरवादी हैं जबकि यास्पर्स का सिद्धान्त ऐसा है जिसे न ईश्वरवादी कहा जा सकता है न सर्वेश्वरवादी और न ही अनीश्वरवादी, क्योंकि यास्पर्स इन तीनों को ही असत्य सिद्ध कर देते हैं। हाइडेगर प्रारम्भ में अनीश्वरवादी मालुम होते हैं किन्तु कुछ वक्तव्यों के कारण सन्देह होने लगता है। केवल सार्त्र ही निश्चित रूप से अनीश्वरवादी हैं।

भिन्न-भिन्न अस्तित्ववादियों के उद्देश्य तथा कार्यविधियाँ भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न है। हाइडेगर अरिस्टॉटल् के अर्थ में एक तत्त्व-दर्शन की स्थापना करना चाहते हैं। उनकी कसी हुई पद्धति सार्त्र ने भी अपनायी है। दूसरी ओर यास्पर्स के अनुसार किसी तत्त्व–दर्शन की आवश्यकता अस्तित्व की व्याख्या के लिए नहीं है। वे इसके अतिरिक्त एक नितान्त लचीली पद्धति का प्रयोग करते हैं, जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें एक साथ सिद्ध की जा सकती हैं।

समीक्षा–

अस्तित्ववाद मनुष्य की अन्य मनुष्यों से तथा सारे विश्व से टकराहट तथा अवरोध का दर्शन है। अन्य दर्शनों ने इस अवरोध को बड़े-बड़े सिद्धान्त द्वारा भुला देने का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, भौतिकवादियों की दृष्टि में कोई अवरोध इसलिए शेष नहीं बचता क्योंकि समस्त ब्रह्माण्ड भौतिक प्रक्रिया का परिणाम है। फलत: हम सभी समान रूप से भौतिक हैं। इसलिए अस्तित्ववादियों का कहना है कि ये अवरोध अस्तित्व के अवरोध हैं जिन्हें जीने की, जी कर अनुभव किये जाने की आवश्यकता है, सोचने की नहीं,। मनुष्य का विश्व के साथ पार्थक्य तथा अपने साथ भी वही भावना उसके अस्तित्व की विशेषताएँ

है और उन्हें दर्शन की समस्या नहीं बल्कि दर्शन की उत्पत्ति का कारण मानना होगा। चूंकि विचार तथा अस्तित्व में ईसी प्रकार का पार्थक्य है इसलिए विचारों की एकता के द्वारा इस समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता, इसलिए अस्तित्ववादी इस पार्थक्य को संरक्षित करके केवल व्यवहार द्वारा उसमें परिवर्तन लाना चाहते हैं, विचार द्वारा नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसा दर्शन जो पार्थक्यों को अनिवार्य मानता है साधारण अर्थ में कार्य-कारण वाला दर्शन हो ही नहीं सकता। उसका सम्बन्ध न तो संसार को बदलने से है न व्याख्या करने से और न विचार करने से। वह तो केवल संसार के विविधतापूर्ण क्रिया-कलापों में भाग लेकर उसे भीतर से समझाने का प्रयास है। इस प्रकार का दर्शन वास्तव में भिन्न-भिन्न गहन अर्थों की खोज ही हो सकता है जिसमें जैविक अथवा यांत्रिक पद्धतियों की अपेक्षा व्यावहारिकता पर बल दिया जाता है। अस्तित्ववादी वस्तुओं को भागों में विभक्त करना भी पसंद नहीं करते। व्यावहारिक समाधान वास्तव में इन अवस्थाओं से उनकी पूर्णता में समझना होगा ताकि उन्हें जिया जा सके।

अस्तित्ववादियों के विचार में सदा के लिए कुछ भी नहीं पाया जा सकता और न ही मानवता के लिए वस्तुनिष्ठ आधार ढूंढा जा सकता है। मानव अस्तित्व को व्यक्तिगत जीवन में ही ढूंढा जा सकता है और व्यक्ति की सत्ता उनके अनुसार ऐसा स्थिर स्थायी तत्त्व नहीं है जिसे हम सदा के लिए प्राप्त कर सकें बल्कि हमारे सतत प्रयास के द्वारा निरन्तर सर्जित होने वाला सत्य है। अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व उसके कार्यों का पर्यायवाची है उनके अतिरिक्त उसमें कोई तत्त्व या सार नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य स्वयं अपने सार को बनाता है ताकि अपने आप को बने बनाये रूप में प्राप्त करता है। स्वयं को बनाने की कुछ कठिनाईयाँ तथा शर्तें हैं। इस कार्य को सबसे पहले तो समाज तथा कर्तव्यों के द्वारा छिपा दिया जाता है जिससे मनुष्य अपने आप को केवल अपने भिन्न-भिन्न कार्यों तथा तत्त्वों का संकलन मानने लगता है। साथ ही अपने-आप को वह उनसे अलग करके भी देखने का प्रयास करता है और इस प्रकार एक सतत विरोध चलता रहता है। जो मनुष्य को इन कठिनाईयों से बचाने का वचन देते हैं, वे उसे धोखा देते हैं। सम्पूर्ण मानव अस्तित्व ही इन्हीं संघर्षों का परिणाम है और इन्हीं में मानव अपने आप को ढूंढ सकता है। चूंकि यह पूर्ण उत्तरदायित्व का सिद्धान्त एक कठोर सिद्धान्त है जो सभी के सम्मुख एक चुनौती रखने का कार्य करता है इसलिए सभी अस्तित्ववादी विचारकों के ग्रंथों को हम पीड़ा तथा थकान से भरा पाते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि—

अस्तित्ववादियों की कुछ इतिहासकारों ने अलोचना भी की है। यह कहा जाता है कि साधारण जीवन की साधारण बातों का नाटक बनाना अस्तित्ववादी विचार-धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। अर्थात् अधिकांश लोग जीवन को जीते-चले जाते हैं, उन्हें यह चिन्ता करने की न आवश्यकता होती है और न समय होता है कि जीवन में कौन से गहन अर्थ छिपे होते हैं। इसके उत्तर में अस्तित्ववादी कहते हैं कि ये विचारधारा मननशील जागरूक लोगों का दर्शन है और एक स्थूल बुद्धि वाले व्यक्ति को ये बातें समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होतीं जिसके लिए एक मननशील व्यक्ति जागते हुए रातें बिता देता है। इससे बड़ी आलोचना यह है कि अस्तित्ववादियों ने इस विशेष मानव अनुभव की भली-भाँति व्याख्या करने की कभी आवश्यकता नहीं समझी थी जिसके साथ ही उनके दर्शन प्रारंभ होता है। हमारा सम्पूर्ण दर्शन- मानव अनुभव है किन्तु वह किसी विशेष का दर्शन है इसलिए यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि अनुभव करने वाले का स्वरूप क्या है साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि उस अनुभव में वह क्या विशेषता है जिसके कारण उसे इतने गहरे प्रश्नों के उत्तर में सहायक माना जाता है? हम स्वयं अपने अनुभव पर अंतःप्रेक्षण द्वारा दृष्टि डालते हैं और उसके द्वारा ही हमें यह ज्ञात होता है कि वह एक विशेष अर्थ में मानव अनुभव है, इसलिए अस्तित्ववादियों को चाहिए कि पहले वे बताएँ कि अनुभव किसका होता है अर्थात् अपने तत्त्व-दर्शन को स्पष्ट करें। इसके बाद ही यह ज्ञात होगा कि मानव दृष्टिकोण से उसकी क्या विशेषताएँ थी? इस प्रकार तत्त्व-दर्शन को समाप्त करने की अपेक्षा वास्तव में उसे ही प्रारम्भ-बिन्दु बनाना चाहिए।

अस्तित्ववादी हर मानसिक अवस्था का कोई न कोई कारण या आधार मानते हैं और इसके कारण अनेक कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे, हाइडेगर का प्रश्न है कि— 'चिंता' का कारण क्या है? और उत्तर है— 'शून्य' और इसके बाद वे 'शून्यता' का तत्त्व-दर्शन बनाने में जुट जाते हैं। वास्तव में उत्तर होना चाहिए था कि चिंता का विधेय (predicate) होना सम्भव नहीं है क्योंकि वह एक अवस्था का नाम है और अवस्थाओं का विधेय नहीं हुआ करता। केवल यही पूछा जा सकता है कि वह अवस्था उत्पन्न कैसे हुई? जिसका उत्तर तत्त्व-दर्शन द्वारा दिया जा सकता है। अंततः ऐसे उत्तर को श्रद्धा पर आधारित होना होगा क्योंकि तर्क द्वारा अन्तिम प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता इसीलिए आलोचकों का मत है कि दो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नों में भेद न कर सकने के कारण अस्तित्ववादियों ने केवल अस्पष्टता को जन्म दिया है।

वस्तुनिष्ठता की अस्तित्ववादियों में न केवल कमी है बल्कि वे उससे घृणा करते हैं, इसलिए हमारे पास ऐसा कोई साधन ही नहीं बचता जिसके द्वारा हम उनके या अन्य किसी के वक्तव्यों की जांच कर सकें। किन्तु वस्तुनिष्ठता की यह कमी अस्तित्ववादियों को नहीं खटकती, क्योंकि वे तर्क और बुद्धि जैसे संकीर्ण प्रत्ययों में भेद नहीं कर पाते। यदि बुद्धि केवल एक यांत्रिक-प्रक्रिया ही होती तो ऐसा कहा जा सकता था किन्तु वस्तुनिष्ठता में केवल इतना ही सम्मिलित नहीं है और उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण से संकीर्ण नहीं कहा जा सकता - वास्तव में वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच भेद करना स्वयं ही एक अशुद्ध विकल्प है और इसी प्रकार अस्तित्ववादी जब यह कहते हैं कि अस्तित्व को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता तब भी वही अशुद्ध विकल्प का दृष्टान्त होता है।

--सुरेंद्र सिंह नेगी

दर्शन-विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर--४७०००३, (म. प्र.)

स्वामिनारायणीय विशिष्टाद्वैत का विशिष्ट स्वरूप

श्री स्वामिनारायण (१७८१-१८३०) अवतारी पुरुष एवं सध्दर्मसंस्थापक थे। अकॅडेमिक अर्थ में वे तत्त्वचिंतक नहीं थे। लेकिन उन्होंने ज्यादातर स्वयंअनुभूति का और कभी कभी हिन्दू धर्म की श्रुति एवं स्मृति का आधार लेकर अपने संन्यासी एवं गृहस्थी शिष्यों के साथ तत्त्व के विषय में जो संवाद किया है वह वचनामृत नामक ग्रंथ में संपादित किया गया है। वचनामृत गुजराती भाषाका प्रथम गद्यग्रंथ है जिस के बारे में यह सही कहा गया है कि "इस ग्रंथ में जो तत्त्वचर्चा हुई है वह विद्वानों के लिय सरल नहीं है और साधारण साधकों के लिये कठिन नहीं है।" अपने अनुयायियों की सदाचार शिक्षा के लिये श्री स्वामिनारायण ने शिक्षापत्री नामक २१२ श्लोक का एक पत्र लिखा है। वचनामृत और शिक्षापत्री स्वमिनारायण संप्रदाय के सर्वमान्य ग्रंथ हैं। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्री स्वामिनारायण की तत्त्वदृष्टि अत्यंत स्पष्ट एवं सुसंगत है और इनके द्वारा श्री स्वामिनारायण ने वेदांत परंपरा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

श्री स्वामिनारायण ने शिक्षापत्री में लिखा है कि "मेरा मत विशिष्टाद्वैत है।"[1] पहले हमें यह देखना है कि श्री स्वामिनारायण का तत्वसिद्धान्त किस अर्थ में विशिष्टाद्वैत है ?

श्री स्वामिनारायण के अनुसार (i) जीव, (ii) ईश्वर, (iii) माया, (iv) अक्षरब्रह्म (पुरुष) और (v) परब्रह्म ये पांच तत्त्व अनादि हैं।[2] इन अनादि पांच तत्त्वों में से केवल परब्रह्म का अस्तित्व स्वतंत्र एवं स्वनिर्भर है। बाकी के चार तत्त्व अपने अपने अस्तित्व और क्रिया के लिये परब्रह्म पर आधारित हैं। परब्रह्म या नारायण के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री स्वामिनारायण ने लिखा है कि परब्रह्म सकल ऐश्वर्य संपन्न एवं स्वतंत्र और परात्पर होते हुये भी तत्त्वमात्र का प्रेरक तथा नियंता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्वाचार्य की तरह श्री स्वामिनारायण ने परमात्मा या परब्रह्म का संपूर्ण स्वातंत्र्य एवं परात्परत्व और

परामर्श (हिंदी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

अन्य तत्त्वोंका पारतंत्र्य एवं परब्रह्म के ऊपर परिपूर्ण अवलंबन का अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है । ४

परब्रह्म पर आधारित तत्त्वों के श्री स्वामिनारायण ने दो प्रकार माने हैं : (i) क्षर और (ii) अक्षर । ५ क्षर में सारी जड सृष्टि और अक्षर में सारी चेतन सृष्टि समाविष्ट है । अतः रामानुजाचार्य के दर्शन में अचित् और चित् का जो भेद मान्य किया गया है वैसा ही भेद श्री स्वामिनारायण ने क्षर और अक्षर के बीच स्वीकार किया है । क्षर और अक्षर का परब्रह्म के साथ तात्त्विक अवलंबन का जो संबंध है उसका श्री स्वामिनारायण ने अच्छा निरूपण किया है । ६

इस प्रकार श्रुति का भी आधार लेकर श्री स्वामिनारायण ने जीव-जगत् और परमात्मा के सबंध को शरीर–शरीरी संबंध की परिभाषा में समझाया है। इसका मतलब यह हुआ कि रामानुजाचार्य की तरह श्री स्वामिनारायण भी परमात्मा या परब्रह्म को जड एवं चेतन सृष्टि की आत्मा (शरीरी) मानते हैं। पी. एन्. श्रीनिवासाचारी ने सही बताया है कि शरीर-शरीरी संबंध विशिष्टाद्वैत मत का प्रधान अंग है । ७ श्रीस्वामिनारायण जीव-जगत् और परमात्मा के बीच शरीर-शरीरी संबंध को प्रतिपादित करते हैं इसलियें श्री स्वामिनारायण का अपने मत को विशिष्टाद्वैत कहना सर्वथा उचित है ।

श्री स्वामिनारायण का सिद्धांत एक और अर्थ में भी विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है। श्रीस्वामिनारायण के अनुसार परब्रह्म या नारायण एक ही है, अद्वितीय है और विशिष्ट है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'–इस श्रुति-वाक्य के अर्थ को बताते हुअे श्री स्वामिनारायण ने कहा है कि "इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि नारायण जैसे तो केवल नारायण ही हैं।" ८ श्री स्वामिनारायण के अनुसार कोई भी मुक्तात्मा अपनी उत्तमोत्तम स्थिति में भी परब्रह्म, नारायण या भगवान् के सामने अैश्वर्य को प्राप्त नहीं कर सकता। परब्रह्म सर्वोत्कृष्ट, स्वतंत्र, एक एवं अद्वितीय तत्त्व है। इस विशिष्ट अद्वैत तत्त्व का श्री स्वामिनारायण के सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान है। इसलिये भी श्री स्वामिनारायण के तत्त्वसिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है।

श्री स्वामिनारायण का सिद्धान्त रामानुजाचार्य के अर्थ में भी विशिष्टाद्वैत है ९ और अपने विशिष्ट स्वरूप से भी विशिष्टाद्वैत है। श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विशिष्ट स्वरूप को लेकर ऐसा कहा जा सकता है कि श्री रामा-

नुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में जो तार्किक एवं तात्त्विक आपत्तियां हैं इनका श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में निरसन होता है। जीव-जगत् और ब्रह्म के स्वरूप एवं संबंध के विषय में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में जो आपत्तियाँ है इनका निर्देश करके श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में इन आपत्तियों का किस प्रकार अभाव है यह स्पष्ट करने का हम यहाँ यत्न करेंगे।

१. जीवतत्त्व के स्वरूप और जीव-ब्रह्म संबंध के विषय में रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में प्रमुख आपत्ति यह है कि रामानुजाचार्य ने जीव को ब्रह्म के साधन रूप एवं अत्यंत गौण माना है। रामानुजाचार्य के अनुसार जीव-ब्रह्म का संबंध शरीर-शरीरी संबंध है क्यों कि ब्रह्म अपने प्रयोजन के उपलक्ष्य में जीव को आधार देता है और नियंत्रित करता है। अपने वेदार्थसंग्रह में रामानुजाचार्यने आत्म शरीर भाव के तीन घटक बताये हैं: (i) आधाराधेय भाव, (ii) नियंतृनियम्य भाव और (iii) शेष शेषी भाव।[10] इन तीनों भावों में शेष शेषी भाव, एरिक जे. लोट्ट के शब्दों में, "रामानुज के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है"।[11] शेषशेषी भाव महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में ब्रह्म ही सर्वस्व रहता है और जीव का कार्य 'गर्भदास' की तरह ब्रह्म के प्रयोजनों की सिद्धि में सहाय्यभूत होने का ही रहता है।[12] इसका मतलब यह हुआ कि जीव का अपना कोई तात्त्विक या नैतिक गौरव रामानुज के मत में नहीं है।[13] श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीवतत्त्व की स्थिति इस प्रकार की नहीं है। श्री स्वामिनाराण के अनुसार भी जीव परब्रह्म का शरीर है और परब्रह्म जीव का शरीरी है क्यों कि परब्रह्म जीव में व्याप्त है और जीव अपने आपमें असमर्थ होने के कारण अपने अस्तित्व एवं क्रियायों के लिये परब्रह्म के अधीन है।[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में जीव और ब्रह्म के संबंध में शरीर-शरीरी भाव का जो अर्थघटन किया गया है इसमें शेषशेषीभाव का कोई स्थान नहीं है। अत: श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से परब्रह्म या परमात्मा अपने प्रयोजन के लिये जीव का उपयोग नहीं करता लेकिन जीव पर उपकार करता है ताकि जीव अपना प्रोजन सिद्ध कर सके।

२. रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म तत्त्व के स्वरूप संबंधी एक आपत्ति यह है कि इस में ब्रह्म का चित् एवं अचित् से संपूर्ण भिन्न होना असंभव है। रामानुजाचार्य ब्रह्म की दो अवस्थाएँ मानते हैं: १. कारणावस्था और २. कार्यावस्था। ब्रह्म के शरीरभूत चित् और अचित् जब सूक्ष्म एवं अव्यक्त दशा में

होते हैं तब चित् और अचित् की इस दशा के कारण ब्रह्म की अवस्था कारणावस्था होती है। ब्रह्म के शरीरभूत चित् और अचित् जब स्थूल एवं व्यक्त दशा में होते हैं तब चित् और अचित् की इस दशा के कारण ही ब्रह्म की अवस्था कार्यावस्था होती है।[१५] रामानुजाचार्य के इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए निनियन स्मार्ट ने सही बताया है कि "ब्रह्म को होनेवाला अनुभव सदा निश्चित दृष्टि से होता है और यह दृष्टि ब्रह्म के शरीर पर आधारित है"।[१६] अतः अपने शरीरभूत चित् और अचित् से विशिष्ट होना ब्रह्म के लिए सदा आवश्यक है। इस सिद्धांत का फलितार्थ यह है कि ब्रह्म-तत्त्व के परत्व एवं स्वतंत्र पूर्णत्व का रामानुचार्य के विशिष्टाद्वैत में कोई स्थान नहीं है।

श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में उपर्युक्त आपत्ति नहीं है क्योंकि श्री स्वामिनारायण के मतानुसार "परब्रह्म अपनी अंतर्यामी शक्ति से हरेक जड़ एवं चेतन पदार्थ में व्याप्त होते हुए भी सृष्टि के सभी तत्त्वों से पर है। परब्रह्म हरेक अन्य तत्त्व का आधार है लेकिन परब्रह्म किसी पर आधारित नहीं है। परब्रह्म के परत्व एवं सार्वभौमत्व का अत्यंताधिक प्रतिपादन करते हुए श्री स्वामिनारायण ने कहा है कि परब्रह्म के साक्षात्कार का आनंद लेनेवाले मुक्तात्माओं को परब्रह्म के साथ संबंध रखना या ऐसे मुक्तात्माओं के साथ संबंध रखना परब्रह्म के लिये भी अनिवार्य नहीं हैं।[१७] अतः श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में शरीर-शरीरी के पारस्परिक अवलंबन एवं अपृथक्सिद्धि को स्वीकारा नहीं गया है। श्री स्वामिनारायण के अनुसार शरीर का शरीरी पर सदा अवलंबन है लेकिन शरीरी संपूर्ण स्यतंत्र एवं पर-तत्त्व है। धार्मिक एवं तात्त्विक दृष्टि की मूलभूत अपेक्षा यह है कि परम तत्त्व या ईशतत्त्व सृष्टि में अंतर्यामी भी हो और सृष्टि से पर भी हो। श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में ईश के इन दोनों पहलुओं को महत्त्व मिलता है।

३. रामानुजाचार्य ब्रह्मपरिणामवाद को मानते हैं।[१८] श्री स्वामिनारायण ब्रह्मपरिणामवाद को दोषयुक्त मानते हैं।[१९]

श्री स्वामिनारायण के अनुसार ब्रह्मपरिणामवाद भगवान् या परब्रह्म के अच्युत, निरंश, निर्विकारी एवं अखंड स्वरूप के साथ सुसंगत नहीं है। अतः श्री स्वामिनारायण परब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानते हैं, लेकिन केवल निमित्तकारण के रूप में। त्रिगुणात्मिका माया जो स्वामिनारायणीय विशिष्टाद्वैत को पांच अनादि

तत्त्वों में से एक है इसको ही श्री स्वामिनारायण सृष्टि का उपादान कारण मानते हैं। श्रीस्वामिनारायण ने कहा है कि 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'–इस श्रुति-वाक्य का तात्पर्य यह है कि परब्रह्म, माया और माया के सभी कार्यों में अंतर्यामिरूप से प्रविष्ट होकर सृष्टि का सर्जन करता है, लेकिन खुद बहुरूप हो नहीं जाता"।[२०]

४. रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कर्ता है। ब्रह्म के इस कर्तृत्व का केवल लीला के सिवा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि ब्रह्म नित्यतृप्त है।[२१] स्वामिनारायणीय ईश्वरवाद इस प्रकार के लीलावाद से संतुष्ट नहीं है, क्योंकि जीवों का नैतिक दायित्व और अनिष्ट के अस्तित्व का कोई बुद्धिगम्य समाधान लीलावाद में नहीं मिलता। अत: श्री स्वामीनारायण के अनुसार जीवों के भोग एवं मोक्ष के प्रयोजनों की सिद्धि के लिये ही परब्रह्म या पुरुषोत्तम भगवान् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं।[२२_२४]

स्वामिनारायणीय दृष्टि से इस प्रकार के हेतुवाद की स्वीकृति से परम तत्त्व के नित्यतृप्तत्व को कोई हानि नहीं पहुंचती क्योंकि परब्रह्म या भगवान् की जगत् संबंधी प्रवृत्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं है। श्री स्वामिनारायण के अनुसार परमात्मा का सृष्टिसंचालन करना और सृष्टि में अवतार भी धारण करना उनकी जीवों के प्रति अनुकंपा का ही परिणाम है।[२५] रामानुजाचार्य ईश्वर या ब्रह्म को कृपालु तो मानते ही हैं। ईश्वर के कृपालुत्व के साथ हेतुवाद ही सुसंगत है, लीलावाद नहीं।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत की उपर्युक्त आपत्तियाँ और श्री स्वामिनारायण के विशिष्टाद्वैत में इन आपत्तियों के अभाव के उपर्युक्त अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि श्री स्वामिनारायण ने विशिष्टाद्वैत वेदान्त प्रणाली को फलदायी रूप से आगे बढाया है। श्री स्वामिनारायण ने विशिष्टाद्वैत को जो नया रूप दिया है, इसको नव्य-विशिष्टाद्वैत भी कहा जा सकता है। श्री स्वामिनारायण का नव्य-विशिष्टाद्वैत रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसलिए श्री स्वामिनारायण ने शिक्षापत्री में लिखा है कि,

शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।
रामानुजाचार्य कृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ [१६]

—ज. आ. याज्ञिक

दर्शन विभाग
गुजरात विश्वविद्यालय
अहमदाबाद - ३८०००९
(गुजरात)

टिप्पणियाँ

१. शिक्षापत्री : १२१

२. वचनामृत, गढडा मध्यप्रकरण : ३१

३. वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ६४

४. J. A. Yajnik : *The Philosophy of Sri Svaminarayana* (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad– 380009, 1971), p. 50

५ वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ७२

६. वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ६४

७. P. N. Srinivasachari, *The Philosophy of Visistadvaita* (1943), p. 88

८. वचनामृत, गढडा लोया प्रकरण : १३

९. See Ramanujacharya, *Sri Bhasya*, (G. Thibaut's Translation) S. B. E. vol. 48 (1962) p. 424

१०. Ramanujacharya, *Vedarthasamgraha*, para 76

११. Eric E. Lott, *God and the Universe in the Vedantic Theology of Ramanuja* (Ramanuja Research Society, Madras 1976), p 155

१२. See Carman J B., *The Theology of Ramanuja* (Ananthacharya Indological Research Institute, Bombay, 1981), p. 148

१३. See Yajnik J. A., *op.cit.*, p. 125

१४. वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ६४

१५. Ramanujacharya, *Sri Bhasya*, *pp. 458–459*

१६. Ninian Smart, *Doctrines and Arguments in Indian Philosophy* (1964), p. 108

१७. Yajink J. A. *op.cit.*, p. 126—127

१८. Ramanufacharya. *op.cit.*, p. 403

१९. वचनामृत, पंचाला प्रकरण : २

२०. वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ४१

२१. Ramanujacharya, *op.cit*, : p. 477

२२. वचनामृत, पंचाला प्रकरण : १

२३. वचनामृत, गठडा प्रथम प्रकरण : ४१

२४. वचनामृत, कारियाणी प्रकरण : १

२५. वचनामृत, लोया प्रकरण : ४

२६. शिक्षापत्री, श्लोक १००

सांख्यकारिका एवं चरकसंहिता में निहित सांख्य तत्त्व : एक परिशीलन

प्राचीनता के क्रम से सांख्य की सर्वोपरिता निर्विवाद है। सांख्य ही एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसकी नामतः चर्चा चरकसंहिता में पाँच बार हुई है। चरकसंहिता का सांख्य वह नहीं है जो कि सांख्य प्रवचन सूत्र तथा सांख्यकारिका में वर्णित है, अपितु उससे भिन्न एवं प्राचीनतर है। चरक के 'सांख्यादयैः प्रकीर्तितः'[1] वचन से यही प्रतीत होता है कि चरकसंहितागत सांख्य आद्य या मौलिक सांख्य है जो कि ईश्वरकृष्णे से पूर्व प्रचलित था तथा जिसका निर्देश अन्य कई ग्रन्थों में मिलता है।[2] षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न ने सांख्य दर्शन की दो प्रामाणिक कृतियों का उल्लेख किया है जिनमें एक माठरभाष्य है और दूसरा आत्रेयतन्त्र। इनमें से आत्रेयतन्त्र का सांख्य चरकसहिता वाला ही सांख्य प्रतीत होता है, क्योंकि चरकसंहिता के मूलोपदेष्टा आत्रेय ही हैं। गुणरत्न ने चरकसंहिता आदि के प्राचीन सांख्य को मौलिक सांख्य की संज्ञा दी है और सांख्यकारिका आदि पश्चात्कालीन सांख्य को अपर सांख्य कहा।

चरक के अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और चेतना ये छः तत्त्व हैं। इस षड्धातु के समुदाय को पुरुष की संज्ञा दी जाती है। सांख्य जहाँ इन पदार्थों को तत्त्व के नाम से पुकारता है चरकसंहिता वहाँ धातु शब्द का प्रयोग करती है। चरक में इस षड्धातुक पुरुष के अतिरिक्त एक चेतना धातु को भी पुरुष कहा गया है। पुनः तीसरे प्रकार से धातु या तत्त्व चौबीस माने गये हैं। ये चतुर्विंशति तत्त्व क्रमशः दस इन्द्रियाँ, मन, अर्थ या पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श आदि) और अष्ट प्रकृति (प्रकृति, महत्, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) हैं। इस चतुर्विंशति तत्त्व की सूची में पुरुष को पृथक् कर दिया गया है। इस विषय में चक्रपाणि का कथन है कि पुरुष प्रकृति दोनों अव्यक्त हैं इसलिये इनकी गणना एक में ही की गई है।[3] चरकसंहिता में

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

तन्मात्रा का उल्लेख न कर तन्मात्रा के लिये सूक्ष्मभूत शब्द का प्रयोग किया गया है।[४] सुश्रुत संहिता (शा. १.४) में सांख्यकारिका (२८) के समान तन्मात्र पद व्यवहृत है। डॉ. दासगुप्त का कथन है कि यह चरकोक्त सांख्य पञ्चशिख के सांख्य सम्प्रदाय के समान प्रतीत होता है जिसका उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व (अ. २१९) में है। पञ्चशिख चरकसंहिता के समान उतने विशद रूप में अपने सांख्य सम्प्रदाय का निरूपण नहीं करते किन्तु वह जो कुछ भी कहते हैं वह चरक से मिलता-जुलता है।

ई. एच्. जॉन्सन ने अपनी पुस्तक अर्ली सांख्य में कहा है कि सांख्य के १८ सम्प्रदाय थे। सांख्यकारिका २५ तत्त्ववादी सम्प्रदाय है और अन्य सम्प्रदायों का वर्णन यत्र-तत्र उद्धृत है जिसमें से चरक में १ तत्त्ववादी, ६ तत्त्ववादी और २४ तत्त्ववादी तीन सम्प्रदाय हैं। काश्यपसंहिता में २४ तत्त्व एवं सुश्रुतसंहिता में सांख्यकारिका के समान २५ तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इस लेख में सांख्यकारिका एवं चरकसंहिता की सांख्य प्रस्थानीय विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है —

१. तत्त्व संख्या विषयक भेद : ईश्वर कृष्ण (३) आदि[५] सांख्याचार्य २५ तत्त्व मानते हैं परन्तु काश्यप एवं चरकसंहिता में चतुर्विंशतितत्त्ववादी सांख्यों का मत महाभारत (शा. ३२३-७२) तथा बुद्धचरित (१२।२०, २३) के समान मिलता है। यह मत ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन है। इस मत में अव्यक्त प्रकृति से पृथक् मूलतत्त्व न मानकर पुरुष ही को अव्यक्त, प्रकृति या प्रधान माना गया है। यह सगुण पुरुष ही सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के योग से सृष्टि का कर्ता है। इसी से महान् आदि तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ है।

रोग और चिकित्सा का अधिकरण न तो केवल चेतन है और न केवल शरीर, किन्तु 'संयोगपुरुषस्याष्ट विशेषो वेदनाकृतः' (च. शा. १।८५) के अनुसार संयोग पुरुष ही उसमें अधिकृत है। उस संयोग पुरुष में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इन छः धातुओं का संयोग बतलाया गया है [६]। फिर सांख्यदर्शन के अनुसार उसी पुरुष को २४ तत्त्वों की एक राशि बतलाया गया है—

> पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
> मनो दशेन्द्रियाण्यार्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ (च. शा. १।१७)

महाभारत से यह पता लगता है कि सांख्य का एक प्रस्थान चतुर्विंशतितत्त्ववादी भी था।[७] क्योंकि पंचशिखाचार्य ने राजर्षि जनक की सभा में अव्यक्त को पुरुष ही की एक अवस्था बतलाया था।[८]

भेलसंहिता में तो अव्यक्त पद से स्पष्टतया ब्रह्म ही का ग्रहण किया गया है और यह ब्रह्म ही सांख्य का पुरुष है। चरक के आभ्यन्तर निहित त्रिविध सांख्य सम्प्रदाय में से एक षड्धात्वात्मक पुरुष भी है और भेल ने केवल इसी एक सम्प्रदाय का ही निर्देश किया है।[९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चरक आदि का सांख्य चतुर्विंशतितत्त्ववादी है। उसमें मूल प्रकृति नाम के किसी पृथक् तत्त्व को नहीं स्वीकार किया गया है तथा अव्यक्त पद से पुरुष या ब्रह्म ही का ग्रहण हुआ है। परन्तु सुश्रुत संहिता सांख्य के समान २५ तत्त्व स्वीकार करती है।

२. तत्त्वों के वर्गीकरण में क्रमभेद -

चरक, सुश्रुत एवं काश्यप संहिता में तत्त्वों का वर्गीकरण भी सांख्य के ग्रन्थों से भिन्न ही है। सांख्यकारिका (३) में समस्त तत्त्वों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है –

१– मूल प्रकृति	– अविकृति	१
२ - प्रकृति-विकृति	– महान्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ	७
३– विकृति	– ५ ज्ञा., ५क., मन, पंचमहाभूत	१६
४-- न प्रकृति न विकृति	– उदासीन पुरुष	१

किन्तु चरक संहिता में प्रकृति और विकार ये दो ही वर्ग किए गये हैं। प्रकृति वर्ग में आठ तत्त्व हैं और विकार वर्ग में १६ तत्त्व– इस प्रकार कुल २४ तत्त्व निम्नतया हैं-[१०]

१. प्रकृति वर्ग	पंचमहाभूत, बुद्धि, अव्यक्त, अहंकार
२. विकृति वर्ग	पंच बुद्धीन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पाँच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)

सांख्यकारिका के समान सुश्रुत भी यद्यपि २५ तत्त्व स्वीकार करता है परन्तु यहां चरक एवं काश्यप[११] के समान अष्ट प्रकृति एवं सोलह विकार ये दो ही वर्ग स्वीकृत हैं।[१२]

यद्यपि भेल में चरक या सुश्रुतवत् प्रकृति का विभाग निर्दिष्ट होना चाहिए था किन्तु एकमात्र एक ही भेद अव्यक्त, महान् और पंचमहाभूत के साथ परा प्रकृति के रूप निर्दिष्ट है।[१३] काश्यप एवं चरकसंहिता में अष्टप्रकृति को भूतप्रकृति कहा गया है। चरक संहिता के वर्गीकरण क्रम में एक आश्चर्य यह भी है

कि बुद्धितत्त्व का पर्यायवाची सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध महत् शब्द का कहीं एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है। पंचतन्मात्र शब्द का भी मूलपाठ में कहीं भी उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। सांख्यकारिका के समान सुश्रुत संहिता में महान् एवं पंचतन्मात्रा दोनों ही शब्द प्रयुक्त हैं। काश्यप संहिता में यद्यपि महान् शब्द प्रयुक्त है परन्तु पंचतन्मात्रा शब्द कहीं भी उल्लिखित नहीं हैं।

३.– आत्मपरिगणनवाद :

शरीर, इन्द्रिय, आत्मा एवं सत्त्व (मन) के समुदाय को पुरुष कहते है [१४] ईश्वरकृष्ण ने १८ वीं कारिका (जन्ममरण करणानां——)के द्वारा अनेक हेतुओं से पुरुष बहुत्त्व की सिद्धि की है किन्तु चरक में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं मिलता। चरकसंहिता में एकात्मवाद स्वीकृत है। निम्नांकित श्लोक में तो इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है– रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्। ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते ॥ (च. शा. १।२६) अर्थात् जब तक आत्मतत्त्व के साथ रजस् और तमस् का सम्पर्क रहता है तब तक उसको विभिन्न योनियों में असंख्य व्यक्तियों के रूप में जन्ममरण के चक्र में पड़ा रहना होता है किन्तु जब विशुद्ध सत्त्वगुण की वृद्धि होने से रजस् और तमस् पर विजय पा लिया जाता है तब ज्ञान से इस संयोग की निवृत्ति होकर मुक्ति हो जाती है। यहां 'अनन्तवान्' पद से संयोग में ही आनन्त्य बतलाया गया है और उसी के कारण पुरुष (आत्मा) में बहुत्व की भ्रान्ति होती है, स्वयं उसमें अनेकता नहीं है।

सांख्यकारिका के समान सुश्रुत में भी पुरुष को अनेक माना गया है परन्तु यहाँ आत्मा की सांख्यमत से भिन्नता है। सांख्य में सर्वगत आत्मा नित्य है परन्तु आयुर्वेद में आत्मा असर्वगत होते हुए भी नित्य है। [१५]

काश्यप संहिता में पुरुष को आत्मा, क्षेत्रज, शाश्वत और अचिन्त्य माना गया है परन्तु यहां आत्मा की एकता या अनेकता का वर्णन नहीं है। यही स्थिति भेल के साथ भी है।

४. आत्मा में सगुणतत्त्व की स्वीकृति :

साधारणतया सांख्य में आत्मा को निर्गुण, निर्लेप, निष्क्रिय और अकर्ता माना जाता है। निष्क्रिय तो चरक (शा. १।५) भी मानता है परन्तु चरक के सांख्य का आत्मा निर्गुण, निर्लेप, निष्क्रिय और अकर्ता सभी स्थितियों में नहीं है। यहां त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति स्वीकार न होने से सगुण पुरुष ही प्रकृति है। सगुण होते ही पुरुष चतुर्विंशतिक राशि अथवा संयोग पुरुष कहलाने लगता है और तब उसे

संलिप्त, सक्रिय और कर्ता भी कह सकते हैं तथा सुखदुःखादियुक्त भी। यह आत्मा कर्ता, भोक्ता, कारण आदि, सब कुछ है। यही मत **याज्ञवल्क्य स्मृति** का भी है।[१६]

काश्यप एवं चरकसंहिता में अव्यक्त पुरुष को विभिन्न लक्षणों से युक्त माना गया है और ये लक्षण प्राणवायु और अपानवायु का चलना, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन की गतियां इन्द्रियान्तर संचार, मन का इन्द्रियों को कार्य करने की प्रेरणा देना, स्वप्न में देशान्तर गमन, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मरणशक्ति, अहंकार का होना आदि हैं।[१७] सुश्रुत संहिता में भी आत्मा (कर्मपुरुष) को सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु का धारण करना, अपानवायु को छोड़ना, उन्मेष, निमेष बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि गुणों से युक्त माना है।[१८]

सांख्यकारिका (११, १९) एवं सुश्रुतसंहिता (शा. १. १३) में समानरूप से पुरुष को चैतन्ययुक्त, त्रिगुणरहित, अप्रसवधर्मी एवं मध्यस्थ कहा गया है।

सृष्टि प्रक्रिया–

सांख्यकारिका एवं सुश्रुतसंहिता के सृष्टि वर्णन में समानता है। अव्यक्त या प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व एवं अहंकार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस् (राजस्) और भूतादि (तामस्) भेद से तीन प्रकार का है। वैकारिक अहंकार से तेजस् अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रयां उत्पन्न होती हैं जो कि सात्त्विक स्वरूप होती हैं। ये इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं – श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और मन। इनमें से पहली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है इसलिए इसे उभयात्मक कहा गया है। भूतादि (तामस्) अहंकार से तेजस् अहंकार की सहायता से पाँच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। ये क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा हैं। इन तन्मात्राओं के विशेष गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनसे आकाश, वायु. अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न होती है।[१९]

चरक का सृष्टिक्रम सांख्यकारिका से विलक्षण है। सृष्टि दो प्रकार की है (१) षड्धातुक (२) चतुर्विंशतिक। षड्धातुक (पंचमहाभूत और आत्मा) यह एक प्रकार का सांख्यप्रस्थान है[२०]। चक्रपाणि के कथनानुसार वैशेषिक दर्शन से अनुमोदित यह पुरुष चिकित्साशास्त्र का विषय है।[२१] इसी को सुश्रुत ने पञ्चमहा-

भूत-शरीरी-समवाय पुरुष कहा [२२] । वस्तुतः पंचमहाभूत और आत्मा के ग्रहण से षड्धातुक यह सृष्टिक्रम वैशेषिक प्रास्थानीय कहा जाना ठीक नहीं, क्योंकि चरक से भी प्राचीन यह एक प्रकार सांख्य का प्रस्थान था जैसा कि हिरण्याक्ष नामक विद्वान् ने सूत्रस्थान के यज्जः पुरुषीय अध्याय में विचारगोष्ठी में कहा है [२३] । इस षड्धातुक सृष्टिक्रम का स्वरूप चरक इस प्रकार प्रतिपादित करता है । परम-आत्मा की इच्छा जब विश्वरूपसृष्टि को उत्पन्न करने की होती है तब वह सर्वप्रथम आकाश को और उसके अनन्तर क्रमशः वायु, तेज, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नानाविध प्राणियों के रूप में प्रकट होने की इच्छा से वह इसी क्रम से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को ग्रहण कर देह धारण कर लेता है । वही पिण्ड का स्रष्टा है और वही ब्रह्माण्ड का। आकाश में एक गुण शब्द, वायु में दो गुण शब्द, स्पर्श, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण हैं । इस प्रकार भूतों में एक-एक गुण क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ता है । इसी गुण विकास क्रम के लक्ष्य से यहाँ आकाश आदि क्रम रखा गया है [२४] । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि चतुर्विंशतिक राशिक्रम योगियों के लिए उपयोगी है और षड्धातुक क्रम वैद्यों के लिए [२५] ।

६-- पुरुष कारणतावाद

चरक संहिता में प्रकृति और पुरुष का संयुक्त नाम अव्यक्त है । वही चरक और काश्यप का पुरुष है और उसी से सारी सृष्टि होती है। सांख्यकारिका (५६) में प्रकृति को ही कारण माना गया है । सांख्य के आचार्यों ने प्रकृति से ही बन्धन और मोक्ष की सिद्धि की है किन्तु चरक संहिता में 'पुरुषः कारणं कस्मात्'? (किस प्रकार पुरुष कारण है – च० शा० १।३) इस प्रश्न से प्राप्त 'मास्तमः सत्यमनृतम्'– इत्यादि कारणों तथा अन्य सभी प्राणियों से समर्थित होने के कारण पुरुष कारणतावाद ही स्वीकार किया गया है । [२६]

वस्तुतः चरक संहिता के द्वारा प्रतिपादित पुरुष और सांख्यकारिका के द्वारा निरूपित पुरुष में मौलिक भेद है । सांख्यकारिका (१९) में पुरुष का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है " तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।। " परन्तु चरक संहिता का पुरुष दो प्रकार का है : केवल चेतनाधातु एवं राशिसंज्ञक । इसमें केवल चेतनाधातु नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव वाला है

किन्तु चरकसंहिता में कथित यह चेतनाधातु वाला पुरुष चिकित्सा का अधिकरण नहीं है। वह कारण और कार्यभाव से परे है। राशि पुरुष मोह, इच्छा, द्वेष एवं कर्म से उत्पन्न हुआ है। वह रजस् और तमस् से युक्त चक्रवत् घूमता रहता है। वह अव्यक्त से व्यक्त को और पुनः व्यक्त से अव्यक्त को प्राप्त होता है। ऐसे ही पुरुष की कारणता चरक में स्वीकार की गई है।

सांख्यकारिका (३१) में ...... 'न केनाचित् कार्यते करणम्' इत्यादि से प्राकृत महद् आदि के प्रेरक के बिना ही सर्ग की प्रवृत्ति में जिस प्रकार की स्वच्छन्दता दिखलाई गई है उसी प्रकार से चरक संहिता (च०शा० १।७७) में भी 'यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं सर्वः सर्वासुयोनिषु। प्राणैस्तन्यते प्राणी नह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः' इत्यादि वचनों से पुरुष के कर्तव्य में भी स्वच्छन्दता बतलाई गयी है।

७ -- इन्द्रियों का भौतिकत्व

ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका में इन्द्रियां आहंकारिक मानी गई हैं। अहंकार से दो प्रकार की तत्त्वसृष्टि होती है। एक तो सात्त्विक अहंकार से ११ इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं दूसरी तामस् अहंकार से पंचतन्मात्राओं की। परन्तु चरकसंहिता के सांख्यनिरूपण में इन्द्रियों को भौतिक (पंचमहाभूतों से उत्पन्न) कहा गया है। सूत्रस्थान के इन्द्रियोपक्रमणीय नामक आठवें अध्याय में पंचपंचक वर्णन प्रसंग में पंचेन्द्रिय द्रव्य ख (आकाश), वायु, ज्योति (अग्नि) जल, पृथ्वी इस प्रकार उसकी विवेचना कर अनुमानगम्य पंचमहाभूत के विकास के समुदाय से युक्त विद्यमान इन्द्रियों का तेज चक्षु में, आकाश श्रोत्र में, पृथ्वी प्राण में, जल जिह्वा में, वायु स्पर्शेन्द्रिय में विशेष रूप से जाना जाता है। वहाँ पर जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस महाभूत की अधिकता से बनी है वह इन्द्रिय उस-उस महाभूत के विषय को ग्रहण करती है, क्योंकि इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव विभु होने के कारण है[२७]।

सांख्यकारिका में इन्द्रियों को आहंकारिक माना गया है परन्तु सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र में इन्द्रियों को कहीं आहंकारिक (२०,२२,२४–२६) और कहीं भौतिक (८,१०,१५,१६) स्वीकार करते हुए उनकी उत्पत्ति पंचतन्मात्राओं से बताई गई है। सांख्यकारिका की एक अन्य टीका युक्तिदीपिका (२२) में सांख्याचार्य पंचाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। सुश्रुत ने आयुर्वेद शास्त्र के प्रतितन्त्रानुसार इन्द्रियों को सांख्यवत् आहंकारिक न मानकर भौतिक मानने की विशेष चर्चा की है। यद्यपि यहाँ भी इन्द्रियों की उत्पत्ति साक्षात् अहं-

कार से प्रदर्शित हैं पर पारमार्थिक रूप से उसे भौतिक कहना इसलिए स्वीकार किया है कि एक-एक इन्द्रियाँ एक-एक विशिष्ट महाभूत के विषय को ग्रहण करती है [२८]।

८ ऐश्वर्य सम्बन्धी विभेद :

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व यह आठ प्रकार के ऐश्वर्य सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। सुश्रुत में अंशुमन् सोम से रासायनिक प्रयोग में टीकाकार डल्हण ने आठ प्रकार के उपयुक्त ऐश्वर्यों की व्याख्या की है परन्तु यहाँ गरिमा के स्थान पर कामावसायिता का उल्लेख है[२९]। **जयमंगलाटीका** (२३) एवं **गौडपादभाष्य** (२३) में गरिमा के स्थान पर कामावसायित्व का उल्लेख है। **सुवर्णसप्तशास्त्र** (२३) में यथाकामावसायित्व ऐश्वर्य मान्य है। यद्यपि सर्वत्र अष्ट ऐश्वर्यों का ही उल्लेख है परन्तु सांख्यकारिका की टीका **माठरवृत्ति** (२३) में ९ ऐश्वर्य वर्णित हैं।

९. सूक्ष्म शरीर का स्वरूप

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पंचमहाभूत शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं[३०]। सांख्यकारिका में १८ तत्त्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर की संज्ञा दी गई है। ये १८ तत्त्व बुद्धि, अहंकार, मन दश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्राएँ हैं। चरकसंहिता में भूत चतुष्टय वाला ही लिंग शरीर स्वीकार किया गया है। "भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीलानिविशन्ति गर्भम्। स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति-याति ॥" (च. शा. २।३५)। आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुखदुःख रागद्वेषादि रहित है (च. शा. ४।३३) परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्ता, सुख दुःखरूप फलों का भोक्ता, रागद्वेष, कामक्रोध, जन्ममरण आदि से आविष्ट होता है (च. शा. २।३७)। इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) के अतिसूक्ष्म रूपों से होता है। सूक्ष्म शरीर के निर्माण में आकाश की गणना इसलिए नहीं की गई कि अवकाश (आकाश) प्रदान के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में उसकी विशेष क्रिया नहीं होती। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म में इन्द्रियातीत भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं (च. शा. २।३१)।

सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियाँ, रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त प्रवृत्तियां भी इस सूक्ष्म शरीर से ही रहती हैं।[३१] इस सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर या आतिवाहिक शरीर कहते हैं। आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श (संबंध) होने से इस शरीर को [illegible]शरीर भी नाम दिया गया है (च. शा. ३।१६ पर चक्रपाणि)।

सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र (४०) में बुद्धि, अहंकार, तथा पंचतन्मात्रा इन सात तत्त्वों को ही सूक्ष्म शरीर का घटक स्वीकार किया गया है। आचार्य गौडपाद (४०) इन सात तत्त्वों में मन को जोड़कर आठ तत्त्व मानते हैं।

१०– मोक्ष हेतु ज्ञान :

मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान के स्वरूप में भी कुछ अंश तक (सर्वत्र नहीं) सांख्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों से चरक संहिता का सांख्य से भेद है। सांख्यकारिका (६४) में ज्ञान निरूपण इस प्रकार है – एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ यहाँ पर कहे गये ज्ञान (विवेकज्ञान) के हो जाने पर संसार से पृथक्ताबुद्धि हो जाती है। किन्तु चरकसंहिता में तो 'लोके वितथमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः। परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति। (च. शा. ५।२०) कहा गया है। इस प्रकार चरक का भी मोक्षमूलक ज्ञान ऐकात्मवादी अथवा अद्वैतवाद का समर्थन करता है।

११-- काल का पदार्थ स्वीकार :

सांख्यकारिका में कहीं भी काल का महत्त्वपूर्ण वर्णन नहीं मिलता। अधिकतर काल को स्वीकार किया ही नहीं गया है। ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य के रचनानुपपत्त्याधिकरण में (२.२.१) प्रथम सूत्र के अन्त में (सांख्य कालस्यानंगीकारात्) सांख्य द्वारा काल के स्वीकार न किये जाने का उल्लेख है। वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहा है कि (सांख्यतत्त्वकौमुदी - ३३) वैशेषिकों को जो काल मान्य है वह एक अखण्ड होने के कारण भूत, भविष्यत् इत्यादि व्यावहारिक भेदों का निर्वाह करने में असमर्थ है। इसलिए यह काल जिन उपाधियों से भविष्यत् आदि व्यवहारों को प्राप्त होता है, उन उपाधियों को ही इन व्यवहारों का कारण मान लिया जाय तो काल के रूप में व्यर्थ ही एक पृथक् तत्त्व क्यों

माना जाय ? इस कारण सांख्य में काल को चतुर्विंशति तत्त्वों से भिन्न नहीं माना जाता ।

चरक काल की महत्ता का प्रतिपादन करता है (३२)। सुश्रुत (शा. १.१५) ने तो काल को प्रकृति का पर्याय कहकर यह सिद्ध किया है कि आयुर्वेद के पृथुदर्शी व्यक्ति प्रकृति को काल भी मानते हैं। भेल ने सुश्रुत के समान प्रकृति के सात पर्याय न मानकर केवल स्वभाव एवं काल ये दो ही पर्याय माने हैं।

बी, १७।८६ तिलभांण्डेश्वर
वाराणसी
(उ. प्र.)

— उषा कुशवाहा

टिप्पणियाँ

१ च सू. २५. १४
२. महा. १२. ३०. १०८
३. च. शा. १. १७
४. वही १. ६३
५. कृत्यकल्पतरु मोक्ष काण्ड, पृ. १६५, महा. १२. ३१८. ७२
६. च. शा. ५. ४
७. महा. १२. ३२३. ७२; ३२८. ८
८. महा. १२. १२०. १२
९. भेलसं. शा. ५. ६
१०. च. शा. १. १६३
११. काश्यपसं. ७९
१२. सु. शा. १. ५
१३. भेलसं. वि. ४. १०
१४. शरीरेन्द्रियात्मसत्त्वसमुदयं पुरुषमाचक्षते । काश्यपसं ७९
१५. सु. शा. १. २०
१६. याज्ञ. ३. ४. ६९
१७. च. शा. १. ७०-७३, काश्यपसं. ७९

१८. सु. शा. १. २२
१९. सां. का. २२, सु. शा. १. ४-७
२०. च. सू. २५. १५
२१. च. शा. १. १६ पर चक्रपाणि
२२. सु. सू. १. १२
२३. च. सू. २५. ५
२४. च. शा. ४. ८
२५. सु. सू. ३. १७
२६. च. शा. १. ३९-४५
२७. च. सू. ८. १४
२८. सु. शा. १. ५, १८
२९. सु. चि. २९. १३
३०. काश्यपसं. ७९
३१. च. शा. ४. ३७-९, सु. शा. ४. ८१-९७
३२. च. वि. ८. १२५
३३. भेलसं. वि. ४. १०

भेदाभेद विषयक अनेकान्त दर्शन का तुलनात्मक परिशीलन

प्रायः भेदाभेद-विषयक अनेकान्त को लेकर यही मान लिया जाता है कि इस परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन एकाकी महत्त्व रखता है। वस्तुतः किसी न किसी रूप में अन्य दर्शनों के भी पदार्थ विवेचन में भेदाभेद का अनेकान्त स्थापित पाया जाता है और उनमें परस्पर एतद् विषयक ऐकमत्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ, जैन दर्शन पर्याय एवं द्रव्य में नयभेद से भेदाभेद की व्यवस्था देता है। तदनुसार द्रव्यार्थिक नय से पर्यायों एवं द्रव्य में अभेद है, इसके विपरीत पर्यायार्थिक नय लेने पर दोनों में भेद ही रहता है। अकलङ्ड ने एवकार जोड़कर सप्तभङ्गी की व्यवस्था दी है, अतः 'द्रव्यार्थिक नयेनाभेद एवं पर्यायार्थिक नयेन भेद एव' दोनों के परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ भेदाभेद 'अवक्तव्य' बन जाता है किन्तु क्रमशः लेने पर स्याद्भेद एव तथा स्यादभेद एव की व्यवस्था हैं। इस प्रकार की नयव्यवस्था कुमारिल के मीमांसादर्शन तथा मध्वाचार्य के द्वैतवेदान्त में नहीं है। कुमारिल ने समवाय को अभेद रूप माना है। अतः भेद तथा अभेद की साथ-साथ प्रतीति हो सकती है। एक साथ प्रतीयमान तत्त्वयुगल में नैसर्गिक भेदाभेद को कुमारिल ने स्थापित किया है। इसके भी विपरीत माध्वदर्शन की स्थापना है कि जहाँ आश्रय में आश्रित पदार्थ खण्डरूप से प्रतीत होता है वहाँ अभेदसहिष्णु भेद अथवा भेद सहिष्णु अभेद रहा करता है। किन्तु नित्यपदार्थों में खण्ड प्रतीति नहीं होती, अतः व्यवहारतः भेद दिखने पर भी तत्त्वतः नित्य अभेद रहता है। इस प्रवेशिका के साथ इन तीनों दर्शनों का विवरण यहाँ किया जा रहा है।

कुमारिल मीमांसा दर्शन --

इस प्रस्थान में जातिव्यक्ति, अवयव और अवयवी तथा गुण और गुणी आदि में भेदाभेद की व्यवस्था की गई है। कुमारिल का मन्तव्य है[1] कि अवयवी

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

को अवयवों से, गो से महिष के समान, अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार व्यक्तियों से भिन्न रूप में जाति की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अवयवों से भिन्न अवयवी की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि अनेक तन्तु स्वरूप अवयव ही परस्पर विशेष प्रकार के संयोग से युक्त होकर 'एक-द्रव्यत्व' को प्राप्त करने के बाद 'पटोऽयम्' इस प्रतीति के द्वारा गृहीत होते हैं। अतः अवयवों से अवयवी में अवस्था का ही भेद है। परस्पर संयोग-विशेष भावापन्न तन्तु ही पट कहलाते हैं। उक्त प्रकार के विशेष संयोग से रहित विश्लिष्ट 'तन्तु' ही तन्तु कहलाते हैं।

सांख्याचार्य अवयवों से अवयवी को अत्यन्त अभिन्न मानते हैं जबकि वैशेषिकादि अवयवी को अवयवों से, गो से महिष के समान, अत्यन्त भिन्न स्वीकार करते हैं। दोनों की ही युक्तियाँ समान बलशालिनी हैं। अतः अवयवी को अवयवों से भिन्न भी कहा जा सकता है और अभिन्न भी। इस प्रकार ये 'एकान्तवादी' आचार्य ही 'अनेकान्तवाद' को जन्म देते हैं। अतः इस प्रसंग में तटस्थ रहना ही अच्छा है। जिस प्रकार अनेक वर्णों वाले चित्रपट में अनेक रूपों की सत्ता रहते हुए भी पट को किसी एक वर्ण का नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार यह कहा जाता है कि अवयवी अवयवों से न अत्यन्त भिन्न ही है, न अत्यन्त अभिन्न ही है। दोनों में से एक को ही स्वीकार न करने पर भी प्रामाण्य सन्दिग्ध नहीं होता क्योंकि वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है। जहाँ ज्ञान पर सन्देह होता है वहाँ अप्रामाण्य स्थापित है किन्तु अनैकान्तिक वस्तु के भेदाभेदात्मक स्वरूप का ज्ञान उसी रूप से निश्चित होता है।

पार्थसारथि मिश्र ने भेदाभेद की सिद्धि के लिए पूर्वपक्ष की उक्तियों का खण्डन करके अपने मत की उपस्थापना की है —

(१) जो विचारक सामान्य का विरोध इस तर्क से करते हैं कि जाति तथा जातिमान् में भेद तथा अभेद का विकल्प नहीं बनता है, उनको यह अवश्य ही मानना पड़ता है कि जो वस्तु है वह भिन्न या अभिन्न होती है। सामान्य को यदि वस्तु कहेंगे तो वह भी भिन्न या अभिन्न होगी। दोनों ही प्रकार भेद तथा अभेद — एक साथ नहीं रह सकते, अतः सामान्य अवस्तु है। जो आचार्य ऐसा मानते हैं उनको सामान्य का वस्तुत्व भी स्वीकार करना चाहिए अन्यथा जब वस्तुत्व भेदाभेद से व्याप्त है तब व्यापक भेदाभेद की अनुपलब्धि के आधार पर सामान्य के वस्तुत्व की असंभावना भी नहीं कही जा सकेगी।[३]

(२) पूर्वपक्ष की यह उपस्थापना है कि यदि जातिरूप से व्यक्ति की प्रतीति होती है तो दोनों में अभेद ही है, तब भेद की स्थापना असंगत है। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि किसी गाय को जब शाबलेय तथा अन्य को बाहुलेय कहा जाता है तब गवाकार की उभयत: अनुवृत्ति है। किन्तु शाबलेय तथा बाहुलेय आकारों की व्यावृत्ति स्पष्ट प्रतीत है। यदि शाबलेयाकार एवं गवाकार में सर्वथा अभेद होता तो एक की अनुवृत्ति या व्यावृत्ति से दूसरे की भी अनुवृत्ति या व्यावृत्ति पाई जाती। ऐसी स्थिति में कथंचिद् अभेद के रहने पर भी कथंचिद् भेद व्यवस्थित है।[३]

(३) व्यक्ति की जातिरूपता समवाय सम्बन्ध का स्वरूप है। आधेयभूत जाति अपनी बुद्धि से आधारभूत व्यक्ति को उपरञ्जित कर लेती है। अत: अभेद में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। तादात्म्य प्रतीति से अभेद और व्यावृत्त प्रतीति से भेद की व्यवस्था है। अत: भिन्नाभिन्नत्व ही युक्तिसंगत है। यहाँ समवाय सम्बन्ध एवं तादात्म्य प्रतीति को पर्याय स्वीकार किया गया है जो न्यायवैशेषिक के अयुतसिद्ध सम्बन्ध रूप समवाय से भिन्न है।[४]

(४) पूर्वपक्षियों की यह विप्रतिपत्ति है कि भेद तथा अभेद परस्पर विरुद्ध होने से एक धर्मी में कैसे रह सकते हैं। यह उचित नहीं है क्योंकि जब दोनों का एकत्र सहभाव देखा जाता है तब विरोध कहां उपस्थित होता है? 'यह रजत है किन्तु वह रजत नहीं है' में भेद तथा अभेद परस्पर मर्दन करके ही प्रतीत होते हैं। 'यह गाय' में दो प्रतीतियाँ पर्यायता के बिना भासित हैं - इदन्त से गोपिण्ड पृथक् प्रतीयमान है। इससे एक वस्तु की द्विरूपता स्थापित है। सामानाधिकरण्य से अभेद और अपर्यायता से भेद की प्रतिपत्ति में विरोध नहीं है।[५]

(५) सापेक्षता रहने से भी भेदाभेद की व्यवस्था है। गोरूप से निरूपित जाति के साथ व्यक्ति का अभेद है कि यह गाय शाबलेय है — शाबलेय व्यक्ति एवं गोत्वजाति में स्पष्ट अभेद है। परन्तु जब अन्य व्यक्ति के रूप से जाति का विवेचन होता है तब भेदप्रतीति अवश्यंभावी है कि शाबलेय गोपिण्ड बाहुलेय नहीं है।[६]

अवयवी का स्वरूपत: अवयवों के साथ अभेद है किन्तु अन्य अवयव के रूप से अन्य अवयवों के साथ भेद भी व्यवस्थित है।

६. प्रभाकर तथा न्याय वैशेषिक के भेदभाव की उपस्थापना को निराधार बताते हुए उन्होंने पुन: कहा कि— वस्तुद्वयप्रतीति ही भेदप्रतीति नहीं हो सकती

और एक वस्तुप्रतीति ही अभेद प्रतीति नहीं कही जा सकती । किन्तु अन्यथा बुद्धि भेदावभास और अनन्यता बुद्धि अभेदावभास है । शावलेय एवं बाहुलेय के एक साथ प्रत्यक्ष में अभेदावभास होता है कि यह गाय है और यह भी गाय है । इसके साथ ही भेदावभास भी होता है कि शावलेय से बाहुलेय अन्य है । इन प्रमाणों से भिन्नाभिन्नत्व की उपपत्ति होती है ।[७]

कुमारिल तथा पार्थसारथि मिश्र के निर्वचन को लेकर ही आचार्य नारायण[८] तथा गागाभट्ट[९] ने भेदाभेद को प्रतिष्ठित किया है, जो लगभग समान है ।

अनेकान्त के आश्रय से ही भेदाभेद प्रवृत हुआ है जिसमें वस्तु की अनेकधर्मता मान्य है । किन्तु यह जैनों का अनेकान्तवाद भी नहीं है जिसके अनुसार नयभेद से भेदाभेद की पृथक् व्यवस्था है । यहाँ दोनों धर्म साथ-साथ रहते हैं ।

इस प्रकार अवयव तथा अवयवी में गुण तथा द्रव्य में और क्रिया तथा द्रव्य में भेदाभेद स्थापित है । न्यायदर्शन जहाँ अयुतसिद्ध स्वीकार करता है वहीं समवाय की नवीन परिभाषा देकर कौमारिल दर्शन भेदाभेद स्थापित करता है । यह अनेकान्त की स्वीकृति है जिसे कुमारिल ने प्रथमतः व्यवस्थित किया है ।

द्वैतवेदान्त (माध्वदर्शन)

इस दर्शन में गुण, क्रिया, जाति, (शक्ति एवं सादृश्य) आदि सभी धर्म वस्तु के स्वरूप माने गये हैं । उनके दो भेद हैं–[१०]

१. यावद्द्रव्यभावी– वह धर्म जो द्रव्यविशेष की सत्तापर्यन्त उस द्रव्य में रहते हैं ।

२. अयावद् द्रव्यभावी– जो द्रव्य के रहते हुए भी कारणवश नष्ट हो सकते हैं । इसको खण्डित कहते हैं ।

खण्डित वर्ग के गुणादि का द्रव्य के साथ भेद तथा ऐक्य होता है किन्तु यावद्द्रव्यभावी का अभेद ही विवेचित है । यहाँ पर गुण-गुणी क्रिया-क्रियावान्, जाति एवं व्यक्ति, विशेषण एवं विशेष्य, अंश एवं अंशी आदि में भेदाभेद की स्थापना प्रतिष्ठित है ।[११]

१. गुण और गुणी– कार्यद्रव्य विकार तथा उसका उपादान द्रव्य विकारी है जिनमें विकार विकारी का खण्डित रूप होने से भेदाभेद ही स्थापित है ।

पटादिरूप उपादेयद्रव्य कार्य है तथा तन्त्वादिरूप उपादानद्रव्य कारण है जिनमें भी यथावत् भेदाभेद है।

२. क्रिया और क्रियावान्– पट तथा चलनक्रिया में भेदाभेद है क्योंकि पट के रहते भी सर्वदा चलनक्रिया की उपलब्धि न होने से अयावद्द्रव्यभावित्व सिद्ध है। चेतन आत्मा तथा उसकी क्रिया में अत्यन्त अभेद है क्योंकि वह क्रिया भी नित्य है।

३. जाति तथा व्यक्ति-- ब्राह्मणत्व तथा पिण्ड में भेदाभेद है क्योंकि पिण्ड के यथावत् रहने पर भी महापातक से ब्राह्मणत्व जाति का नाश हो सकता है। घटत्व का घट के साथ अत्यन्ताभेद है क्योंकि घटत्व यावद्द्रव्यभावी जाति है।

४. विशेषण और विशेष्य-- विशिष्ट एवं शुद्ध विशेषण द्रव्य के विषय में भी द्विधा व्यवस्था है-- 'अग्निमान् पर्वत' में 'अग्निमान्' विशिष्ट और पर्वत शुद्ध विशेष्य है जिनमें भेदाभेद है क्योंकि अग्निरहित पर्वत होता है। परन्तु सर्वज्ञ विष्णु में अत्यन्ताभेद है क्योंकि शुद्ध विशेष्य विष्णु से सर्वज्ञत्व विशिष्ट का कभी पार्थक्य नहीं होता।

५ अंश और अंशी-- अंशी के एक अंश को लिया जाय तो दोनों में भेदाभेद है क्योंकि एकांशरहित अंशी रह सकता है किन्तु सभी अंशों के साथ अंशी का अत्यन्ताभेद है क्योंकि उनके बिना अंशी नहीं रह सकता। अतः सर्वांश यावद्द्रव्यभावी धर्म है। मध्वाचार्य ने उपादान कारण से पृथक् अंश का तथा उपादेय कार्य से पृथक् अंशी का उल्लेख करके स्पष्ट कर दिया है कि तन्तुरूप उपादान से पृथक् खण्ड पटरूप अंश की सत्ता है जिसकी प्रत्यक्ष रूप से व्यावृत्त-प्रतीति होती है।[१२]

ऊपर कार्यकारणादि में जो भेदाभेद तथा अत्यन्ताभेद सिद्ध किया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समवायरूप नित्य सम्बन्ध नहीं है और यह भी निरस्त है कि गुणादि अनेकाश्रित रहते हैं तथा जाति नित्य है। जाति की नित्यता मानने पर सबका अभेद प्रसक्त है। अतः गुणादि के समान जाति भी कभी अयावद्द्रव्यभावी होती है।

मीमांसा में समवाय को स्वाभिमत परिभाषा दी गई है किन्तु यह दर्शन उसे सर्वात्मना तुच्छ मानता है।

जैनदर्शन -

जैनदर्शन में न तो कुमारिलभट्ट के समान अनेकान्त स्वीकृत है जहाँ तादाम्यरूप समवाय सम्बन्ध से अभेद को सिद्ध किया गया है और न ही माध्व प्रतिपादित यावद्द्रव्यभावित्व तथा अयावद्द्रव्यभावित्व की व्यवस्था है। इससे पृथक् यहाँ पर्याय और पर्यायी के भेदाभेद को सापेक्ष अनेकान्त दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

जिस प्रकार घट, कपाल, सकोरा आदि पर्यायों में मृद्रूप द्रव्य की दृष्टि से कथञ्चित् एकत्व है और इन घट आदि पर्यायों की दृष्टि से विभिन्नता है उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानादि गुणों में द्रव्यदृष्टि से एकता है तथा गुण और गुणी की दृष्टि से भिन्नता है। मृत्तिका से भिन्न घटादि पर्यायों की सत्ता न होने से एकत्व स्थापित है किन्तु पर्यायी मृत्तिका द्रव्य एवं पर्याय घटादि में भेद-व्यवहार से अन्यत्व भी पाया जाता है। इसी तरह आत्मा तथा उसके ज्ञानादि पर्यायों में पर्यायार्थिक की गौणता में अनर्पण तथा द्रव्यार्थिक की प्रधानता में अर्पण होने पर चैतन्य जीव तथा द्रव्यादि रूप से एकत्व है क्योंकि ज्ञानादि पर्याय अनादि परिणामिक चैतन्यादि द्रव्यरूपता नहीं छोड़ते। उन्हीं चैतन्यादि को यदि अन्य प्रकार से देखा जाय कि द्रव्यार्थिक की गौणता तथा अनर्पण हो और पर्यायार्थिक की प्रधानता तथा अर्पण हो तो अन्यत्व होगा क्योंकि ज्ञानरूप पर्याय तथा दर्शनादि पर्याय भिन्न है।[13] ऐसी स्थिति में आत्मा के साथ ज्ञानादि पर्यायों का स्यात् एकत्व तथा स्यात् भिन्नत्व निरूपित है। इसमें सप्तभङ्गी का स्वरूप निम्न प्रकार बनता है -

१. पर्यायार्थिक नय से– स्यात् ज्ञानादयः आत्मनो भिन्नाः।
२. द्रव्यार्थिक नय से– स्यात् ज्ञानादयः आत्मनः अभिन्ना।
३. दोनों नयों को क्रमशः लेने पर– स्यात् ज्ञानादयः आत्मनो भिन्ना अभिन्नाश्च।
४. दोनों के यौगपद्य में– स्यादवक्तव्यम्।
५. पर्यायार्थिक के पश्चात् दोनों के यौगपद्य में– स्यात् ज्ञानादयः आत्मनो भिन्ना अवक्तव्यं च।
६. द्रव्यार्थिक के पश्चात् दोनों के यौगपद्य में– स्यात् ज्ञानादयः आत्मनः अभिन्ना अवक्तव्यं च।
७. दोनों नयों के क्रम तथा यौगपद्य में– स्यात् भिन्नाश्चाभिन्नाश्चावक्तव्यं च।

जैनदर्शन में कर्ता और करण में ऐकान्तिक अभेद माना गया है क्योंकि वृक्ष में इस नियम की अव्याप्ति है। परशु आदि के द्वारा प्रासाद की रचना में कर्ता तथा कारण में भिन्नता है किन्तु शाखाभार से वृक्ष के टूटने में वैसी भिन्नता नहीं है। क्योंकि शाखाभाररूप करण से वृक्ष रूप कर्ता की भिन्नता या पृथक् सत्ता ही नहीं है। अतः आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्ता और करण बन जाता है।

पर्यायवाची शब्दों को लेकर भी भेदाभेद विवेचित है। जैसे एक ही देवराज इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायों को धारण करता है। इन्दन क्रिया के समय इन्द्र, शासन क्रिया के समय शक्र और पूर्दारण क्रिया के समय पुरन्दर कहा जाता है। एक ही देवराज उन तीन अवस्थारूप होता है, इसलिए वह देवराज से सर्वथा भिन्न नहीं है, उसी तरह एक ही आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि अवस्थाओं से कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। अतः ज्ञानादिक को आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है।

दर्शनत्रय की भेदाभेद स्थापना का रूप एक नहीं है। कुमारिलमीमांसा के अनुसार उभयता प्रतीति तथा व्यवहार के अधीन जाति-व्यक्ति, कार्यकारण, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् तथा अवयवावयी भेदाभेद प्रतिष्ठित है। आत्मा के गुणों में भी आत्मा विकारी होने से, ये प्रतिष्ठित हैं।

इससे पृथक् व्यवस्था माध्ववेदान्त में है। इस दर्शन में समवाय को नित्य सम्बन्ध नहीं माना गया है किन्तु यावद्द्रव्यभावीगुण, क्रिया, जाति, विशेषण, अंशी तथा कार्य अपने आश्रयों में अत्यन्त भेदपूर्वक रहते हैं। तथा अयाद्द्रव्यभावी गुणादि तथा आश्रय में भेदाभेद रहता है।

इन दोनों दर्शनों में घटपटादि का भेद आत्यन्तिक है किन्तु उक्त स्थलों में भेद के साथ अभेद का विरोध नहीं है।

जैन दर्शन में पर्यायार्थिक नय से भेद तथा द्रव्यार्थिक नय से अभेद की व्यवस्था है। अपितु नय के द्वारा जहाँ भेद या अभेद की प्रतिप्रत्ति होगी वहाँ यौगपद्य अपनाने पर अव्यक्तता सिद्ध होती है क्योंकि दोनों के विरोधी धर्म एकान्ततः एक साथ नहीं रह सकते। भेद और अभेद का अनेकान्त अलग-अलग भी है और एक साथ भी है। तीनों ही दर्शनों में माध्वदर्शन आत्मा को अपरिणामी मानता है। अतः उसके धर्मों का नित्य अभेद है। परन्तु शेष दोनों दर्शनों में आत्मा विकारी है, अतः उसके साथ उसके गुणादि का भेदाभेद स्वीकृत है।

— कृष्णा जैन

संस्कृत विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर- ४७०००३
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. श्लोकवार्तिक, वनवाद ७५–८०
२. शा. दी., पृ. २०१
३. शा. दी. , पृ. २०३–४
४. शा. दी., पृ. २०४
५. शा. दी., पृ. २०४–५
६. शा. दी., पृ. २०६
७. शा. दी., पृ. २०७
८. भाम. पृ. २३४–५
९. भा. चि., पृ. १८
१०. द. प्र. भाग ३, पृ. ७२–७३, मध्व ९–१२
११. वही, जयतीर्थ
१२. वही, पृ. ७५
१३. तं. वा. १/१/१९–२८

प्रस्थानत्रयी में निहित एकता

भारतीय दर्शन में वेदान्त दर्शन की महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार प्रस्थानत्रयी (श्रुति प्रस्थान–उपनिषदें, तर्क–प्रस्थान– ब्रह्मसूत्र और स्मृति प्रस्थान– भगवद्गीता) है। तीन अलग-अलग ग्रन्थ होने के कारण तथा विभिन्न लेखकों तथा भिन्न-भिन्न कालों में रचित होने के कारण यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इनमें किसी एक दर्शन की स्थापना हुई है ? वास्तव में उपनिषद् अनेक लेखकों द्वारा प्रणीत हैं। प्राचीन और परवर्ती उपनिषदों के रचना काल में शताब्दियों का अंतर है। अतः उनमें भिन्नता होना स्वाभाविक है। उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है कि मुक्ति कर्मकांड से नहीं बल्कि ज्ञान से संभव है। किन्तु, ज्ञान के स्वरूप पर भी उपनिषदों में मतभेद दीखता है। यहाँ तक कि विद्या और अविद्या की उपासना को लेकर एक ही उपनिषद् के एक ही वाक्य में अस्पष्टता झलकती है[१] कहीं-कहीं एक ही उपनिषद् के दो वाक्यों के उद्देश्य भी भिन्न भिन्न दिखायी देते हैं। उपनिषदों में इसी कारण विभिन्न मतों के बीज यत्र–तत्र बिखरे दृष्टिगत होते हैं। कहीं पता चलता है कि इनमें भौतिकवाद की स्थापना हुई है तो कहीं अध्यात्मवाद की।[२] इसी तरह एकेश्वरवाद[३] वस्तुवाद,[४] द्वैतवाद,[५] निमित्तेश्वरवाद,[६] की स्थापना मिलती है।

मानवेन्द्र नाथ राय का कहना है कि उपनिषदों में भौतिकवाद का विकास हुआ है। इसके लिए वे स्वसम्वेद्योपनिषद् को उधृत भी करते हैं। उनके कथनानुसार उपर्युक्त उपनिषद् अठारह मुख्य उपनिषदों में से एक है, जिसमें ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है, भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त किसी भी चीज की सत्ता नहीं है, इस संसार के परे कोई अन्य संसार नहीं है।[७] वे स्वसंवेद्योपनिषद् के दृष्टिकोण को निम्न ढंग से प्रस्तुत करते हैं – न अवतार है, न ईश्वर है, न स्वर्ग है, न नरक है, सभी धार्मिक ग्रन्थ आदि मूर्खों की कृतियां हैं।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

किन्तु स्वसम्वेद्योपनिषद् का तात्पर्य वह कदापि नहीं है जो राय ने समझा है । पहली बात तो यह है कि राय ने इस उपनिषद् को १८ प्रामाणिक उपनिषदों में गिना है, जो कि सर्वथा असमीचीन प्रतीत होता है । उक्त उपनिषद की गणना अर्वाचीन उपनिषदों के अन्तर्गत करणीय है । दूसरी बात, इसमें भौतिकवाद नहीं, अपितु अद्वैतवाद का प्रतिपादन हुआ है । अद्वैत के अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है । अतः ब्रह्म से भिन्न परमार्थतः समस्त वस्तुएँ मिथ्या हैं । इसी संदर्भ में उक्त उपनिषद् में न ब्रह्मा हैं, न विष्णु हैं, न रुद्र हैं, न ईश्वर हैं, न पाप है, न पुण्य है, इत्यादि कहा गया है । गौड़पाद ने तो यहाँ तक तक कहा है –

> न निरोधो, न चोत्पत्तिर् न बद्धो न च साधकः ।
> न मुमुक्षुर् न वै मोक्षः इत्योषा परमार्थता ।। [९]

इस तथ्य को न समझकर एम्० एन्० राय ने उपनिषद् की विचार धारा का भ्रमपूर्ण अर्थ लगाया है ।

ऐसा समझा जाता है कि उपनिषदों में वास्तव में अध्यात्मवाद की स्थापना हुई है, फिर भी ऐसे वाक्य भरे पड़े हैं जिनके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप, जीव, जगत् से ब्रह्म के संबंध, मोक्ष प्राप्ति के साधन तथा मुक्ति के स्वरूप में भिन्नता दीख पड़ती है । उन्हीं बातों के कारण वेदान्तदर्शन में कई सम्प्रदाय विकसित हुए तथा अन्य आस्तिक दर्शन भी यत्र-तत्र उपनिषदों को प्रमाण स्वरूप उधृत कर देते हैं । किन्तु वेदान्त दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा पूर्णतया उपनिषदों पर आधृत है, क्योंकि यह उपनिषदों को सर्वोच्च प्रमाण मानता है । वेदान्त का मुख्य लक्ष्य सर्वोच्च सत्ता का स्वरूप, जगत् का कारण तथा स्वरूप, जीव का कारण तथा स्वरूप, जीवन-मृत्यु का कारण, मोक्ष की प्राप्ति तथा स्वरूप की खोज करना है– जो कि उपनिषदों का भी लक्ष्य रहा है । वेदान्त दर्शन में उपनिषदें आशंका से परे हैं । किन्तु उपनिषदें स्वयं में विवादास्पद हैं । कुछ स्थानों पर कहा गया है कि आरम्भ में असत् था तो कुछ स्थानों पर कहा गया है कि आरम्भ में सत् था [१०] इसी तरह सृष्टि के संबंध में भी विभिन्न वर्णन हैं– कहीं सृष्टि का मूल अप् है [१२] कहीं मूल तत्त्व वायु है, कहीं अग्नि है, [१२] कहीं आकाश है [१३] । सृष्टिकर्ता में भी मतैक्य नहीं है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर है । प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति को सृष्टिकर्ता के रूप में देखा गया है । ऐतरेय उपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म को सृष्टिकर्ता माना गया है । मुण्डक उपनिषद् में सृष्टि का मूल कारण निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म दोनों को कहा गया है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि का मूलकारण सगुण ब्रह्म या ईश्वर माना गया है। सृष्टि के क्रम में भी विवाद है [१४]

इसी तरह परम सत्ता के स्वरूप पर भी मतभेद मिलता है। कहीं पर उसे निर्गुण, नेति–नेति कहा गया है; यह परब्रह्म है। कहीं पर उसे सगुण रूप में वर्णित किया गया है; यह अपर ब्रह्म है। परब्रह्म संबंधी ज्ञान को परा विद्या और अपर ब्रह्म संबंधी ज्ञान को अपरा विद्या कहा गया है। डायसन ने इन दोनों विद्याओं को एक दूसरे का विरोधी बतलाया है [१५] ब्रह्म को जीव व जगत् के संबंध को लेकर पर्याप्त भिन्नता दिखायी पड़ती है। कहीं परम तत्त्व को पूर्ण, एक माना गया है, तो कहीं उसमें बहुलता है तथा द्वैतवाद की मान्यता भी [१६] कहीं पर उपनिषदों में ब्रह्म को अन्तर्यामी कहा गया है [१७] तो कहीं पर परात्पर [१८]।

उपनिषदों को सुव्यवस्थित करने का काम बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में किया है। ब्रह्मसूत्र में मुख्य रूप से श्रुतियों में परिलक्षित विरोधों का परिहार किया गया है। चूंकि ब्रह्मसूत्र सूत्र रूप में हैं और कुछ सूत्र दुरूह हैं, इसलिए वे बिना व्याख्या के समझ में नहीं आते। किन्तु ब्रह्मसूत्र की व्याख्याओं में मतभेद हैं। किसी-किसी सूत्र को भिन्न-भिन्न अधिकरणों में विभक्त किया गया है, जिससे कई मतों की स्थापना में सहायता मिली है। कुछ सूत्रों के अध्ययन से यह भी पता नहीं चलता कि यह पूर्वपक्ष का है कि उत्तर पक्ष का है। उदाहरणार्थ सूत्र २/३ ९-२८ शंकर द्वारा पूर्वपक्ष में रखे गये हैं और सूत्र २/३/२९ सिद्धान्त के रूप में रखा गया है। जबकि रामानुज ने सूत्र २/३/१९ को सिद्धान्त के रूप में रखा है और सूत्र २/३/२०-२५ को अपने मत की पुष्टि तथा उठने वाले प्रश्नों के उत्तर देने में प्रयोग किया है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनसे भिन्न-भिन्न अर्थ निकलते हैं। उनमें निहित शब्दों के अर्थ भी कई हो सकते हैं। उदाहरणार्थ सूत्र २।३।१, 'न वियदश्रुते' में प्रयुक्त शब्द वियत् है, जिसका शंकर, रामानुज और निम्बार्क, 'उत्पद्यते' अर्थ निकालते हैं जबकि मध्व 'अनुत्पत्तिमत्' निकालते हैं। इसमें अधिभूत तत्त्व आकाश की उत्पत्ति के संबंध में विवाद है। पूर्व पक्ष के अनुसार आकाश की उत्पत्ति नहीं हुई है क्योंकि श्रुति (छा. उ. ६।२।३) में आकाश की उत्पत्ति के सन्दर्भ में नहीं कहा गया है। इस पर आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। इसीलिए थिबो का कहना है कि आकाश के सन्दर्भ में वेदान्ती स्पष्ट रूप में नहीं कह पाते हैं जबकि आकाश भी अन्य तत्त्वों के समान ही है। [१९]

ब्रह्मसूत्र के कुछ शब्दों के दो अर्थ लगते हैं, जैसे सूत्र २।३।१५ में प्रयुक्त

शब्द 'अन्तरा' है, जिसका अर्थ 'मध्य' और निषेधात्मक रूप में 'बिना' दोनों होता है। इस शब्द के कारण भी भाष्यकारों में मतान्तर है।

'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात्।' रामानुज और शंकर 'अन्तरा' शब्द का अर्थ 'बीच में' मानते हैं, जबकि मध्व 'बिना,' मानते हैं। शंकर के अनुसार मनादि ब्रह्म और आकाश के बीच में उत्पन्न हुए हैं अर्थात् आकाश के पहले उत्पन्न हुए हैं। रामानुज के अनुसार मनादि आकाश और तन्मात्रा के बीच में उत्पन्न हुए हैं। उनके विचार में तैत्तिरीय उपनिषद् में और मुण्डकोपनिषद् में तत्त्वों को एक दूसरे से उत्पन्न बताया गया है न कि सीधे ब्रह्म से। मध्व ने विज्ञानमनसी अन्तरा का अर्थ 'बिना (च्युत) क्रमेण लय: (अन्येषां)' किया है।[20]

इसी तरह शब्दों के पठन में भी भिन्नता पायी जाती है। उदाहरणार्थ सूत्र २/३/२६ को शंकर 'गुणाद्वालोकवत्' पढ़ते हैं जबकि रामानुज व मध्व 'गुणाद्वा अलोकवत्' पढ़ते हैं। अधिकरण प्रारम्भ करने के लिये भी सूत्रों को लेने में मतैक्य नहीं है। ये सभी कठिनाइयाँ सूत्रों की रचनाओं के कारण हैं। इसी लिए बी. एस. घाटे कहते हैं कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में कोई भी वेदान्त के सभी सम्प्रदायों के बीज पा सकता है। सभी आचार्यों ने अपना यह प्रथम कर्तव्य समझा कि इसके सूत्रों पर भाष्य करके अपने मतों की पुष्टि की जाय। व्याख्याकार यह समझने का प्रयास भी नहीं करते हैं कि सूत्रों का वास्तविक अर्थ क्या है, वे तो किसी भी तरह अपना दृष्टिकोण सिद्ध करना चाहते हैं।[21] भाष्यकारों का इस प्रकार का दृष्टिकोण ही ब्रह्मसूत्र को अधिक विवादास्पद बना देता है।

तृतीय प्रस्थान भगवद्गीता में भी परम सत्ता को ब्रह्म माना गया है। गीता जिस समय की रचना है उस समय दर्शनों में समन्वय की आवश्यता सम्भवतः प्रतीत हो रही थी।

गीता पर उपनिषदों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इसमें भी परमसत्ता के स्वरूप पर विस्तृत व्याख्या की गयी है। गीता का ब्रह्म मूर्तमान् है। इसमें अनेक स्थलों पर उपनिषद् के दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में परम सत्ता को अविकार्य, अव्यक्त और अचिन्त्य बताया गया है।[22] उसे कई स्थलों पर सत्-असत् से परे माना गया है।[23] उपनिषदों की ही भाँति परस्पर विरोधी विशेषणों से भी विभूषित किया गया है।[24] परम सत्ता उपनिषद् की अपेक्षा अधिक ठोस व व्यक्त रूप में गीता में उपस्थित है। गीता का ईश्वर पुरुषोत्तम है, जो अवतार भी लेते हैं। गीता में भी सृष्टि, आत्मा, जीव आदि को ईश्वर से

सम्बद्ध माना गया है। गीता में उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा नैतिक मूल्यों पर अधिक बल दिया गया है। नैतिक मूल्यों के अतिरिक्त गीता में भी उपनिषदों के विषयों की चर्चा है। बल्कि उपनिषदों की अपेक्षा ज्यादा व्यवस्थित तथा स्पष्ट रूप में उनका प्रतिपादन हुआ है।

इस तरह कुछ ऐसी बाते हैं जिनके कारण प्रस्थानत्रयी में किसी एक दर्शन के निरूपण के प्रति संदेह उठता है। इन ग्रन्थों को अलग-अलग लेने पर भी इनमें अपने आप में सर्वत्र एक ही मन्तव्य स्पष्ट नहीं मिलते हैं। संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं :–

१) श्वेताश्वतर उपनिषद् में त्रितत्त्व की स्थापना दिखाई पड़ती है, जबकि अन्य जगह अद्वैत या द्वैत की स्थापना दृष्टिगत होती है।

२) कहीं-कहीं जीव को अंश माना गया है और कहीं-कहीं जीव नित्य प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, भगवद्गीता तथा कठोपनिषद् में। अतः इसका ब्रह्म में विलय संभव नहीं है।

३) उपनिषदों की ध्वनि है कि जगत् सत्य है और कहीं नानात्व का अपलाप हो गया है, जिससे जगत् का अपलाप प्रतीत होता है।

४) प्राचीन उपनिषदों में मोक्ष की वैसी कल्पना नहीं है जैसी कि बाद के उपनिषदों में है। प्राचीन उपनिषदों में स्वर्ग जैसी कल्पना है, अपवर्ग जैसी नहीं।

किन्तु, प्रस्थानत्रयी में प्रतिपाद्य विषय का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो ऐसी बातें मुख्य नजर नहीं आती हैं। प्रथमतः प्रस्थानत्रयी के तीनों ग्रन्थ शुद्ध रूप में आध्यात्मिक हैं और इनके सर्वमान्य विषय सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म और मोक्ष हैं। जीव और जगत् ब्रह्म से संम्बद्ध तथा उसपर आधृत हैं। उपनिषदों की अनेकता के बावजूद प्रत्येक ने ब्रह्म को शुद्ध चेतन ही माना है और ब्रह्मसूत्र तथा गीता में भी परमसत्ता को चेतन ही स्वीकार किया गया है। इन तीनों ग्रन्थों का मूल उद्देश्य भी एक ही है और वह है मनुष्य को परम सत् का ज्ञान कराना तथा बन्धन से मुक्त कराना। इस दृष्टि से उपर्युक्त कमियाँ गौण हो जाती हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम समन्वय अध्याय माना गया है। समन्वय का अभिप्राय है, ठीक प्रकार से अन्वय। अर्थात् उपनिषद् वाक्यों में प्राप्त होने वाले ब्रह्म संबंधी उल्लेखों का समुचित अन्वय। वेदान्त वाक्य कहीं-कहीं

साक्षात् रूप से ब्रह्म के वाचक होते हैं और कहीं-कहीं परम्परा से। किन्तु, ब्रह्मसूत्रकार की मान्यतानुसार वे सभी ब्रह्म परक ही हैं। उपनिषद् वाक्यों में अनेक शब्दों द्वारा उस तत्त्व की ओर संकेत किया गया है। ऐसा लगता है कि परस्पर विरुद्ध दीखते वाक्यों में सूत्रकार समन्वय करना चाहते हैं।

प्रस्थानत्रयी का आन्तरिक दृष्टिकोण वास्तव में एकत्व का है, जो भी भेद दिखाई पड़ते हैं वे बाह्य हैं। चूंकि उपनिषदों में प्रतीकात्मक, सूत्र और निरुक्ति आदि विधियों का सहारा लिया गया है, इसलिए भी इनमें विभेद दिखाई पड़ता है।

विभिन्न उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें कहीं गयी बातें लगभग एक जैसी हैं। अर्थात् सभी में एक ही बातों का वर्णन किया गया है। सृष्टि संबंधी दृष्टिकोण को ही यदि लिया जाय तो मुख्यतया सभी का आशय है कि सृष्टि का कारण परम तत्त्व ईश्वर या ब्रह्म ही है।। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर है। प्रश्नोपनिषद् में भी प्रजापति और नारायणोपनिषद् में नारायण को कहा गया है। किन्तु, ये विभिन्न नाम ईश्वर के ही पर्यायवाची हैं या उनके विभिन्न रूपों को सूचित करते हैं। इसी तरह ऐतरेय उपनिषद् में सारी सृष्टि सिर्गुण ब्रह्म से कही गयी है। यही आशय तैत्तिरीय उपनिषद् का भी है। मुण्डकोपनिषद् में भी सृष्टि का मूल कारण निर्गुण ब्रह्म तथा साथ ही साथ सगुण ब्रह्म को भी माना गया है। सगुण और निर्गुण एक ही ब्रह्म के दो रूप श्वेताश्वतर उपनिषद्, ईश उपनिषद्, तथा मुण्डकोपनिषद् आदि में भी ब्रह्म को ही सृष्टि का कारण माना गया है। यही बात ब्रह्मसूत्र १/१ (जन्माद्यस्य यतः) से भी सिद्ध होती है। इसी तरह गीता १४/३ में ब्रह्म को सम्पूर्ण विश्व का कारण कहा गया है। अगर हम गौड़पाद के अजातिवाद के दृष्टिकोण को लें तो सृष्टि संबंधी अन्तर्विरोध दूर हो जाते हैं। सृष्टि संबंधी दृष्टिकोण को गहराई से देखने पर पता चलता है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास हुआ है।

तीन ग्रन्थ होने के बावजूद तीनों में लगभग एक ही बातें कहीं गयी हैं। परमतत्त्व के विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् २/३/१ में परब्रह्म और अपर ब्रह्म का वर्णन किया गया है। इसी तरह मुण्डक उपनिषद् २/२/९ में भी पर और अपर ब्रह्म में समन्वय मिलता है। भगवद्गीता ७/४-५ में भी ब्रह्म की परा और

अपरा प्रकृति के रूप में एक ही ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ कहा गया है। गीता में ब्रह्म के सगुण पक्ष पर अधिक बल दिया गया है फिर भी निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है।[२५] यथा "सारी विभक्त वस्तुओं में जो अविभक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, जो सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है, जो ज्योतियों में भी ज्योति एव अन्धकार से परे है, जो ज्ञाता और ज्ञेय है।" ध्यान से देखने पर भगवद्गीता के पुरुषोत्तम में उपनिषदों के ब्रह्म की सर्वेश्वरवादी धारणा और निर्गुण ब्रह्म के नेति नेति संबंधी विचारधारा का समन्वय मिलता है। ब्रह्मसूत्र के अनेक सूत्रों में भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म में एकता परिलक्षित होती है आत्मा की तुरीयावस्था का जैसा वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में (निर्गुण रूप में) किया गया है लगभग वैसा ही वर्णन केनोपनिषद् १/३ में भी मिलता है।

इसी तरह आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कई उपनिषदों में हुआ है। तथा सोहऽम्[२६] अहम् ब्रह्मास्मि[२७], तत्त्वमसि[२८] और अयमात्माब्रह्म[२९] इसी तरह एकमात्र सत्ता ब्रह्म की है, का उल्लेख कई श्रुतियों में है – जैसा – एकमेवादितीयम्[३०], सर्वं खल्विदं ब्रह्म[३१] नेह नानास्तिकिंचन[३२] आत्मावाइद्मेकएवाग्र आसीत्[३३], सर्वं खल्विदम् ब्रह्म की बात को गीता "वासुदेवः सर्वमिति' कहकर कहती है।

भगवद्गीता उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र में उठनेवाले विभेद संबंधी बातों में समन्वय करती प्रतीत होती है। उसका मोक्ष संबंधी दृष्टिकोण विभिन्न मार्गों में एकत्व की स्थापना करता प्रतीत होता है। उसका तत्त्वदर्शन भी निर्गुण और सगुण, जो कि प्राचीन उपनिषदों का ब्रह्मवाद और परवर्ती उपनिषदों का ईश्वरवाद है, में समन्वय प्रस्तुत करता है। उपनिषदों के 'द्वासुपर्णा' जैसा ही दृष्टिकोण गीता 'द्वाविमौ' का भी ले सकते हैं। गीता में भी भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग तीनों का वर्णन किया गया है, इनके बीज यत्र - तत्र उपनिषदों में भी दृष्टिगत होते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता तीनों में एक ही बात को विभिन्न तरीकों से कहने का प्रयत्न किया गया है। तत्कालीन देश–काल एवं परिस्थितियों के अनुसार ही दर्शन का निरूपण होता है। अतः थोड़ी–बहुत भिन्नता आना स्वाभाविक है, जो कि त्याज्य है। वस्तुत. प्रस्थानत्रयी में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व की तथा उसके साक्षात्कार की बातें किसी न किसी रूप में की गयी हैं जो कि विभिन्न ऋषियों की अनुभूतियाँ हैं। प्रस्थानत्रयी

के व्याख्याकार अपने-अपने मतों के प्रतिपादन में जो तरीके अपनीते हैं उसी से ही विभेद दिख पड़ता है। इसलिए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रस्थानत्रयी में एकता निहित है।

— लक्ष्मीकान्त पाण्डेय

दर्शन विभाग
गोड्डा कॉलेज
गोड्डा–८१४१३४
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. ईश उपनिषद् ९।१२
२. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१।१, ४।१।७, श्वेताश्वर उपनिषद् ४।२२,
३. छा. उ. ४।४।१३, तै. उ. ३।१, मुण्डक उ. १/१/७
४. बृ. उ· ४/३/३५
५. श्वे. उ. १/९, १/६, ८/२, ४/६-७
६. श्वे. उ. ४/५
७. एम्. एन्. राय : " इन्डियन फिलासफी एण्ड राधाकृष्णन्, " फिलॉसफी ऑफ राधाकृष्णन्: सं. शिल्प, पृ. ५६१
८. स्वसम्वेद्योपनिषद् : उपनिषद् संग्रह : भाग. २, पृ. ६०-६२
९. माण्डूक्यकारिका, अलातशांति प्रकरण
१०. छा. उ. १९/१/१३; ६/२/३
११. बृ. उ. ५/५/१
१२. कठ. उ. २/५
१३. छा. उ. १/९/१
१४. तै. उ. २/१; मु. २/१/३
१५. पॉल डायसन, वेदान्त दर्शन, पृ. ९७
१६. श्वे. उ. १/९; मु. उ. ३/१/१
१७ छा. उ. ६/१३/१
१८. क. उ. २/५/११

१९. थिबो; वेदान्त सूत्र, भाग २
२०. व्यास तीर्थ, तात्पर्य चन्द्रिका
२१. व्ही. एस. घाटे, द वेदान्त पृ. ४७
२२. भगवद्गीता २/२९
२३. भगवद्गीता १३/१२; १३/१५ - १७
२४. ई. उ. ५ मु. उ. २/१/६ - ८ तथा गीता १३/१४; १३/३१
२५. भगवद्गीता १३/१५–१७
२६. कौषीतकी उपनिषद् १–६
२७ बृ. उ. १/४/१०
२८. छा. उ. ६/८/७
२९. बृ. उ. २/५/९
३०. छा. उ. ६/२/२
३१. बृ. उ. ६/१४/१
३२. बृ. उ. ४/४/१९
३३. ऐ. उ. २/१/१

एडमण्ड हुसर्ल की फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति

प्रस्तुत निबन्ध में फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति को हुसर्ल के दृष्टिकोण से समझने का प्रयास है। क्यों कि हुसर्ल फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन एवं पद्धति के प्रमुख विचारक एवं संस्थापक माने जाते हैं।

हुसर्ल ने दर्शन को आनुभविक तथ्यात्मक विज्ञानों और तात्त्विक विज्ञानों से पृथक् करते हुये शुद्ध तत्त्व विज्ञान के रूप में सुदृढ़ विज्ञान माना है। दर्शन तत्त्वों का निरपेक्ष अध्ययन करने के रूप में एक पद्धति है जो वस्तुओं के सार तत्त्व की खोज करता है।[1] दर्शन अपने प्रारम्भ काल से ही सत्यात्वेषण के रूप में विकसित हुआ है, जिससे निगमन, आगमन, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण आदि विधियों का विकास हुआ है। लेकिन ये विधियाँ सापेक्ष और अपूर्ण होने के कारण निरपेक्ष सत्य के अन्वेषण में असमर्थ रही हैं। परम्परागत दार्शनिक इन्हीं विधियों के सहारे दार्शनिक अन्वेषण में लगे रहे, और असफल होते रहे। निगमनात्मक विधि बौद्धिक प्रत्ययों तक ही सीमिती मानी जा सकती है तथा बौद्धिक प्रत्यय तथ्यों के अमूर्त प्रत्यय कहे जाते हैं जिन्हें निरपेक्ष तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। तत्त्व अमूर्त प्रत्यय न होकर चेतना में उपस्थित वास्तविक 'सार' रूप है। अतः निगमनात्मक विधि मात्र बुद्धि पर आधारित होने के कारण सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती है।

इसी प्रकार, अनुभवात्मक आगमन विधि इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित विशिष्ट वस्तुओं का निरीक्षण है। आगमन विधि विशेष वस्तुओं के अनुभव से सामान्य प्रत्यय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, लेकिन इन्द्रयानुभव से सामान्य प्रत्यय प्राप्त नहीं हो सकते। इसीलिये, आगमन विधि दर्शन की अपेक्षा प्रकृति विज्ञानों तक ही सीमित है। मनोवैज्ञानिक निरीक्षण का कार्य दर्शन के क्षेत्र में आ ही नहीं सकता, क्योंकि मनोवैज्ञानिक निरीक्षण मन की क्रिया का कारणात्मक निरीक्षण है, अर्थात् इस प्रकार का निरीक्षण इससे सम्बन्धित है कि भौतिक

वस्तुओं का ज्ञान मन के द्वारा किस प्रकार होता है एवं मन की प्रक्रिया का स्वरूप क्या है।

दर्शनिक सत्य की खोज के लिये इन अपूर्ण एवं सापेक्ष विधियों की अपेक्षा दर्शनिक पद्धति ही उपयोगी हो सकती है, जो किसी पूर्व मान्यता, प्राक्कल्पना पर आधारित न होकर अपने लक्ष्य को निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र रूप से प्राप्त कर सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब दार्शनिक विधि को न केवल बुद्धि पर आधारित निगमन का रूप दिया जाये और न ही इंद्रियानुभव पर आधारित आगमन का।[२] इसी कारण हुसर्ल दार्शनिक विधि के रूप में फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति को जन्म देता है। उसके अनुसार, केवल फेनॉमेनॉलॉजी की पद्धती ही सत्यान्वेषण में सफल हो सकती है, क्यों कि यह किसी पूर्व-मान्यता पर आधारित नहीं है।[३] फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति सभी पूर्व मान्यताओं, प्राक्कल्पनाओं का निषेध करके निष्पक्ष रूप से ज्ञान की प्रक्रिया का अध्ययन करती है और दर्शन को सुदृढ विज्ञान के रूप में स्थापित करती है। वस्तुओं के सार तत्त्वों के अध्ययन के लिये, ज्ञान की सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया तथा भौतिक स्थिति का निषेध करना आवश्यक है।

इस प्रकार यह प्रश्न उठता है कि भौतिक वस्तुओं की अनुपस्थिति में वस्तुओं के वास्तविक रूप की धारणा कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में हुसर्ल कहता है कि ज्ञान के क्षेत्र में वस्तुयें भौतिक रूप से न होकर आभास रूप चेतना में उपस्थित होती हैं, जैसे, गणित के अंक जो किसी भौतिक तथ्य से सम्बन्धित नहीं हैं, चेतन में तत्त्व रूप से उपस्थित रहते हैं। ज्ञान के सन्दर्भ में वस्तुओं को भौतिक रूप से आवश्यक मानना हमारा पूर्वाग्रह है। इसीलिये दर्शन अपने निरपेक्ष स्वरूप अर्थात् सुदृढ विज्ञान के रूप में स्थापित नहीं हो सका। हुसर्ल की दृष्टि में सुदृढ विज्ञान के रूप में दर्शन का लक्ष्य ज्ञान की समस्या का निदान है, अर्थात् यह जानना कि, ज्ञान की वह कौन सी अवस्था है जिसमें उसकी अन्तर्वस्तु की भावपरता और उसके स्वरूप की निश्चितता स्वतः प्रमाणित हो।[४] वास्तविक और निरपेक्ष ज्ञान वस्तुओं का "सार" या तत्त्व रूप है, जो भौतिक तथ्यों की तरह यथार्थ नहीं है, बल्कि भाव रूप में अस्तित्ववान् है जिसका ज्ञान अनुभव और बुद्धि की सीमा से परे विषयापेक्षी चेतना के द्वारा प्रस्तुत होता है। विषयापेक्षी चेतना के सन्दर्भ में उनकी निश्चितता स्वतः प्रमाणित है, क्योंकि तत्त्वात्मक वस्तुयें केवल बौद्धिक कल्पना मात्र नहीं है, अपितु वस्तुनिष्ठ रूप में वास्तविक हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि चेतना में जो कुछ आकस्मिक है उसका निषेध किया जाय।

अतः हुसर्ल फेनॉमेनॉलॉजी की पद्धति को डेकार्ट के सन्देह वाद से प्रारम्भ करते हैं। हुसर्ल के अनुसार, डेकार्ट वह प्रथम दार्शनिक है जिसने विशुद्ध तथ्य

को समझा और सन्देहवाद की पद्धति को स्वीकार किया। उसने सर्व प्रथम वाह्य जगत् से हटकर एवं समस्त पूर्वमान्यताओं, विश्वासों और सिद्धान्तों से मुक्त होकर आत्मचिन्तन एवं स्वयंसिद्ध सत्य को ढूंढ़ने का प्रयास किया।[५] लेकिन, डेकार्ट अपनी द्रव्यमूलक धारणा से आत्मा को संयुक्त करके उसे गलत दिशा दे देते हैं। इसी लिये फेनॉमिनॉलॉजिकीय पद्धति सन्देहवाद से प्रारम्भ होकर कई चरणों में विकसित हुई है।

प्रथम चरण के रूप में विच्छेद की विधि है जो निषेधात्मक है। इसका अर्थ कोष्ठीकरण या अलगाव है। विच्छेद विधि के द्वारा पूर्णतः तटस्थ भाव से किसी अनुभव अथवा उसके किसी भाव पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।[६] विच्छेद विधि का उद्देश्य यह है कि हम प्राकृतिक दृष्टिकोण, जो हमारे सामान्य चिन्तन को प्रभावित किये रहता है, के अर्थ को समझें। जिस वास्तविकता को आदिम प्राकृतिक दृष्टिकोण में हम अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार किये होते हैं उसी पर प्रश्न लगाकर पुनः विचार करें।

विच्छेद की प्रक्रिया सम्पूर्ण जगत् का कोष्ठीकरण करके हमें चेतना के अस्तित्व की ओर अभिमुख करती है और यह बताती है कि चेतना ही आत्मभाव है, ऐसी वस्तु का भाव जिसका अस्तित्व अनिवार्य है, और इसका निषेध नहीं किया जा सकता है। इस आत्म-तत्त्व से पुनः नये सिरे से अध्ययन किया जा सकता है।[७] हुसर्ल विच्छेद विधि द्वारा, एक अर्थ में जगत् का निषेध करने के बावजूद अनुभववादी होने का दावा करता है। जगत् का निषेध हो जाने पर वस्तुयें कल्पना से उत्पन्न नहीं होती हैं। वस्तुयें काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं, जिनका अनुभव चेतना में होता है। विच्छेद विधि द्वारा चेतना का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता है, चेतना तो विषयापेक्षी ही रहती है। यह तो चिन्तनकर्ता का का दृष्टि-परिवर्तन है। विच्छेद विधि निषेधात्मक है जिसके द्वारा समस्त जगत् तथा जगत् संबंधी ज्ञान का निषेध किया जाता है, लेकिन यह निषेध सत्तात्मक न होकर जगत् संबंधी धारणा का निषेध है। इस निषेध से समस्त पूर्ववर्ती विचार स्थगित हो जाते हैं[८] और स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप से वस्तुओं का निरीक्षण किया जा सकता है।

फेनॉमिनॉलॉजिकीय पद्धति के द्वितीय चरण के रूप में स्थगन विधि का विचार विच्छेद विधि की सम्पूर्ति के रूप में किया गया है। यह विधि वर्णनात्मक लक्ष्य की पूर्ति के लिए विधानात्मक है। इसके द्वारा आत्मा के वास्तविक एवं शुद्ध रूप का अनावरण होता है।[९] सम्पूर्ण जगत् का निषेध हो जाने पर यह विधि उस क्षेत्र को उद्घाटित करती है जिसमें वस्तुयें अनुभवातीत रूप से प्रकट होती

हैं। हुसर्ल के दर्शन का लक्ष्य वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन करना है और वस्तुएं वास्तविक रूप चेतना से संबंधित हैं, तथा समस्त प्रामाणिक ज्ञान का एक मात्र स्रोत चेतना ही है। अतः हुसर्ल वस्तु से आगे बढ़ कर शुद्ध चेतना को अपने दर्शन का लक्ष्य बनाते हैं। इस प्रकार हुसर्ल विज्ञानवादी होकर स्थगन विधि का विस्तार निषेधात्मक रूप से उप दो चरणों करते हुए प्रतीत होते हैं – तात्त्विक स्थगन और अनुभवातीत स्थगन। तात्त्विक स्थगन के द्वारा तात्त्विक विज्ञानों– जैसे, गणित, तर्कशास्त्र आदि का निलंबन करके अनुभव के प्रत्ययों का विश्लेपण करते हैं।[१०] तात्त्विक विज्ञान भी बुद्धि द्वारा निर्मित हैं जो वस्तुओं का निरपेक्ष अध्ययन करने में असमर्थ हैं,-इनका निराकरण आवश्यक है। तात्त्विक विज्ञानों के निराकरण के बावजूद शुद्ध एवं निरपेक्ष रूप से चेतना के विषयापेक्षी रूप में वस्तुओं के सार तत्त्वों का ज्ञान होता है जो चेतना में सापेक्ष रूप से उपस्थित रहते हैं। अनुभवातीत स्थगन का प्रयोग शुद्ध ज्ञाता के लिए होता है, इस विधि में अनुभूतिमूलक अनुभव के निरीक्षण के बजाय अनुभवातीत आत्मा का, जो सम्पूर्ण ज्ञान एवं जगत् का आधार है, का अनुभव होता है।[११] स्थगन विधि तात्त्विक जगत् का, जिसमें तर्कशास्त्र, गणित से संबंधित प्रत्यय भी शामिल हैं, निषेध या निलंबन कर देती है, अर्थात् शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ अन्य होता है उसको निलम्बित किया जाता है। यदि गणित और तर्कशास्त्र न भी रहें तो भी चेतना रहती है। समस्त तत्त्वों, प्रत्ययों और आभासों के निषेध के फलस्वरूप अनुभवातीत आत्मा अपने मूलरूप में प्रकाशित होने लगता है। यही स्थगन विधि की सीमा है क्योंकि शुद्ध आत्मा वह मूल बिन्दु है जहाँ से सभी फेनॉमेनॉलॉजिकीय क्रियाओं का उद्गम एवं नियन्त्रण होता है।[१२] शुद्ध आत्मा ज्ञान की आवश्यक शर्त है, जिसका विचार हर तत्त्वों, प्रत्ययों के निराकरण करने के बावजूद कर सकते हैं। यह तत्त्व या द्रव्य रूप नहीं है।

फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति निषेधात्मक और विधानात्मक रूप में परम लक्ष्य आत्मा को प्राप्त करती है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक दृष्टिकोण, सामाजिक, ऐतिहासिक, तर्कशास्त्रीय और गणितीय सत्ताओं एवं विश्वासों का निषेध किया जाता है। विधानात्मक रूप में इसका लक्ष्य अनुभवातीत आत्मा है। इसके अन्तर्गत शुद्ध आत्मा को अनावृत्त किया जाता है, जिससे समस्त जगत् की सत्ता एवं प्रामाणिकता है। हम कुछ काल के लिये जगत् के अभाव की कल्पना तो कर सकते हैं, किन्तु जगत् के इस सम्भाव्य अभाव से हमारी शुद्ध आत्मा समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि हमारी शुद्ध आत्मा ही इस जगत् के अभाव की आवश्यक शर्त है।[१३] इस सम्भाव्य अभाव से बाह्य जगत् का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। बाह्य जगत्,

जिसमें हम रहते हैं, भौतिक, मनोवैज्ञानिक आदि घटनाओं की पृष्ठभूमि है। अतः बाह्य जगत् का निषेध नहीं किया जा सकता है बल्कि प्रामाणिक एवं समस्त ज्ञान के आधार को प्राप्त करने के लिए इसका कोष्ठीकरण किया जाता है, अर्थात् जगत् का आधार खोजते हैं।[१४]

प्रश्न उठता है कि क्या भौतिक वस्तुओं, प्रत्ययों, तत्त्वों का वैचारिक रूप से निषेध सम्भव है? क्या यह विधि व्यावहारिक रूप से अपनायी जा सकती है? इस बात को स्वयं हुसर्ल स्वीकार करते हैं। हुसर्ल के अनुसार, यह विधि पाश्चात्य दर्शन एवं वैज्ञानिक जगत् से परे दुर्बोध और सहज बोधगम्य नहीं है, लेकिन अभ्यास के द्वारा इसे अपनाया जा सकता है।[१५] अतः, फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति विच्छेद और स्थगन के द्वारा समस्त पूर्वाग्रहों, विश्वासों, पूर्व मान्यताओं से पृथक् होकर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष रूप से ज्ञाता एवं ज्ञान-प्रक्रिया की सूक्ष्म विवेचना करती है। इसीलिए यह एक सफल दार्शनिक विधि के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

दर्शन विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झाँसी (उ. प्र)

– राधाधर शर्मा

टिप्पणियाँ

१. ए. हुसर्ल, फिलॉसॉफी अॅज ए रिगरस सायन्स, न्यूयार्क, हार्पर टॉर्चबुक, १९६५, पृ. १२१
२. ए. हुसर्ल, दी आयडिया ऑफ फेनॉमेनॉलॉजी, मार्टिनस निजोफ, द हेग १९६४, पृ. ४२१
३. मार्विन फार्बर, दि फाउण्डेशन ऑफ फेनॉमेनॉलॉजी, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९४३, पृ. ७८१
४. ए. हुसर्ल, कार्टिशियन मेडिटेशन्स, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६०, पृ. ११५
५. ए. हुसर्ल, पॅरिस लेक्चर्स, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६७, पृ. ९१
६. मारिस नार्टसन, ऐसेज इन् फेनॉमेनॉलॉजी, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६६, पृ. ११

७. डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना (सं.) समकालीन पाश्चात्य दर्शन में " फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद " लेख, उ. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, १९५१

८. बारलिंगे एण्ड राजेन्द्र प्रसाद (सं.), इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वाटर्ली में " फेनॉमेनॉलॉजिकल फिलॉसफी एण्ड मैथड " लेख खण्ड ११ अंक १, जनवरी १९८४

९. ए हुसर्ल, दी आइडियाज् प्रथम खण्ड, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९५० पृ. १६१

१०. ए. हुसर्ल, दी आइडियाज्, तृतीय खण्ड, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९५४ पृ. ६५१ ।

११. एच. स्पीगेलबेर्ग, फेनॉमेनॉलॉजिकल मुवमेण्ट, खण्ड १ मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६५, पृ. १३० ।

१२. ए. हुसर्ल, दि आयडियाज्, द्वितीय खण्ड, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९५२ पृ. ३२८

१३. वहीं, पृ. ३३२

१४. एच. स्पीगेलबेर्ग, फेनॉमेनॉलॉजिकल मुवमेण्ट, खण्ड १, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६५, पृ. १४०

१५. ए. डुसर्ल, पॅरिस लेक्चर्स, मार्टिनस निजोफ, द हेग, १९६७, पृ. १४१

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (४)

अभावीय प्रतियोगिता

पिछले लेख में यह दिखाया गया था कि प्रतियोगिता दो प्रकार की होती है : सांसर्गिक प्रतियोगिता एवं अभावीय प्रतियोगिता । इनमें से सांसर्गिक प्रतियोगिता की चर्चा पिछले लेख में प्रस्तुत की । अब इस लेख में अभावीय प्रतियोगिता के कुछ पहलू प्रस्तुत करेंगे ।

सम्बन्ध के समान ही अभाव का एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी होता है । जो अभाव जिसका विरोधी होता है, वह उसका अभाव कहा जाता है, जैसे घट का अभाव, मनुष्य का अभाव इत्यादि । जिस रूप से जिसके सम्बन्धी के रूप में अभाव प्रतीत होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है । "यस्य अभाव: स (तस्य अभावस्य) प्रतियोगी" । जहाँ पर घट का अभाव होता है वहाँ घट नहीं रहता है । इसलिए घटाभाव घट का विरोधी होता है । चूंकि यह अभाव घट का होता है इसलिए घट इसका प्रतियोगी होता है, जैसे मनुष्याभाव का मनुष्य प्रतियोगी होता है । जहाँ अभाव रहता है वह उस अभाव का अनुयोगी होता है, जैसे भूमि पर घट का अभाव होने पर भूमि उसका अनुयोगी कहलाती है । प्रतियोगी में वर्तमान शक्ति का नाम प्रतियोगिता तथा अनुयोगी में विद्यमान शक्ति का नाम अनुयोगिता है । इस प्रकार अभाव को रोकने वाली शक्ति का नाम अभावीय प्रतियोगिता है । पिछले लेख में कहा गया था कि प्रतियोगिन् शब्द के बाद अभावार्थक 'त्व' प्रत्यय से प्रतियोगित्व शब्द तथा 'तल्' प्रत्यय से प्रतियोगिता शब्द निष्पन्न होता है । जब अभाव के सन्दर्भ में प्रतियोगिता शब्द का विचार किया जाता है तब प्रतियोग शब्द का अर्थ विरोध लिया जाता है । "प्रतियोगो विरोध: । सोऽस्यास्तीति प्रतियोगी । तस्य भाव: प्रतियोगित्वमिति ।" उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर प्रतियोगित्व शब्द का अर्थ विरोधित्व यह निष्पन्न होता है । परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतियोगिता शब्द का सामान्य अर्थ विरोधित्व

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

होने पर भी न्याय में अभाव की विरोधिता के रूप में ही इसका प्रयोग होता है, सामान्य विरोधिता के अर्थ में नहीं। इसीलिए नव्यन्याय में प्रतियोगिता तथा प्रतिबन्धकता में दो अलग पारिभाषिक पदार्थ या शक्तियाँ हैं।

प्रतियोगी शब्द का अर्थ अभाव-विरोधी के रूप में ग्रहण करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ विरोध किस प्रकार का है ? विरोध दो प्रकार का होता है : सहानवस्थान-लक्षण तथा वध्यघातकभाव-लक्षण। जैसे, जल और अग्नि में होनेवाला विरोध सहानवस्थानरूप (याने जो चीजें एकसाथ नहीं रह सकती उनमें होनेनाला विरोध) है, तथा अहि और नकुल में होनेवाला विरोध वध्यघातकभावरूप है। घट और उसके अभाव में होनेवाला विरोध वध्यघातकभावरूप विरोध नहीं है, क्योंकि न तो घट का अभाव घट का घातक है और न ही वध्य है। इसलिए यहाँ हमें सहानवस्थानरूप विरोध का ही विचार करना पड़ेगा।

अभाव और उसके प्रतियोगी में सहानवस्थानरूप विरोध मानने पर " गुण में गुण और कर्म से भिन्न में रहनेवाली सत्ता नहीं रहती " इस अभाव के प्रतियोगी ' गुण और कर्म से भिन्न में रहनेवाली सत्ता ' में उपर्युक्त विरोधित्व घटित नहीं होता है। ' विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते ' इस सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध सत्ता और विशिष्ट सत्ता में कोई भेद नहीं होता है। इसलिए विशिष्ट सत्ता के अभाव के आश्रय गुण में विशिष्ट सत्ता वर्तमान होने से विशिष्ट तथा उसके अभाव में सहानवस्थानरूप विरोध न होने से विशिष्ट सत्ता, विशिष्ट सत्ता के अभाव की प्रतियोगी नहीं मानी जायगी।

दूसरी बात यह है कि प्रतियोगिता को सहानवस्थानरूप विरोधिता के रूप में ग्रहण करने पर सभी अवृत्ति पदार्थ (कहीं पर भी आश्रित न होने वाले आकाश, काल, आत्मा आदि विभु पदार्थ) सभी प्रकार के अभावों के प्रतियोगी हो जायेंगे क्योंकि सभी प्रकार के अभावों के साथ उनका सहानवस्थान है। अगर इसे स्वीकार किया तो घटाभाव का प्रतियोगी गगन, या रूपाभाव का प्रतियोगी आत्मा इत्यादि हो जायेंगे।

इसी प्रकार घट-भेद के प्रतियोगी घट में तथा उसके भेद में सहानवस्थान-लक्षण विरोध नहीं है, क्योंकि घट-भेद के आश्रयभूत में घट विद्यमान रहता है। तथा समवायेन घटाभाव के आश्रय में कालिकेन घट विद्यमान रहता है। भेदस्थल में सहानवस्थान का अर्थ सहासम्बन्धित्व मान लेने पर तथा वृत्तिता को सम्बन्ध से नियन्त्रित करने पर उपर्युक्त दोषों का समाधान होने पर भी अनाश्रित पदार्थों में सभी अभावों की प्रतियोगिता की आपत्ति का समाधान नहीं होता है।

आचार्य गंगेश[१] ने भी सहानवस्थान–रूप विरोधिता को प्रतियोगिता के रूप में स्वीकार करने का विरोध किया है। उनके मतानुसार गोत्व और अश्वत्व के समान सहानवस्थानरूप विरोधित्वं प्रतियोगिता का अर्थ नहीं है। अश्वत्व और गोत्व में सहानवस्थान होने पर भी उनमें प्रतियोगी-अनुयोगी-भाव नहीं माना जाता। तथा अन्योन्याभाव के प्रतियोगी में भी वह नहीं है। इसलिए उनके मतानुसार अधिकरण और अभाव का जैसे स्वरूप सम्बन्ध है वैसे ही प्रतियोगिता और अनुयोगिता भी विशेष प्रकार के स्वरूप सम्बन्ध हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

इस मत में प्रतियोगिता स्वरूप-सम्बन्ध-रूप मानने पर प्रतियोगी और प्रतियोगिता में जो आधार - आधेय-भाव ज्ञात होता है उसकी संगति न लगने से तथा प्रतियोगिता के स्वरूप का निर्वचन अशक्यप्राय होने से उसे स्वतन्त्र पारिभाषिक पदार्थ मानना ही उचित प्रतीत होता है।

न्याय मत में अभाव (अ) प्रतियोगि समान–अधिकरण तथा (ब) प्रतियोगि व्यधिकरण इन दो मुख्य प्रकार का होता है।[२] प्रतियोगि समानाधिकरण अभाव में सहावस्थान-लक्षण विरोध सम्भव ही नहीं है। जैसे, कपिसंयोगाभाव को नैयायिक प्रतियोगि समानाधिकरण मानते हैं। एक ही वृक्ष में कपि का संयोग तथा कपि-संयोग का अभाव दोनों ही रहते हैं। अतः उनमें सह-अवस्थान है। इसलिए प्रतियोगी का अर्थ उपर्युक्त प्रकार का विरोध मानना उचित नहीं है।

कुछ लोग प्रतिकूल सम्बन्ध का होना ही प्रतियोगिता है[३] ऐसा स्वीकार करते हैं। जैसे, घट के अभाव का घट के साथ होनेवाला सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध है। उक्त सम्बन्ध का प्रतिकूल सम्बन्ध संयोग है। वह घट के साथ होने से घट के अभाव का प्रतियोगी कहलाता है। यहाँ सम्बन्ध में प्रतिकूलता अभाव के सन्दर्भ में है जो कि सहानवस्थान लक्षण विरोध के रूप में जाननी चाहिए। सम्बन्ध का होना सांसर्गिक प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभीष्ट है। प्रतिकूल सम्बन्ध की सांसर्गिक प्रतियोगिता घट में होने से घट में अभावीय प्रतियोगिता रहती है ऐसा स्वीकार किया जाता है।

परन्तु यह मत भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व का अभाव गुण में है' इस स्थल में समवाय जो द्रव्यत्व का है वही गुणत्व और कर्मत्व का भी है। द्रव्यत्वाभाव के आश्रय गुण में वही समवाय विद्यमान होने से वह समवाय सम्बन्ध द्रव्यत्वाभाव के सम्बन्ध का प्रतिकूल सम्बन्ध है ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रकार द्रव्यत्व प्रतियोगिक समवाय द्रव्यत्वाभाव

का प्रतिकूल न होने से द्रव्यत्व में द्रव्यत्वाभाव की उक्त प्रतियोगिता नहीं रहेगी।

दूसरी बात यह है कि समवाय सम्बन्ध से गगनाभाव अथवा संयोग सम्बन्ध से गुण का अभाव, जोकि केवलान्वयि अभाव माने जाते हैं, उनमें कोई भी सम्बन्ध प्रतिकूल सम्बन्ध न होने से प्रतिकूल सम्बन्ध तथा उससे प्रदर्शित सांसर्गिक प्रतियोगित्व से उस सम्बन्ध का होना अप्रसिद्ध होने से उक्त अभाव की प्रतियोगिता गगन आदि में सिद्ध नहीं होगी।

यद्यपि यहाँ की प्रतिकूलता सहानवस्थानलक्षण विरोध के रूप में न मान कर उस ज्ञान की प्रतिबन्धकता को नियमित करनेवाली प्रकारता को नियन्त्रित करने वाले सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया तो भी गगन में उक्त प्रतिकूल सम्बन्ध-स्वरूप प्रतियोगिता की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार के अनेक दोष इस मत में सम्भावित हैं।

प्रतियोगिता का क्या स्वरूप है इसके विवेचन के पूर्व यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतियोगिता नामक पदार्थ को मानने की आवश्यकता ही क्या है? घटाभाव-बुद्धि को नैयायिक विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि बुद्धि मानते हैं। अर्थात्, इसमें घटत्व से युक्त घट का वैशिष्ट्य (आश्रितत्व) अभाव में ज्ञात होता है। अभाव-बुद्धि चूंकि विशिष्टवैशिष्ट्यवाली बुद्धि है अतः इसे विशेषणविशेष्य और उनके बीच होनेवाले सम्बन्ध विषयक होना चाहिये, क्योंकि यह संयोग सम्बन्ध से घट भूमि पर है इस प्रकार की एक विशिष्ट बुद्धि के समान है। संयोग सम्बन्ध से घट भूमि पर है इस बुद्धि के विषय घट, भूमि तथा उनमें होनेवाला संयोग ये तीनों हैं। 'घटाभाव' इस बुद्धि के भी उसी प्रकार तीन विषय होने चाहिए—विशेषण, विशेष्य और उनमें होनेवाला सम्बन्ध। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय के मतानुसार हरेक ज्ञान में प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता इन तीनों की प्रतीति होनी चाहिए।) यहाँ घट विशेषण है, अभाव विशेष्य है। लेकिन उनके बीच में होनेवाला सम्बन्ध क्या है? यही प्रतियोगिता सम्बन्ध है, जो सभी तथाकथित प्रचलित सम्बन्धों से भिन्न है। नैयायिक मानते हैं कि अभाव का प्रत्यय विशिष्ट वैशिष्ट्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।[४] किसी भी अभाव का ज्ञान प्रतियोगी से विशेषित होनेवाले अभाव का ज्ञान है। इस प्रकार अभाव तथा उसके प्रतियोगी में विशेष्य-विशेषण-भाव होने से उसका नियामक एक सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। इसे प्रतियोगिता अथवा प्रतियोगिता निरूपकत्व या प्रतियोगिताकत्व कह सकते हैं। क्योंकि प्रतियोगिता और अभाव के बीच में निरूपक-निरूप्य-भाव है।

अभाव निरूपक होता है, तथा प्रतियोगिता अभाव से निरूप्य है तथा विशिष्ट शर्तों की पूर्तता होने पर निरूपित होती है।

यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि घटाभाव बुद्धि को विशिष्ट वैशिष्टचावगाहि बुद्धि के रूप में क्यों माना जाय? इसके बजाय उसे विशेष्य का विशेषण, और यहां भी दूसरा विशेषण (विशेष्ये विशेषणं तथापि विशेषणान्तरम्।) इस रूप में ही क्यों न स्वीकार किया जाय? अर्थात्, जब घटाभाव प्रतीत होता है तो पहले अभाव, उसमें विशेषण के रूप में घट तथा उसमें विशेषणान्तर के रूप में घटत्व प्रतीत होता है ऐसा मानने पर विशिष्टबुद्धि का नियमन करने वाले 'प्रतियोगिता' नामक स्वतन्त्र सम्बन्ध की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। इसमें कल्पना-लाघव है। परन्तु नैयायिक मानते हैं कि 'घटवद्भूतलम्' आदि प्रतीति का विश्लेषण तो उपर्युक्त पद्धति से कदाचित् सम्भव है। तथापि अभाव की प्रतीति के विश्लेषण को उपर्युक्त पद्धति लागू नहीं की जा सकती। अभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष विशेष्य, विशेषण और विशेषणान्तर इस क्रम से सम्भव नहीं है।[५] क्योंकि अभाव-बुद्धि प्रतियोगि-बुद्धि-सापेक्ष है। प्रतियोगी को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से अभाव का प्रत्यक्ष कहीं भी अनुभवसिद्ध नहीं है। इसलिये कोई नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष को विशेष्य का विशेषण इस रूप में स्वीकार नहीं करता है।

प्रतियोगिता की आवश्यकता को इस आधार पर स्वीकार करने के बाद उसके स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। नैयायिक जो सात पदार्थ स्वीकार करते हैं उनमें इसका समावेश होता है अथवा नहीं? यदि नहीं, तो फिर वह कौनसा पदार्थ है? इस प्रकार के इसके सम्बन्ध में नैयायिकों में पर्याप्त मतभेद हैं।

कुछ नैयायिक मानते हैं कि अभाव की प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध ही है।[६] तथापि यदि यह स्वरूप है तो किसका स्वरूप है ऐसा एक प्रश्न खड़ा हो जाता है। नैयायिकों का एक समुदाय मानता है[७] कि प्रतियोगिता कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, अपितु प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक (प्रतियोगिता को नियमित करने वाला तत्त्व) का ही स्वरूप है। अभाव को प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक रूप मानने पर इसे अतिरिक्त पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस अभाव का प्रतियोगी जिस पदार्थ के अन्तर्गत आता है, अथवा प्रतियोगिता का अवच्छेदक जिस पदार्थ में गिना जाता है वही प्रतियोगिता है। उदाहरण के लिये घटाभाव का प्रतियोगी घट एक द्रव्य होने से वही घट ही उक्त प्रतियोगिता है, या प्रतियोगितावच्छेदक-रूप में मानने की स्थिति में घटत्व ही प्रतियोगिता का

स्वरूप है, चूँकि घटत्व घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक या नियामक है और यह सप्त पदार्थान्तर्गत सामान्य (जाति) पदार्थ है। इस प्रकार प्रतियोगिता का इस मतानुसार सप्त पदार्थान्तिर्गत अन्तर्भाव हो जाने के कारण वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

परन्तु दूसरे नैयायिकों को इस सिद्धान्त पर आक्षेप है। उनका कहना है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगी-रूप मानने पर सामान्याभाव और विशेषाभाव में भेद करना कठिन हो जायगा। जैसे, घट का अभाव यह घट-मात्र का (याने हरेक घट का) अभाव है, तथा नील घट का अभाव यह एक विशेष (प्रकार के) घट का अभाव है। दोनों ही अभावों की प्रतियोगिता प्रतियोगी-रूप होने पर नील घट रूप प्रतियोगी घटरूप प्रतियोगी से भिन्न न होने से घटाभाव और नील घटाभाव में होनेवाला भेद समझाया नहीं जा सकेगा, क्योंकि नील घट भी घट ही है।

दूसरी बात यह है कि यदि घटाभाव की प्रतियोगिता को घटस्वरूप मान लिया जाय तो घट घटाभाव की प्रतियोगितावान् है का अर्थ होगा घट घटवान् है, जो कि अनुभवविरुद्ध है। उसी प्रकार प्रतियोगिता को प्रतियोगितावच्छेदक (घटत्व) के रूप में मानना भी उसी प्रकार अनुभव-विरुद्ध होगा। क्योंकि द्वितीय सिद्धान्त में उपर्युक्त प्रतीति का अर्थ होगा 'घट अभाव घट है' जो अस्वीकार्य है।

नैयायिकों[९] का एक सम्प्रदाय यह भी मानता है कि प्रतियोगिता केवल प्रतियोगी-रूप न हो कर प्रतियोगी तथा अभाव इन दोनों के रूप है। जैसे, घटाभाव की प्रतियोगिता घटरूप भी है और घटाभाव रूप भी है। इस प्रकार प्रतियोगिता प्रतियोगी रूप तथा अभाव रूप मानने पर विशेषाभाव और सामान्याभाव की एकता की आपत्ति भी नहीं होती है। प्रतियोगी-रूप प्रतियोगिता के एक होने पर भी नीलघटाभाव और घटाभाव की भिन्नता के कारण उक्त अभावों में भेद हो जाता है, क्योंकि अभाव की भिन्नता का आधार प्रतियोगिता की भिन्नता ही है प्रतियोगी की भिन्नता नहीं। नीलघटाभाव तथा घटाभाव में प्रतियोगी की भिन्नता नहीं है।

प्रतियोगिता को अभाव-मात्र स्वरूप भी नहीं मान सकते। क्योंकि समनियत अभावों[१०] (एक ही स्थान में रहनेवाले अभावों) को एक मानने पर तद्रूप के अभाव की प्रतियोगिता और तद्रस के अभाव की प्रतियोगिताओं में कोई अन्तर होगा। अतः उन्हें उभयरूप मानने पर उपर्युक्त अभावों की प्रतीतियों में भेद किया जा सकेगा।

परन्तु इस मत में एक गम्भीर दोष है। उदाहरण के रूप में सत्तावान् का अभाव या जातिमान् का अभाव को ही लें। यदि प्रतियोगिता प्रतियोगी और उसका अभाव दोनों ही है तो वह प्रतियोगिता द्रव्य में कैसे रहेगी, क्योंकि सत्तावान् गुण या कर्म का अभाव द्रव्य में नहीं रहता है। इसलिये प्रतियोगी और उसका अभाव इस उभय स्वरूप की प्रतियोगिता द्रव्य में नहीं रहेगी।

उदयनाचार्य[११] ने प्रतियोगिता को अभावाभाव के रूप में स्वीकार किया है। घटाभावाभाव ही घटाभाव की प्रतियोगिता है। इसी स्वरूप का समर्थन गंगेश तथा उनके रघुनाथ, मथुरानाथ प्रभृति अनुयायियों ने किया है।

परन्तु अभावाभाव को प्रतियोगिता मानने पर अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे, घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी घट है, परन्तु घटान्योन्याभावाभाव घट-स्वरूप न हो कर प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व-रूप होता है। इसलिये घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी घट नहीं होगा तथा घटत्व हो जायगा। इस प्रकार अव्याप्ति और अनुपपत्ति रूप दो दोष होते हैं। इस दोष के निवारण का प्रयास रघुनाथ ने किया है। उनका कथन है कि "अभावविरहात्मत्वम्" इस पद में आये 'विरह' शब्द का अर्थ अभाव नहीं है अपितु 'अज्ञान के विरोधी ज्ञान का विषय' यह अर्थ है। तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतियोगी का ज्ञान अन्योन्याभाव के ज्ञान का विरोध[१२] करता है। (यहाँ विरोध का तात्पर्य इतना ही है कि एक समय में ये दोनों एक साथ नहीं रहते हैं।) उस ज्ञान का विषय प्रतियोगी घट है और यही विषयत्व प्रतियोगिता पदार्थ है।

इस प्रकार विरह का परिष्कार करके प्रतियोगिता को अभावविरहात्मक मानने पर विरह पद के विशेष रूप से लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण करने पर लक्षणापत्ति तथा उक्त रूप से प्रतियोगिता मानने पर कायिक गौरव दोष भी उत्पन्न होता है। नवीन नैयायिक गगन को गगनाभावाभाव नहीं मानते क्योंकि गगन अनाश्रित पदार्थ है।[१३] इसलिये प्रतियोगिता को अतिरिक्त पारिभाषिक पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है, जैसे एकदेशियों ने प्रतिपादन किया है।

अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता विशिष्ट सम्बन्ध तथा विशिष्ट धर्म से नियमित होती है।[१४] एक स्थान में एक सम्बन्ध से वस्तु के रहने पर दूसरे सम्बन्ध से उसी वस्तु का अभाव उसी स्थान पर रहता है। जैसे, भूमि पर संयोग सम्बन्ध से रहनेवाले घट का अभाव समवाय सम्बन्ध से उसी भूमि पर रहता है। उसी प्रकार एक स्थान में एक रूप से रहने वाले को उसी स्थान में दूसरे रूप से अभाव रहता है। जैसे, श्वेत गो के आश्रय गो-शाला में गोत्वरूप से वर्तमान गो का रक्त-

गोत्वरूप से गोत्व और अश्वत्व इन दोनों रूपों से अभाव रहता है। गौ के रहने पर अश्व के न होने से गौ और अश्व दोनों का अभाव है। एक के रहने पर भी उभय का अभाव अवश्य रहता है। इस प्रकार से अभावों में सम्बन्धविशेष के कारण तथा धर्म (तात्त्विक रूप)–विशेष के कारण भिन्नता परिलक्षित होती है।

अभाव में प्रतीत होनेवाली इस प्रकार की भिन्नता का कारण प्रतियोगिता की भिन्नता मानी जाती है।[१५] अभाव की प्रतियोगिता किसी विशेष सम्बन्ध तथा किसी विशेष धर्म से नियमित होती है। उस सम्बन्ध को तथा उस धर्म को प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) माना जाता है। जैसे, जब भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अभाव प्रतीत होता है (क्योंकि घट भूतल पर संयोग सम्बन्ध से रहता है) तब घट के अभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व धर्म से नियमित होती है। उस प्रतियोगिता के दो नियामक हैं: एक, समवाय सम्बन्ध तथा दूसरा, घटत्व धर्म। समवाय सम्बन्ध से प्रतीत होनेवाले घटाभाव को न्याय की परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है: "समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावः।" अर्थात्, समवाय सम्बन्ध तथा घटत्वधर्म से नियमित होनेवाली प्रतियोगिता को संकेतित करनेवाला अभाव।

सम्बन्ध को इस प्रकार प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) मानने का क्या कारण है इसका विचार भी आवश्यक है। सामान्य रूप किसी भी वस्तु का अभाव कहीं पर नहीं है। नैयायिकों के मतानुसार उनके द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों (जो अनुभवगम्य हैं) में से किसी न किसी सम्बन्ध से कोई भी वस्तु सर्वत्र रहती है। कम-से-कम कालिक सम्बन्ध से अनित्य वस्तु सर्वत्र रहती है। अतः जब किसी वस्तु का अभाव हम कहते हैं तो किसी विशेष सम्बन्ध से वस्तु का अभाव ही हमें अभिप्रेत होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि हमारे अभाव प्रत्यय में अन्ततः सम्बन्ध प्रविष्ट होता है, जो कि अभाव की प्रतियोगिता को प्रभावित करता है। जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ नहीं रहती वही सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता को वहाँ नियमित करता है। इसलिये प्रतियोगिता का वह नियामक (अवच्छेदक) सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरण के लिये, "भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं" इस प्रत्यय में समवाय सम्बन्ध भूतल पर घटाभाव को दिखला कर उसकी प्रतियोगिता को प्रभावित करता है इसलिये घटाभाव की उक्त प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से नियमित मानी जाती है। समवाय सम्बन्ध ही उक्त प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध है।

सम्बन्ध के समान ही धर्म (तात्त्विक स्वरूप) भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। यदि धर्म को प्रतियोगिता का नियामक नहीं मानें तो घटाभाव, नीलघटाभाव और घट (तथा) गौ उभयाभाव आदि में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि इन तीनों अभावों का प्रतियोगी घट है। इसलिये प्रतियोगीभेद के आधार पर उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता है। इनमें होने वाले भेद का आधार इनकी प्रतियोगिताओं में होने वाला भेद है, और यह भेद भिन्न-भिन्न नियामकों से नियन्त्रित होता है। उक्त तीनों अभावों की प्रतियोगिताओं के नियामक भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। घटाभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व घटत्व है, नीलघटाभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व नीलत्वविशिष्ट घटत्व है, तथा घट (और) गौ उभयाभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व घटत्व तथा गोत्व यह उभयत्व है।

इस प्रकार अभावों में भेद सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिता को सम्बन्ध तथा धर्म (तत्त्व) से नियमित मानना आवश्यक है। अनुभवसिद्ध अभावों की भिन्नता की उपपत्ति प्रतियोगिताओं की भिन्नता के बिना नहीं हो सकती तथा प्रतियोगिताओं की भिन्नता उनके नियामक सम्बधों और धर्मों की भिन्नता के बिना स्थापित नहीं की जा सकती।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि अत्यन्ताभाव की ही प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित होती है, ध्वंसाभाव या प्रागभाव की नहीं [१६]। इसका कारण यह है कि वस्तु अन्य सम्बन्ध से अत्यन्ताभावकालीन हो सकती है, परन्तु वह किसी भी सम्बन्ध से ध्वंस या प्रागभाव–कालीन नहीं हो सकती। अतः ध्वंस या प्रागभाव के विषय में उनकी प्रतियोगिताओं को सम्बन्ध से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। चूंकि अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता हमेशा तादात्म्य सम्बन्ध से नियन्त्रित होती है इसलिये उसे भी किसी अन्य सम्बन्ध से नियमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जब हम प्रतियोगिता को किसी सम्बन्ध या धर्म से नियमित करते हैं तब वह उसका नियामक सम्बन्ध या धर्म होता है। उसका तात्पर्य यह होता है कि प्रतियोगी की उस सम्बन्ध या उस रूप से हमें सत्ता अभिप्रेत होती है तथा उस रूप या उस सम्बन्ध से प्रतियोगी की सत्ता न रहने पर उसका अभाव हमें प्रतीत होता है।

अभावीय प्रतियोगिता की चर्चा करने के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि हमने इस लेख में प्रस्तुत की। अब इसके आधार पर अगले लेख में अभावीय प्रतियोगिता के अन्यान्य पहलुओं की चर्चा करेंगे।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

— बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. प्रतियोगित्वं न विरोधित्वं सहानवस्थानलक्षणं गोत्वाश्वत्वयोरतथात्वात्, अन्योन्याभावप्रतियोगिन्यसत्वाच्च। किन्तु यथाधिकरणाभावयो: स्वरूपविशेष: सम्बधस्तथा प्रतियोगित्वमनुयोगित्वमपि। तत्त्वचिन्तामणि, व्याप्तिपरिच्छेदे पूर्वपक्ष:

२. विश्वनाथ न्यायपञ्चानन; अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्य:। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, अनुमानखण्डे.

३. झळकीकर, भीमाचार्य; न्यायकोश, पृ. ५३५

४, गदाधर; प्रतियोगिविशेषिताभावज्ञानं च विशिष्ट वैशिष्ट्यबोधमर्यादानातिशेते। व्युत्पत्तिवाद

५. वहीं; विशेषणमितिरीत्या न कश्चिदभ्युपैति।

६. जगदीश तर्कालंकार; प्रतियोगित्वं हि स्वरूपसम्बन्धविशेष:। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे

७. वहीं; अत्र वदन्ति–प्रतियोगिस्वरूप तदवच्छेदकस्वरूप यत्प्रतियोगित्वं तदपि कस्यचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वावच्छिन्नं, व्यवहारबलान्। सिद्धान्तलक्षणप्रकरणे

८. वहीं; तत्प्रतियोगिमात्र स्वरूपत्वे सामान्यभावविशेषाभावयोरविशेषापत्ते:। अवच्छेदकत्व निरुक्ति प्रकरणे

९, वहीं; स्वरूपसम्बन्धात्मिकाया: इति प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वे हेतु: तत्तदभावप्रतियोग्युभय स्वरूपाया: इति तदर्थ:। अवच्छेदकत्वनिरुक्ति प्रकरणे

१०. वहीं; समनियताभावैक्यमते ········· । व्यधिकरणप्रकरणे

११. उदयनाचार्य ; अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता । न्यायकुसुमाञ्जलिः तृतीयस्तबके

१२. जगदीश तर्कालंकार; विरोधित्वम्–एकदा एकदेशावृत्तित्वम् । जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे

१३. वहीं; नव्यमते गगनस्य स्वाभावविरहत्वे मानाभावाच्च । तत्रैव

१४. (अ) गदाधर; यादृश समभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यद्धर्मिणि येन स्वरूपेण यद्वत्वं प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणि तादृशसम्बन्धावच्छिन्न तदभावः प्रत्येतव्यः । व्युत्पत्तिवादे

(ब) जगदीश तर्कालंकार; यत्प्रतियोगित्वं तदपि ·· ·····केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽवच्छिन्नम् । जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे

१५. (अ) अभाववैलक्षण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्याधीनम् । व्याप्तिपंचक माथुरी गंगानिर्झरिणी व्याख्यायाम्

(आ) रामरुद्र; संयोगेन घटाभावात्समवायेन घटाभावस्य भेदः प्रतियोगिताभेदादेव समर्थनीयः, प्रतियोगिप्रतियोगितावच्छेदकयोः ऐक्यात् । रामरुद्री, ईश्वरानुमानप्रकरणे

१६. (अ) वहीं ; समवायेन घटाधिकरणे संयोगेन घटो नास्ति संयोगेन घटाधिकरणे समवायेन घटो नास्ति इति प्रतीत्या संयोग-समवाय-सम्वन्धावच्छिन्न घटाभावोपपत्तये ह्यत्यन्ताभावप्रतियोगितायां सम्वन्धावच्छिन्नत्वमङ्गीक्रियते । ध्वंसे तादृशयुक्त्यसम्भवेन संसर्गविच्छिन्न प्रतियोगिकत्वमप्रमाकिणमेवेतिभावः । रामरुद्री, मङ्गलवादे

(आ) वहीं ; एवमपि ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगित्वस्य सम्बन्धावच्छिन्नत्वमते तयोरसंग्रहापातादिति । तत्रैव, अभावनिरूपणे

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

– १ –

रणजीत (डॉ); झुलसा हुआ रक्तकमल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद – १; मूल्य – २५ रु. ।

प्रतिश्रुत पीढ़ी के प्रगतिशील रचनाकार डॉ. रणजीत सोलह वर्षों के दीर्घ अंतराल के बाद नया कविता-संग्रह लेकर उपस्थित हुए हैं, १९८६ में। यों अपनी कृतियों के माध्यम से वे अपनी मानवतावादी रुझान के लिए अपरिचित और अचीन्हे नहीं हैं, किंतु प्रस्तुत संग्रह में उनकी यह रुझान कुछ अधिक उभरकर इसलिए सामने आती है कि उसके तंतु कहीं गहरे में उनके मोह-भंग के साथ जुड़े हैं। संग्रह की कविताओं और उसके प्राक्कथन के माध्यम से वे रचनाकार के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ आलोचना की स्वतंत्रता की अनिवार्यता के पक्ष में अपनी आवाज उठाते हुए किसी भी प्रबुद्ध और मानवीय आदर्शों से प्रतिबद्ध राजसत्ता में इन दोनों मानवीय मूल्यों के प्रति सहनशीलता की आवश्यकता पर बल देते हैं। मानवतावादी की अपेक्षा वे अपने आपको 'साम्यवादी कवि' कहते हैं और चूंकि रचनाकार की प्रगतिशीलता के लिए किसी साम्यवादी दल का सदस्य, उसका अंध-समर्थक या मार्क्सवादी होना जरूरी नहीं मानते, अतएव सोवियत रूस की यात्रा करके वहां वे साम्यवाद की जो विकृतियाँ और 'अनुदार अफसरशाही' पाते हैं उनके विरुद्ध सहज ही अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। स्वाभाविक है कि एक प्रतिबद्ध रचनाकार के नाते ऐसा करके वे एक गहरी छटपटाहट और तीव्र आत्मसंघर्ष के दौर से गुजरते हैं और आत्म-निर्वासन का खतरा उठाते हुए दर्द और क्रोध से कसमसा उठते हैं। सोवियत रूस और उसके साम्यवादी आदर्शों का ही प्रतीक है 'रक्त कमल'। 'रक्त' जैसे केवल लाल रंग के लिए ही प्रयुक्त नहीं है, बल्कि उससे जैसे चू पडने वाले खून का भी संकेत उभरता है और एक साथ मिलकर 'रक्तकमल' आहत हृदय का

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ८, अंक ४, सितम्बर, १९८७

भी बोध कराता जान पड़ता है। भयावह यंत्रणा, विसंगति और अनाकर्षकता का द्योतक है 'झुलसा हुआ'। प्रतीकात्मक विशिष्टता जैसी संग्रह के नाम दीख पड़ती है, वैसी ही वह कविताओं में भी निहित है।

रणजीत ने इन कविताओं को 'राजनीतिक कविता' की संज्ञा दी है। यों प्रधानतः इनका सरोकार रूसी व्यवस्था से हैं, परंतु इनका विशाल दृश्यपट चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, वियतनाम, बाँगला देश की घटनाओं को समेटता हुआ भारतीय जनतंत्र की शासन-व्यवस्था तक को अपने में समेटता चलता है। लेखक एक विश्व नागरिक की हैसियत से विश्व-मंच पर घटित होनेवाली उन (दुर्) घटनाओं और घोषित शासनादर्शों तथा वास्तविक विरुद्ध आचरण से उत्पन्न विसंगतियों के प्रति अपनी गहरी वितृष्णा, क्षोभ और छटपटाहट को व्यक्त करता है –उन स्थितियों के विरुद्ध आक्रोश और व्यंग्य की पैनी धार वाली भाषा का प्रयोग करता; इसलिए नहीं कि वह किसी एक (राज) तंत्र या नीति के पक्ष और किसी दूसरे के विपक्ष में लड़ना चाहता है, बल्कि वस्तुतः इसलिए कि वह इन सभी राजतंत्रों और राजनीतिक स्थितियों के द्वारा, उनके अपने मूलादर्शों के विरुद्ध, मनुष्य की सत्ता– उसकी स्वतंत्रता का हनन होते देखकर विक्षुब्ध है और, कहीं भी हो, मानवता की रक्षा के उपाय-साधन को सर्वोपरि मान्यता देता है। सत्ता-विशेष के प्रति उसका आग्रह नहीं है – "क्योंकि सब सत्ताएँ घृणास्पद हैं। पर जो जितनी अधिक प्रभुत्व सम्पन्न है। वह उतनी ही ज्यादा नफरत के काबिल है।" (समानुपात)।

क्रांति के रूसी तौर-तरीकों के बीच उसे 'मंद दृष्टि राजनीति की ओछी जरूरतों के लिए 'अपने ही सबसे साहसी संदेशवाहकों की। लाशों पर कीचड़ उछालते हुए' राजनीतिज्ञों की नीतियाँ बैचेन और परेशान करती हैं और वह क्रांति को 'एक सद्यः प्रसूता भूखी कुतिया' (कब तक) के रूप में देखने लगता है। यह इस तथाकथित क्रांति के उस 'मत्स्य-न्याय' को ही नहीं पहचानता जिसके अंतर्गत पचास वर्ष की प्रौढ़ा क्रांति एक आठ महीने के मायूस से सुधार की हड़पने का प्रयत्न करती है और उस प्रयत्न के पीछे बहाना रहता है दूसरे की रक्षा का। आतंक का सहारा लेकर दूसरों की तनिक सी स्वतंत्रता को भी किसी न किसी बहाने हड़पने के प्रयासों को देखकर वह 'साम्यवाद का खूँखार चेहरा' या 'चीते की खूँरबार मूँछें' याद कर उठता है और उनके प्रति अपनी घृणा और निरादर को 'गलाज़त भरा है उनका स्पर्श' तथा 'स्तालिन की सूत मूँछों की जुगुप्साजनक चुभन' की तिरस्कारपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करता है। दूसरे की रक्षा के नाम पर किये गये अतिक्रमण को वह किसी मित्र की पत्नी पर किये गये

बलात्कार जैसा अनुत्तरदायित्वपूर्ण और घृणास्पद मानता है। और इस ' मित्रता-पूर्ण बलात्कार ' का बहाना है : " और तुम्हारी पत्नी की इज्ज़त / किसी ग़ैर के हाथों लुटने से बच गयी । " रणजीत चूँकि " अर्थ और वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त बहुत सी सच्चाइयाँ हैं " कहकर जीवन-व्यापार को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हैं अतएव वे जहाँ अस्तित्व रक्षा के मूल साधन के रूप में ' गेहूँ ' को महत्त्व देते हैं वहीं उनके लिए सौन्दर्य, उदारता और कोमलता भी उपेक्षणीय नहीं हैं और वे ' गेहूँ ' की तुलना में ' गुलाब ' को यत्किंचित् भी जगह न देने की नीति के कायल नहीं हैं। मानवता के विकास में वे सहज स्नेह, सद्भाव और सहानुभूति के पक्षधर हैं, जबकि ' प्रगतिशील मानवता के विभाजित सूत्रधार ' उन्हें ' हमदर्दी की मासूम-सी पंडुकी से फुटबाल की तरह ' खेलते दिखाई देते हैं । ' आम्रकुंजों में उभरता हुआ वियतनाम ' उनके सामने पिंजरे में बंद ' बया ' की दर्द भरी कहानी कह जाता है ।

' मठ से लौटा हुआ यात्री ' उनकी लम्बी कविता है जो उनकी रूस-यात्रा के बाद वहाँ के विषय में उनके मोहभंग का अहसास सामने लाती है और रूस को मठ की प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत करके मठाधिपतियों के अत्याचार - अनाचार से सुपरिचित भारतीय मानस को सहज ही आंदोलित कर देती है । सोल्झेनित्सिन तथा सखारोव के प्रति किये गये व्यवहार के प्रति उनकी क्षुब्धता आन्तरिक है और मानवीयता के नाते से है ।

अकर्मण्यता और अत्याचार के विरुद्ध रणजीत एक असामान्य लड़ाई लड़ते हैं और इस तरह एक वाम पक्ष की निरंतरता को स्वीकार करके चलते हैं । जहाँ कहीं भी उन्हें दमन या शोषण दिखायी देता है, मानवीयता के विरुद्ध आचरण की आहट मिलती है, वे उसी पर टूट पड़ते हैं; अतएव उनकी चिन्ता एक मानवीय चिन्ता है, किसी व्यक्ति या देश-विशेष की चिन्ता नहीं है । यही कारण है कि वे घर और बाहर का फ़र्क न करके समान रूप से अपनी आश्वस्ति या क्षुब्धता को व्यक्त करते हैं। बाँगला देश का संघर्ष हो या भारत का राजनीतिक दृश्य-पट, रणजीत अपनी आन्तरिक निष्ठा में अत्याचार के विरुद्ध हैं । ' बाँगला देश ' तथा ' एक बच्चे के जन्म पर ' कविताएँ यदि बँगला देश में किये गये याह्या खाँ के क्रूर दमन और अनाचार की गाथा और भारत की उसमें एक नेकदिल डॉक्टर की भूमिका का बखान करती और लेखक के रोष और हर्ष को व्यक्त करती हैं तो ' चुप्पी,' ' दो आँखें ', ' प्रार्थना ', ' बलात्कार अभी नहीं हुआ ', ' जबर काट ', ' व्यवस्था बनाये रखने के लिए ', और ' सिरफिरों का साथ ' आदि कविताएँ भारत में आपातकाल, राजनीति क्षेत्र में फैली दहशत, बोधगया के भूमिहीन किसानों का संघर्ष, बागपत और भागलपुर के पुलिस द्वारा किये गये

अत्याचार तथा छत्तीसगढ़ के बंधुआ और भूमिहीन किसान-मजदूरों की दुर्दशा और शासन-तंत्र की असफलता के विरुद्ध उन्हें चीखने को मजबूर करती है। चुप्पी, चापलूसी और जेल के विकल्प में से चुप्पी या जेल को चुनना पसंद करते हैं। उनका अनुभव कहता है, "मैं कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैली हुई / एक लम्बी चौड़ी जेल में बंद हूँ।" इसलिए अलग से जेल का विकल्प न चुनकर अन्ततः चुप्पी चुनते हैं, क्योंकि "सब कुछ उनके हाथ में है / सत्य भी और न्याय भी।" किसी समय 'अज्ञेय' ने भी 'मौन की दहाड़' की शक्ति को ही धार्य माना था और 'विपरीत चिंतन' करते हुए रणजीत भी अनुभव करते हैं कि "मैं सबकुछ उलट-पलट देना चाहता हूँ" पर अन्ततः चुप्पी को ही सकारते हैं। पर चुप्पी उनका – एक संघर्षशील व्यक्ति का – गुण-धर्म नहीं है, इसीलिए ये कविताएँ। सुचिन्तित आधारभूमि के कारण ये आक्रोशी कविता के बँधे मुहावरे से अलग हैं और आवेग और ओजस्विता को सहेज कर भी विवेक का त्याग नहीं करतीं।

– आनंदप्रकाश दीक्षित

'कलापी'
प्लॉट क्र. २५३७
पुलिस परिवहन कर्मशाला के पीछे
वाणेर रोड
पुणे – ४११००७

– २ –

हरिप्रसाद मिश्र; सुपर्णा, संगम प्रकाशन, १३८, विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद ३, पृ. १६ + ९६; सजिल्द; मूल्य–२५ रु.

'सुपर्णा' श्री मिश्र का गीत-संग्रह है। साफ़-सुथरे, ललित गति और संस्कृत पदविन्यास वाले इन गीतों में काव्य का सौष्ठव भी है और इनकी भावभूमि भी कुछ व्यापक है। अन्तर्हृदय की एकान्त रागिनी के साथ इनमें बहिर्जगत् के प्रति आकुल-व्याकुल चिन्ता भी अभिव्यक्त हुई है। कवि की अन्तश्चेतना यदि अध्यात्म की ओर ऊर्ध्वमुखी होकर गतिमान् है तो उसी अध्यात्म से सहज विकास पाती हुई वह लोक, लोक-हृदय, श्रमयाजी, कर्मयोग, समता, वर्ग-भेदहीनता, यंत्र-जगत् की यंत्रणा, श्रमशोषण, धन-लिप्सा, अन्धविश्वास, विज्ञान के विनाशकारी रूप और गर्वोद्धत मानव जैसे वैषयिक धरातल का स्पर्श भी करती है और सबके बीच से पुनः मानवीय सद्गुणों और आत्म-परिष्कार की प्रतिष्ठा के लिए यत्नशील

होती है। करुणा का प्रसार, आनन्द की आराधना का लक्ष्य लिये कवि नूतन सर्जन में विश्वास प्रकट करता है और 'अभिनव सृजन' जड-दृष्टि का तिरस्कार करता हुआ क्रान्ति में शान्ति का उपहार खोजता हुआ 'उत्क्रान्ति गीत' गा उठता है। उसके चिन्तन में 'उभरे बिम्ब' जागतिक हीनताओं के वे दृश्य उपस्थित करते हैं जिनकी परिणति 'जलता गान' में होती है और वह जीवन को समरस्थल मानकर 'जीवन युद्ध' में कूद पड़ने का आवाहन करता है। 'आनंद की आराधना' वह 'स्नेहिल शान्ति-सुधा का साधन बनने के लिए करता है, सेवा का पतवार और प्यार लेकर वह जीवन-सागर में उतरता चाहता है। 'उजड़ता उद्यान' और उसमें हुए रक्तपात आदि के दृश्य को देखकर यद्यपि कभी-कभी उसका स्वर काँप उठता है और वह कहने लगता है "परवेश! अब नहीं उद्यान में तेरा ठिकाना।" तथापि उसके 'आत्मनिवेदन' का प्रमुख स्वर उसमें सृजन के पथ पर बढ़ने की लालसा और शक्ति जगाये रखता है, जिसके सहारे वह प्रण करता है।

"जीवन के सर्वस्व हेतु मैं अश्रु लिए अभिसार करूँगा,
क्षितिज तोड़कर अब अनंत में मिटने का अधिकार वरूँगा:
सहे नहीं जाते जीवन को खण्ड-खण्ड करने के श्लथ-कर।"

कवि मिश्र अगणित आविष्कारों से सारे भौतिक जगत् को बदला हुआ पाकर और भाव-जगत् में सूनेपन का प्लावन तथा जीवन की विवश निराशा देखकर व्यग्र भाव से अप्रतिहत 'मानस की धारा' की 'भासमान गति में' 'जीवन की नूतन कला' पाना चाहते हैं और 'दुर्दिन की काट गिरा कारा' के प्रार्थी हैं। वे 'शिव संकल्पों से जीवन की साधना-कला का सत्य खोलना' चाहते हैं और "नूतन मुक्ति, नूतन विजय, नव-शक्ति, शान्ति, आनंद अमल" की प्राप्ति में 'कला का सत्य' खोजते हैं।

मिश्र जी की अध्यात्म-चिन्ता उस अरूप के दर्शनों की रहस्यवादी चिन्ता भी अवश्य है जो रह-रहकर उनकी 'आकांक्षा' तथा 'किरण-कलश' जैसी कविताओं में व्यक्त हो जाती है, किन्तु उनका 'मनुष्य के प्रति' गहरा लगाव है और वे प्राय: करुणा, शक्ति, आत्मविश्वास, और अभेद की भावना जगाते हुए कर्ममय जगत् में साहसपूर्वक जीने का संदेश और आग्रह लिये चलते हैं। इसलिये वे 'दर्द के द्रव' में 'लोकहृदय की दर्दीली पुरवाई' के स्पर्श से हमें जगाना चाहते हैं, 'अस्थिपुंज को जला-जलाकर। आत्माहुति खेतों में देकर' अपनी तरुणाई गला-गलाकर यजन कर रहे श्रमयाजी के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए करुणा के निर्झर से लोक की अमराई सींचने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं।

प्रीतिमान् ‘ प्रभु से ’ इसीलिए प्रार्थना करते हैं कि स्वार्थलिप्त और दुर्नीति-मार्ग पर चलनेवाले मानव समाज को बचा सकता है तो वही “ जाति-पाँति, कुल-गात नहीं रखती है जिसकी रीति ।” वे संसार को अजेय नहीं मानते, ‘ यहां कर्म की जीत ’ को मानते हुए संसार की सारमयता और धर्मपक्ष के प्रति आसक्ति प्रकट करते और ‘ जीवन गीत ’ गाने का निमंत्रण देते हैं । इसी सदिच्छा और साहसी अभियान से प्रेरित हो वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह ‘ वीर अकेले ही बढ़ता चल ’ की पुकार लगाते हुए ‘ प्रयाणगीत ’ का सृजन करते हैं । उद्बोधन के लिए वे ‘ बोध गीत ’ गाते हैं और सुरासुर संग्राम में मानवीय सत्ता को विनष्ट होते तथा कुलिश निर्मित करने की होड़ में व्यग्र रहते देखकर वे ‘ अपना देश ’ खोजते हुए कलुष, कटुता और विष-दंशन को नष्ट करके जीवन को मधुर बनाने की देवताओं से ‘ याचना ’ करते हैं । मनुष्य के प्रति उनकी जैसी निष्ठा है प्रकृति के प्रति वैसी ही अनुरक्ति । ‘ परदे के पार ’, ‘ उषागीत ’, ‘ भूमा का वंदन,’ ‘ कर्मयोगी-‘ अभियानी वर्षा ’ उनकी ऐसी ही प्रकृति के प्रति अनुराग की गवाही देनेवाली कविताएँ हैं और साथ ही मेघ और वर्षा के माध्यम से समता और करुणा के प्रसार की आकांक्षा की भी वे पूर्ति करती हैं । जीवन-सौंदर्य और आत्मानन्द के दो कूलों के बीच बहती यह गीत-धारा गीता के निष्काम कर्मयोग और औपनिषदिक ज्ञान तत्त्व से परिष्कार पाती रसवती होकर बहती है । गेयता और मधुरता इन गीतों में गुंजन-स्वर भरते हैं । पर समकालीन काव्य की तुलना में इनका अन्तरंग भावुकतापूर्ण और कलेवर रहस्यवादी काव्य के समतुल्य है । मानव के प्रति अकृत्रिम सरोकार के बावजूद समकालीन कविता जैसी उदग्रता और गहरे ‘ इन्वाल्वमेंट ’ की जगह इन कविताओं का स्वभाव शान्त और इनकी भंगिमा प्रार्थनात्मक है । कवि, उपन्यासकार और निबन्धकार श्री मिश्र जी से हमें अभी बहुत आशाएँ हैं । बधाई ।

आनंदप्रकाश दीक्षित

— ३ -

जोपट भगवान दास; **भैंस संस्कृति**, अमिता प्रकाशन, १२-१-३३, सीताराम बाग, हैदराबाद; पृ. डिमाई ६८; मूल्य–२० रु. ।

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य का साहित्य कम है । कवि-सम्मेलनी आंकड़ों पर ही आँका जाय तो प्रभाहीन और प्रभावहीन भी है । कुछ दो-चार हस्ताक्षर हैं, जिनपर भरोसा किया जा सकता है । श्री भगवानदास जोपट उस क्षेत्र के मँजे हुए

खिलाड़ियों में नहीं हैं, मरुस्थल में नवांकुर के दर्शन की तरह अपनी उपस्थिति से उल्लसित और आश्वस्त करनेवाले नवोदित गद्य व्यंग्यकार हैं। उनकी प्रतिभा को परखकर ही आंध्र प्रदेश हिंदी अकादमी ने उन्हें प्रकाशनार्थ अनुदान देकर उनकी सहायता की है। अठारह व्यंग्य लेखों का संग्रह 'भैंस संस्कृति' उसी का परिणाम है।

व्यंग्य के लिए उसके लेखक में जिस सजगता, जीवन्तता, उद्देश्यपरकता और भाषिक पैनेपन की आवश्यकता होती है, श्री जोपट में वह यथेष्ट है। उनमें वह खुलापन है जो दूसरों को गुदगुदा भी सकता है और बाँधकर तिलमिला भी सकता है और अपनी लपेट में स्वयं उन्हें भी ले सकता है। उनमें वह नुंदापन भी है कि लक्ष्य पर चोट भी करे और मुछों में मुस्कुराने का अंदाज लिए गंभीरता का तिलस्य भी न टूटने दे। वे व्यंग्य करते हैं, हँसी के फव्वारे नहीं छोड़ते, और इस तरह कुशलतापूर्वक हल्के अंदाज को बनाये रखकर भी कथ्य को हीन नहीं बनने देते। मुहावरों का सहज और सावसर प्रयोग, विरोधाभास द्वारा स्थिति और परिवेश का रेखांकन, व्यवहृत शब्दावली की सहज या उदार स्वीकृति, शब्द-छल, यथार्थ जीवन से उठाई हुई परस्पर दूर या समीपवर्ती उपमाओं के माध्यम से कल्पना-विस्तार, आलंबन, की कमजोरियों की पकड़ और छद्म को निरावृत करने का भरपूर साहस; ये सब ऐसे सद्गुण हैं जो श्री जोपट के व्यंग्य को रूप-आकार देते और उसे प्रभावी सिद्ध करते हैं। डर है तो इतना ही कि कहीं वे चलते-चलते राजनीति या हास्य-व्यंग्य के लेखकों में से कुछ के पत्नीवादी अंदाज में ही न फँस जाँय। इनके रहते भी अभी तो उनके व्यंग्य का क्षेत्र इनसे आगे तक भी है और विश्वास पैदा करता है कि निकट भविष्य में वे अपने लिए साहित्य में अच्छी जगह बना लेंगे। प्रथम रचना के रूप में उनकी यह कृति महत् संभावना-पूर्ण है और समग्रतः पठनीय है। हम चाहते हैं कि पाठक उद्धरणों की बानगी की चाह में भटकने की अपेक्षा इसे पढ़े, वही नवोदित प्रतिभा का---और साहित्य का भी-सच्चा सत्कार होगा और लेखक को अधिकाधिक परिष्कार का अवसर देगा।

— आनंदप्रकाश दीक्षित

परामर्श (हिन्दी) : खण्ड ८ के योगदाता

अंक १ दिसम्बर : १९८६

गोरखनाथ मिश्र	तर्कीय सत्तात्मकता	१
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ	१३
नरेश प्रसाद तिवारी	'मूकज्जी' का मूकज्जी-दर्शन	२१
उर्मिला चतुर्वेदी	देवात्मा-दर्शन में आत्मा का स्वरूप	२९
प्रशान्त वेदालंकार	धर्म का सच्चा स्वरूप : साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का कोई स्थान नहीं	४०
प्रद्युम्नकुमार जैन	युद्ध, शान्ति और धर्म	५९
रघुवंश झा	नैतिकता : व्यक्तिगत एवं सामाजिक	६५
हरेन्द्र प्रसाद साह	धर्म में ज्ञानात्मक तत्त्व की आवश्यकता	७९
अञ्जनीकुमार सिंह	श्रीअरविन्द का पूर्णतावाद	८८

अंक २ : मार्च' १९८७

अखिलेश्वर प्रसाद दुबे	बौद्ध विचारणा में इहलोकवाद और परलोकवाद	१०९
जगदीश शर्मा	साहित्य का सरोकार	११५
ब्रजबिहारी निगम	कर्म, कर्तव्य एवं कर्मयोग	१२५
राज्यश्री अग्रवाल	भैषज्य-विज्ञान (फार्मेसी) और नैतिकता	१३४
धनराज चौधरी	समसामयिक कविता और वैज्ञानिक तेवर	१४१
वीरेन्द्र सिंह	विज्ञान-बोध और वैचारिकता	१५०
सोहनपाल सिंह आर्य	ईश्वर-मीमांसा के सम्बन्ध में आस्था, तथ्य और तर्क	१५९
सुरेद्र प्रसाद सिन्हा	नयी संस्कृति: एक टिप्पणी	१७५
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२)	१७८
महेश्वर प्रसाद चौरासिया	वैज्ञानिक प्रणाली, साम्य और साम्यानुमान	१८९
श्रीमती कमलाकुमारी	बौद्ध-धर्म में अनीश्वरवाद	२९२

अंक ३ : जून, १९८७

सुरेन्द्र वर्मा	गांधीजी का धर्म-दर्शन : ईश्वर की अवधारणा	२२१
मधुमती	निर्वाण की अवधारणा और सामाजिकता का प्रश्न	२३०
रामदास पाण्डेय 'गम्भीर'	कार्ल यास्पर्सीय गुप्तभाषा	२४३
राममूर्ति त्रिपाठी	रसबोध	२५२
छाया राय	मूल्य : एक पुनरावलोकन	२६०
गौरी मुकर्जी	चित्सुखाचार्य के मतानुसार तम की भावरूपता	२६९
मृत्युञ्जय उपाध्याय	ग्रामीण परिवेश और आज का साहित्य	२८२
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (३)	२८९

अंक ४ : सितम्बर, १९८७

राजेश कुमार सिंह	गांधी-दर्शन में सत्य की अवधारणा	३१३
नरेशप्रसाद तिवारी	क्या दयानन्द नास्तिक थे ?	३२५
गंगाप्रसाद डनसेना	वेद : संज्ञा और संख्या – एक जिज्ञासा	३३१
सुरेन्द्र सिंह नेगी	अस्तित्ववाद : एक मूल्यांकन	३३७
ज. आ. याज्ञिक	स्वामिनारायणीय विशिष्टाद्वैत का विशिष्ट रूप	३४४
उषा कुशवाहा	सांख्यकारिका एवं चरकसंहिता में निहित सांख्य-तत्त्व: एक परिशीलन	३५१
कृष्णा जैन	भेदाभेद विषयक अनेकान्त दर्शन का तुलनात्मक परिशीलन	३६२
लक्ष्मीकांत पाण्डेय	प्रस्थानत्रयी में निहित एकता	३७०
राधाधर शर्मा	एडमण्ड हुसर्ल की फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धती	३७९
बलिराम शुक्ल	नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (४)	३८५

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१४५. डॉ. प्रभाकर मिश्र
दर्शन विभाग
नवनालन्दा महाविहार
नालन्दा – ८०३११३
(बिहार)

१४६. डॉ. कमलाकर मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५

१४७. डॉ. ब्रिजकिशोर प्रसाद
प्रोफेसर्स कालोनी
रेड हाउस
गया (बिहार)

१४८, डॉ. हृदयनारायण मिश्र
दर्शन विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म. प्र.)

१४९. डॉ. दामोदर शास्त्री
मकान क्र. ४२
बेर सराय गांव
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सामने
नई दिल्ली – ११००२६

१५०. डॉ. अर्जुन मिश्र
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म. प्र.)